राष्ट्रीय प्रश्न पर 'प्रतिबद्ध' के सम्पादक सुखविन्दर का लेख:

मार्क्सवाद और राष्ट्रीय प्रश्न पर चिंतन के नाम पर बुण्डवादी राष्ट्रवाद, राष्ट्रीय कट्टरपंथ और त्रॉत्स्कीपंथ में पतन की त्रासद कहानी

- शिवानी

विषय-सूची

1. प्रस्तावना

2. राष्ट्रीय दमन के विषय में सुखविन्दर की समझदारी: राष्ट्रीय दमन की अवधारणा का वायवीयकरण (etherealization) और सांस्कृतिकीकरण (culturalization)

(i) कुछ प्रारम्भिक आधारभूत बिन्दु

(ii) 'प्रतिबद्ध' के राष्ट्रीय दमन की अवधारणा और मार्क्सवादी-लेनिनवादी-माओवादी अवधारणा

क. राष्ट्रीय दमन के बारे में सुखविन्दर बहके-बिखरे विचार: सार-संग्रहवादी मूर्खता की एक मिसाल

ऑस्ट्रिया में राष्ट्रीय दमन के विषय में सुखविन्दर के विचार: राजनीतिक व ऐतिहासिक अज्ञानता का उदाहरण

काउत्स्की के उद्धरणों की सुखविन्दर द्वारा की गयी ग़लत व्याख्या और शासक वर्गों के राष्ट्रीय चरित्र के निर्धारण का सवाल

ऑस्ट्रिया में किसी एक दमनकारी राष्ट्र के न होने के बारे में सुखविन्दर द्वारा पेश उद्धरण: कांट-छांट कर उद्धरण को पेश करने की सुखविन्दर की बौद्धिक बेईमानी का प्रातिनिधिक नमूना

ऑस्ट्रिया के बारे में स्तालिन के उद्धरण को समझ पाने में सुखविन्दर की अक्षमता

भूमि-प्रश्न और किसान-प्रश्न के बीच अन्तर के विषय में सुखविन्दर की पूर्ण अनभिज्ञता

राष्ट्रीय दमन में उपनिवेश/कब्ज़े (colonization/annexation) के स्थान को समझने में सुखविन्दर की अक्षमता

स्तालिन के उद्धरणों के साथ सुखविन्दर की ज़्यादती जारी है!

पोलैण्ड में बुर्जुआजी के दमित होने का प्रश्न

राष्ट्रीय दमन की विशिष्ट विशिष्टता (differentia specifica): बुर्जुआजी का दमन

दमित कौमों में बुर्जुआजी के दमित होने के तथ्य को ख़ारिज करने के लिए सुखविन्दर द्वारा पेश दो उद्धरणों का वास्तविक सन्दर्भ और अर्थ: सुखविन्दर की एकदम स्पष्ट बातों की भी ग़लत व्याख्या करने की अद्भुत क्षमता का एक उदाहरण

ख. पंजाब की स्थिति पर सुखविन्दर के कौमी दमन के सिद्धान्त को लागू करने से निकलने वाले विचित्र हास्यास्पद नतीजे

ग. राष्ट्रीय प्रश्न की अलग-अलग किस्में? सुखविन्दर की नयी खोज!

घ. पूंजीवाद के दौर में बहुराष्ट्रीय राज्यों की 'अनिवार्य नियति' के बारे में सुखविन्दर की थीसिस और स्तालिन के उद्धरण की दुर्व्याख्या

ड. सुखविन्दर की अवस्थिति: राष्ट्रीय दमन के विरुद्ध या राष्ट्रवादी?

(iii) तो फिर राष्ट्रीय दमन होता क्या है?

3. सुखविन्दर का त्रॉत्स्कीपंथ में पतन

सुखविन्दर द्वारा लेनिन के उद्धरणों की सन्दर्भों से कांट-छांट, उनकी दुर्व्याख्या और अपने हित-साधन के लिए की गयी बौद्धिक बेईमानी का मुज़ाहिरा

राष्ट्रीय दमन के ख़िलाफ़ दमित राष्ट्र के बुर्जुआ वर्ग की अवस्थिति और भूमिका के विषय में माओ के विचार

पोलैण्ड के प्रश्न पर सुखविन्दर की "बन्दरकुद्दियों" पर वापस आते हुए...

राष्ट्रीय मुक्ति के कार्यभार को समाजवादी क्रान्ति तक टालने का प्रस्ताव कौन दे रहा है?

फिलिस्तीन का राष्ट्रीय प्रश्न और वहां क्रान्ति की मंजिल: लेनिनवादी कार्यनीति का एक समकालीन सत्यापन और सुखविन्दर के त्रॉत्स्कीपंथी विचलन का सजीव खण्डन

4. भाषा और राष्ट्रीय दमन के सम्बन्ध के विषय में सुखविन्दर के विचार: मार्क्सवादी समझदारी से प्रस्थान और बुण्डवाद में संक्रमण

पंजाब में पंजाबी भाषा के साथ असमानतापूर्ण बर्ताव और अन्याय कौन कर रहा है और क्यों कर रहा है?

क्या अलग-अलग भाषाओं के स्कूलों की मांग करना लेनिनवादी अवस्थिति है?

तो इस प्रकार सुखविन्दर ने अपने झूठों से सोवियत संघ की भाषा नीति को ही पलट दिया!

भाषा, उपभाषा और बोली के सवाल पर सुखविन्दर का पैंतरा-पलट, दोहरे मानक और पंजाबी भाषाई विस्तारवादी दृष्टिकोण

सम्पर्क भाषा के प्रश्न पर सुखविन्दर की "बन्दरकुद्दियां"

5. चण्डीगढ़ के सवाल पर: सुखविन्दर पंजाबी बुर्जुआजी के सियासी नुमाइन्दों की राह पर

6. टुकड़ों में बंटे राष्ट्रों का प्रश्न और सुखविन्दर के 'महापंजाब' के विचार में अन्तर्निहित कालदोषपूर्ण तर्क-पद्धति और रिसता हुआ पंजाबी कौमवाद

सुखविन्दर द्वारा अपने पंजाबी कौमवाद को छिपाने के लिए किया गया बातबदलूपन

पोलैण्ड और जर्मनी के एकीकरण के विषय में मार्क्स और एंगेल्स के विचार

7. 'संघवाद' के बारे में सुखविन्दर के बहके-बहके से विचार

क्या 1924 में 'संघवाद' के बारे में स्तालिन ने मार्क्सवादी-लेनिनवाद सिद्धान्त को बदल दिया था?

8. राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के अधिकार का प्रश्न और सुखविन्दर की इस विषय में स्पष्ट समझदारी का अभाव

9. हमने कौमवादी विचलनकारियों को अपढ़ "मार्क्सवादी" क्यों कहा था? कुछ मिसालें

10. अन्त में...

राष्ट्रीय प्रश्न पर 'प्रतिबद्ध' के सम्पादक सुखविन्दर का लेख:

मार्क्सवाद और राष्ट्रीय प्रश्न पर चिंतन के नाम पर बुण्डवादी राष्ट्रवाद, राष्ट्रीय कट्टरपंथ और त्रॉत्स्कीपंथ में पतन की त्रासद कहानी

- **शिवानी**

1. प्रस्तावना

जैसा कि आप सब जानते होंगे कि पिछले कई महीनों से 'आह्वान' और 'ललकार-प्रतिबद्ध' ग्रुप के बीच राष्ट्रीय प्रश्न और भाषा के प्रश्न पर एक बहस जारी है। हालांकि 'ललकार-प्रतिबद्ध' ग्रुप द्वारा ऐसी किसी बहस से हमेशा या तो इंकार किया गया या फिर यह कहा गया कि यह बहस इनके ऊपर हमारे द्वारा "थोप दी गयी" है। यह बात सही नहीं थी क्योंकि उपरोक्त प्रश्नों पर दो सर्वथा भिन्न अवस्थितियाँ हमारे और 'ललकार' के फेसबुक पेजों पर और उसके बाद 'ललकार' पत्रिका और हमारी पत्रिका 'मुक्तिकामी छात्रों-युवाओं का आह्वान' के पिछले अंक में लिखित तौर पर सामने आयीं। लेकिन इस सम्बन्ध में (कि बहस है कि नहीं) जो भी अस्वीकार या अस्पष्टता 'ललकार-प्रतिबद्ध' ग्रुप की तरफ से थी, वह अब समाप्त हो गयी है क्योंकि अपनी पत्रिका 'प्रतिबद्ध' के नए अंक संख्या-33 में इन्होंने इन प्रश्नों पर न सिर्फ अपनी अवस्थिति रखी है बल्कि यह भी माना है कि इन प्रश्नों पर हम दोनों के बीच अलग-अलग अवस्थितियाँ और बहस मौजूद है।

यह वाकई ख़ुशी की बात है और अब हमें भी निश्चित ही ज्यादा सुसंगत तरीके से इनके द्वारा पेश किये गये पक्ष और रखी गई अवस्थितियों का आलोचनात्मक विवेचन करने में आसानी होगी। उपरोक्त प्रश्नों पर 'प्रतिबद्ध' के नये अंक यानी बुलेटिन संख्या-33 में सुखविन्दर का 'राष्ट्रीय प्रश्न और मार्क्सवाद' नाम से लेख प्रकाशित हुआ है। इस लेख में 'ललकार-प्रतिबद्ध' ग्रुप की राष्ट्रीय प्रश्न व भाषा के प्रश्न पर अवस्थिति और स्पष्ट रूप में खुलकर सामने आई है।

हालांकि हमें अफ़सोस के साथ कहना पड़ रहा है कि इस लेख में राष्ट्रीय व भाषाई प्रश्न पर आयी इनकी अवस्थिति ने हमारे इनके बारे में अब तक के मूल्यांकन को और पुख्ता तरीक़े से सत्यापित करने का ही काम किया है। आप जानते होंगे कि 'ललकार-प्रतिबद्ध' ग्रुप की राष्ट्रीय प्रश्न और भाषा के प्रश्न पर अवस्थिति को हमने राष्ट्रवादी और भाषाई अस्मितावादी विचलन का शिकार बताया था। **न सिर्फ हमारी यह धारणा सुखविन्दर के इस लेख को पढ़कर और पक्की हुई है, बल्कि सुखविन्दर ने स्वयं ही इसका सत्यापन भी कर दिया है।**

इसके अलावा एक बात जो पूरे लेख में स्पष्ट दिखाई पड़ती है वह यह कि सुखविन्दर द्वारा कहीं भी अपनी बात सकारात्मक तौर पर कहने की बजाय हर जगह नकारात्मक तौर पर कही गई है, मसलन किन पहलुओं की अनुपस्थिति के बावजूद राष्ट्रीय दमन की मौजूदगी को *माना जा सकता है*, सुखविन्दर ने अपनी सारी ऊर्जा यही कहने पर खर्च कर दी है, *बजाय सकारात्मक तौर पर यह बताने के कि राष्ट्रीय प्रश्न होता क्या है, राष्ट्रीय दमन को किस प्रकार परिभाषित किया जाय, इत्यादि।* और नकारात्मक तौर पर भी जो बातें कहीं गयीं हैं, वे न सिर्फ उद्धरणों की ग़लत व्याख्या, उन्हें सन्दर्भ से

काटकर पेश करने और अपने ही द्वारा प्रस्तुत उद्धरणों को न समझ पाने की मिसालें हैं, बल्कि इतिहास के तथ्यों के बारे में भी भयंकर अज्ञान को दिखलाती हैं। **अपनी इस आलोचना में हम इसे सप्रमाण आगे दिखायेंगे।** यह पद्धति 'प्रतिबद्ध' द्वारा राष्ट्रीय प्रश्न पर अपनाई गयी अवस्थिति में कितनी विसंगतियां और विरोधाभास पैदा कर देती है, यह पाठक आगे चलकर स्वयं ही देख लेंगे।

सबसे पहले हम कुछ बुनियादी नुक्तों को रखेंगे, जो कि मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओवाद के अनुसार राष्ट्र, राष्ट्रीय दमन और राष्ट्रीय आन्दोलन की अवधारणाओं को समझने और 'प्रतिबद्ध' के लेख में इस समझदारी की पूर्ण अनुपस्थिति को समझने के लिए ज़रूरी है। उसके बाद, हम 'प्रतिबद्ध' के लेख की राष्ट्रवादी, बुण्डवादी, त्रॉत्स्कीपंथी प्रस्थापनाओं की उद्धरणों, सन्दर्भों, तथ्यों, व तर्कों समेत आलोचना रखेंगे।

2. राष्ट्रीय दमन के विषय में सुखविन्दर की समझदारी: राष्ट्रीय दमन की अवधारणा का वायवीयकरण (etherealization) और सांस्कृतिकीकरण (culturalization)

(i) कुछ प्रारंभिक आधारभूत बिन्दु

उपरोक्त लेख में 'प्रतिबद्ध' द्वारा राष्ट्रीय प्रश्न पर मौजूद क्लासिकीय मार्क्सवादी अवस्थिति को न सिर्फ बेहद मनमाने ढंग से व्याख्यायित किया गया है बल्कि इस प्रश्न पर मार्क्सवादी लेखन में प्रस्तुत मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन, स्तालिन, काउत्स्की आदि की प्रस्थापनाओं को सन्दर्भों से काटकर भी पेश किया गया है। साथ ही, राष्ट्रीय प्रश्न पर एक बेहद गड्डमड्ड अवस्थिति अपनाई गयी है। मूल मुद्दों से, **यानी राष्ट्रीय प्रश्न क्या होता है, राष्ट्रीय दमन क्या होता है, पंजाबी कौम किस पैमाने से दमित कौम है आदि सवालों से बच निकलने का असफल प्रयास किया गया है।** इसके अलावा हमारे ('आह्वान') द्वारा इन्हें राष्ट्रवादी व भाषाई अस्मितावादी विचलन का शिकार कहे जाने को इन्होंने हमारा वर्ग अपचयनवाद (class reductionism) कहा है, हमारी राष्ट्रीय प्रश्न के प्रति उदासीनता और केवल "मजदूर मसलों" और "शिक्षा-रोज़गार के मसले" को प्राथमिकता देना कहा है। सच कहें तो हमें ऐसे ही जवाब की उम्मीद थी!

चूंकि राष्ट्रीय प्रश्न पर सही मार्क्सवादी अवस्थिति अपनाने का सवाल कोई अकादमिक कवायद नहीं है, बल्कि सीधे तौर पर सर्वहारा क्रांति के कार्यक्रम से जुड़ा हुआ मुद्दा है, इसलिए इस पर कोई भी हवा-हवाई, अठोस, अमूर्त और वायवीय (ethereal) अवस्थिति आपको उतने ही हवा-हवाई, अमूर्त, वायवीय और ग़लत निष्कर्षों पर पहुंचाएगी, जो कि सुखविन्दर के उपरोक्त लेख में देखने को मिलते हैं।

साथ ही, ऐसा वायवीय विमर्श राष्ट्रीय प्रश्न सम्बन्धी ठोस कार्यक्रम व राजनीतिक मांगों के सूत्रीकरण और उससे निकलने वाले ठोस व्यावहारिक कार्यभारों को चिन्हित करने में न सिर्फ विचारधारात्मक गड़बड़ी पैदा करेगा बल्कि आपको एकदम ग़लत राजनीतिक कार्यदिशा की ओर भी ले जायेगा। **इस लेख में सुखविन्दर ने राष्ट्रीय प्रश्न को, कौमी दमन को, जहां तक कि पंजाब का सवाल है, सांस्कृतिक-भाषाई दमन में अपचयित** (reduce) **कर दिया है और महज़ उसे ही कौमी दमन का नाम दे दिया है।** यह अवस्थिति किस तरह से मार्क्सवादी-लेनिनवादी अवस्थिति का निषेध है, उससे

विचलन है और अपने सारतत्व में 'बुण्डवादी', सांस्कृतिक-राष्ट्रीय स्वायत्ततावादी और त्रॉत्स्कीपंथी अवस्थिति है, यह हम इस आलोचना में आगे दिखायेंगे।

हम ऊपर बता चुके हैं कि राष्ट्रीय प्रश्न क्या होता है इस पर सुखविन्दर द्वारा उनके लेख में सकारात्मक पक्ष रखने की बजाय नकारात्मक तौर पर अवस्थिति रखी गयी है। लेखक जो सिद्ध करने पर तुले हुए हैं वह ये है कि **(1) राष्ट्रीय प्रश्न औपनिवेशिक प्रश्न के बगैर अस्तित्व में आ सकता है**; **(2) राष्ट्रीय प्रश्न अग्रेरियन प्रश्न/भूमि प्रश्न के बगैर अस्तित्व में आ सकता है**; **(3) राष्ट्रीय प्रश्न बिना किसी एक राष्ट्र के दबदबे/प्रभुत्व के (**dominant nation**) के अस्तित्व में आ सकता है**; **और (4) बुर्जुआजी के दमन के बिना भी राष्ट्रों का दमन हो सकता है।**

हम सबसे पहले सुखविन्दर द्वारा पेश की गयी इन प्रस्थापनाओं पर अपनी बात केन्द्रित करेंगे क्योंकि इनके लेख का मूल मक़सद इन्हें ही सिद्ध करना है और दिखलायेंगे कि किस तरह ये प्रस्थापनाएं लेख के पीछे के पूरे तर्क को संचालित करती हैं। सुखविन्दर अपने लेख के शुरू में ही बिना कहे यह ज़ाहिर कर देते हैं कि उन्हें इस लेख में साबित क्या करना है। उन्हें इस लेख और शायद आने वाले अन्य लेखों (उन्होंने शुरू में ही कह दिया है कि वह 'प्रतिबद्ध' के आने वाले अंकों में 'भारत में राष्ट्रीय प्रश्न' और 'पंजाब में राष्ट्रीय प्रश्न' पर लेख प्रकाशित करेंगे) में यह दिखलाना है कि *पंजाब एक दमित राष्ट्र है, एक ऐसा दमित राष्ट्र जहां न तो औपनिवेशिक प्रश्न, न भूमि/कृषि प्रश्न और न ही कोई दमित बुर्जुआ वर्ग मौजूद है।* इसलिए वह जब भी भारत में "असमाधित राष्ट्रीय प्रश्न" की बात करते हैं तो कश्मीर और उत्तर-पूर्व के विषय में कौमी दमन का उदाहरण देते समय तो सैन्यकरण और वहाँ चल रहे मुक्ति संघर्ष का हवाला देते हैं। लेकिन जब "मुख्य भूमि" भारत में (मुख्यत: पंजाब में!) इस प्रश्न के "असमाधित" रहने की बात करते हैं तब राष्ट्रीय दमन को इन शब्दों में व्याख्यायित करते हैं –

> "इसलिए भारत में रहने वाले विभिन्न राष्ट्र दमन की चक्की में पिस रहे हैं। संविधान में भारत को संघीय ढांचा माना गया है, किंतु भारतीय शासकों का जोर हमेशा ऐकिक ढांचे की ओर रहता है। कभी खुलेआम और अधिकतर मामलों में चुपचाप भारत में रहने वाले विभिन्न राष्ट्रों पर हिन्दी थोपी जाती है। विभिन्न राष्ट्रीय भाषाओं में शिक्षा पर रोक लगायी जाती है, इन भाषाओं के स्कूल बंद किये जाते हैं।" (सुखविन्दर, 'राष्ट्रीय प्रश्न और मार्क्सवाद', प्रतिबद्ध-33)

यानी सुखविन्दर के अनुसार, "मुख्य भूमि" भारत में असमाधित राष्ट्रीय प्रश्न का यह स्वरुप है: *भाषाओं का दमन और संघीय ढांचे की अवमानना।*

यह तर्क-पद्धति कितनी भोथड़ी है और राष्ट्रीय प्रश्न पर मार्क्सवादी-लेनिनवादी अवस्थिति का कितना भद्दा विकृतिकरण है यह यहीं पर स्पष्ट हो जाता है। अब आप समझ सकते हैं कि लेखक ने ऊपर गिनाये गए निष्कर्ष क्यों निकाले थे। जाहिरा तौर पर यह पंजाब को दमित कौम साबित करने के लिए किया गया है। यह इसलिए भी किया गया है क्योंकि क्लासिकीय मार्क्सवादी लेखन में स्पष्ट तौर पर यह बताया गया है कि राष्ट्रीय प्रश्न का सीधा अर्थ राष्ट्रीय दमन का होना है, **राष्ट्रीय दमन तभी हो सकता है जब दमित राष्ट्र के सम्बन्ध में या तो औपनिवेशिक प्रश्न (दूसरे शब्दों में, दमित राष्ट्र के ऊपर क्षेत्रीय कब्जे**/annexation **या उपनिवेशिकीकरण**/colonization **का प्रश्न) और दमित बुर्जुआ वर्ग की उपस्थिति हो** <u>*या*</u> **फिर भूमि सम्बन्धी (**agrarian**) प्रश्न और दमित बुर्जुआ वर्ग की उपस्थिति हो जैसा कि अर्द्धसामंती अर्द्धऔपनिवेशिक देशों में था। यदि इन दोनों में से कोई भी स्थिति नहीं है, तो हम राष्ट्रीय दमन की बात नहीं कर सकते हैं।** <u>**इसमें भी जो सबसे महत्वपूर्ण बात है और राष्ट्रीय दमन के हर उदाहरण में मौजूद होती है, वह है बुर्जुआजी का दमन।**</u> राष्ट्रीय दमन सिर्फ और सिर्फ इसी रूप और अर्थ में अस्तित्वमान हो सकता है। दमित

राष्ट्र का मतलब ही है कि वहाँ का बुर्जुआ वर्ग प्रभुत्वशाली राष्ट्र के शासक वर्गों द्वारा दमित है और उसका *स्वतंत्र राजनीतिक अस्तित्व* नहीं है; *वह इस दमन के खिलाफ संघर्ष करता है या नहीं या इसके विरुद्ध राष्ट्रीय आन्दोलन में रैडिकल तरीके से उतरता है या नहीं, यह एक अलग बात है।* वह आमूलगामी तरीके से उपनिवेशवाद-विरोधी साम्राज्यवाद-विरोधी अवस्थिति अपनाता है या अपना पाता है या नहीं, इससे इस बात का कोई रिश्ता नहीं है कि वह दमित है या नहीं।

विशेष तौर पर, साम्राज्यवाद के युग में राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति का कार्यभार *पूंजीवादी जनवादी क्रान्ति* के दायरे का अतिक्रमण कर जाता है और आम तौर पर राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग राष्ट्रीय मुक्ति के कार्यभार को पूरा करने में एक ढुलमुलयकीन मित्र में तब्दील हो जाता है, और कई बार तो करता ही नहीं, क्योंकि वह सर्वहारा वर्ग के उभार से डर जाता है। ऐसे में, राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग की भूमिका भी मंझोला व छोटा पूंजीपति वर्ग तथा किसान वर्ग निभाते हैं, जैसा कि लेनिन और माओ ने बताया था, और हम आगे दिखाएंगे। यह राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग जब भी सर्वहारा वर्ग व किसान वर्ग के उभार से घबराता है, तो दमनकारी राष्ट्र की बुर्जुआजी से मोलभाव और समझौते करने लगता है। **इसका यह अर्थ नहीं है कि वह दमित बुर्जुआजी नहीं है। यह भी हम आगे सन्दर्भ समेत दिखाएंगे।**

इसका केवल यह अर्थ होता है कि साम्राज्यवाद के युग में राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति के कार्यभार को भी आमूलगामी तरीके से और सुसंगत जनवादी तरीके से पूरा करने के काम में बुर्जुआ वर्ग अक्षम हो जाता है, और यह कार्य भी सर्वहारा वर्ग को अपने नेतृत्व में लेना चाहिए और किसान वर्ग, पेटी बुर्जुआजी और राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग के सर्वाधिक आमूलगामी व क्रान्तिकारी तत्वों के साथ मिलकर ***जनता की जनवादी क्रान्ति*** के कार्यभार को सम्पन्न करना चाहिए। लेकिन राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग यदि ऐसा ढुलमुल बर्ताव करता है, तो भी यह उसके दमित न होने को प्रदर्शित नहीं करता है। कम-से-कम मार्क्सवादी-लेनिनवादी-माओवादी अवस्थिति तो यही कहती है। अब अगर सुखविन्दर पंजाब में राष्ट्रीय दमन साबित करने के फेर में कोई नया सिद्धांत-प्रतिपादन कर रहे हों, तो बात अलग है! ऐसा करने में कोई दिक्क़त नहीं है, बस उन्हें यह स्पष्ट शब्दों में कहना चाहिए और यह भी दिखलाना चाहिए कि मार्क्सवादी-लेनिनवादी-माओवादी अवस्थिति इस प्रश्न पर ग़लत है। उन्हें अपनी धारणा को सही साबित करने के लिए मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धांत का विकृतिकरण नहीं करना चाहिए, उसमें कांट-छांट नहीं करनी चाहिए और बजाय अपनी ग़लत धारणा बदलने के मार्क्सवादी सिद्धांत नहीं बदलना चाहिए।

अगर भारत के विषय में बात करें तो कश्मीर और उत्तर-पूर्व में मौजूद दमित राष्ट्रों का भारतीय राज्य द्वारा ज़बरन क्षेत्रीय कब्ज़ा/अधिग्रहण/उपनिवेशीकरण (annexation/colonization) किया गया है। वहां की बुर्जुआजी व पेटीबुर्जुआजी का दमन किया गया है। इसीलिए वहाँ उन कौमों का राष्ट्रीय दमन है और वहाँ राष्ट्रीय प्रश्न का समाधान होना बाकी है। कहने की आवश्यकता नहीं है, कि यह कौमी दमन राष्ट्रीय बुर्जुआजी के आर्थिक व राजनीतिक दमन से *शुरू होता* है, लेकिन फिर इसे पूरी कौम तक विस्तारित कर दिया जाता है और इस कौमी दमन के तौर पर भाषाओं का दमन, राजनीतिक अधिकारों का दमन भी होता है, जिसका सामना इन दमित कौमों के मेहनतकश वर्गों को भी करना पड़ता है। राजनीतिक दमन का चरित्र ही ऐसा होता है। **जिस तरह एक हद तक पूंजीवाद के विकास और बुर्जुआ वर्ग के अस्तित्व में आये बग़ैर 'राष्ट्र' अस्तित्व में नहीं आ सकता है, उसी तरह बिना दमित बुर्जुआ वर्ग के दमित राष्ट्र अस्तित्व में नहीं आ सकता है। दूसरे शब्दों में, बुर्जुआजी के दमन के बिना राष्ट्रीय दमन की अवधारणा ही अवैध हो जाती है।**

दुनिया भर के मार्क्सवादी-लेनिनवादी-माओवादी इस बात को जानते हैं, जैसा कि हम आगे उद्धरणों समेत दिखाएंगे। इतनी सामान्य-सी बात भी हमें बार-बार इसलिए दोहरानी पड़ रही है क्योंकि 'प्रतिबद्ध' के लेखक यह बुनियादी बात भी समझ नहीं पा रहे हैं या फिर समझ कर भी अनजान बन रहे है। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता है कि भारत और इन राष्ट्रों (यानी कश्मीर और उत्तर-पूर्व के राष्ट्रों) के क्षेत्र (territory) एक दूसरे से सटे हुए (contiguous) हैं। उपनिवेश या क्षेत्रीय कब्ज़े सात समन्दर पार हों, तो ही उन्हें उपनिवेश या कब्ज़ा नहीं माना जाता है। यदि कोई देश अपने क्षेत्र से सटे किसी राष्ट्र के क्षेत्र पर भी कब्ज़ा करता है, तो वह उपनिवेश या कब्ज़ा ही माना जाता है। आयरलैंड, पोलैंड आदि में ऐसा ही था। जहां तक राष्ट्रीय प्रश्न का सवाल है, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता है, जैसा कि लेनिन ने दिखलाया था और हम आगे उद्धरण समेत दिखाएंगे। कश्मीर और उत्तर-पूर्व के राज्य भी भारत द्वारा उपनिवेशीकृत क्षेत्र ही हैं। **इसलिए आम तौर पर "मुख्य भूमि" भारत में और विशेष रूप से पंजाब में यह प्रश्न इन अर्थों में किस प्रकार असमाधित है, यह 'प्रतिबद्ध' के लेखक को बताना पड़ेगा।** लेनिन ने बताया था कि कौमी दमन का अर्थ ही है किसी कौम को उसकी इच्छा के विपरीत किसी अन्य राज्य की सीमाओं के भीतर रखना, चाहे वह क्षेत्र उस राज्य से लगा हुआ हो, ऐतिहासिक तौर पर उसकी सीमाओं के भीतर रहा हो, या सात समन्तर दूर हो। इससे जुड़े उद्धरण हम आगे पेश करेंगे।

याद रखें, **यहां हम राष्ट्र (**nation**) की बात कर रहे हैं**, **अल्पसंख्यक राष्ट्रीयताओं (**minority nationalities**) की नहीं। इन दोनों में लेनिन से लेकर माओ तक सभी ने फर्क किया है और वैज्ञानिक व राजनीतिक दृष्टि से फर्क किया जाना चाहिए।** राष्ट्रों का एक क्षेत्रीयता का चरित्र (territoriality) होता है चाहे वे छोटे राष्ट्र हों या बड़े राष्ट्र, जैसा कि पंजाब का है, या कश्मीर, महाराष्ट्र, उत्तर-पूर्व के राज्यों आदि का है। अल्पसंख्यक राष्ट्रीयताएं वे होती हैं, जिनकी कोई क्षेत्रीयता (territoriality) नहीं होती। मिसाल के तौर पर, यूरोप में यहूदी, स्विट्ज़रलैण्ड में इतालवी, अमेरिका में पुएर्तो रीकन लोग, आदि। कहने का अर्थ यह है कि स्विट्ज़रलैण्ड में इतालवी लोग अपना अलग देश बनाने, यानी राष्ट्रीय आत्मनिर्णय की मांग नहीं कर सकते हैं। या जो कश्मीरी आबादी मुख्यभूमि भारत में कहीं भी बस गयी है, वह वहां पर राष्ट्रीय आत्मनिर्णय की मांग नहीं कर सकती है, क्योंकि वहां वह एक अल्पसंख्यक राष्ट्रीयता है, न कि राज्य बनने की क्षमता रखने वाला राष्ट्र, जो कि अपने आत्मनिर्णय का अधिकार रखता है। ऐसी राष्ट्रीयताओं का संघर्ष मूलत: सुसंगत जनवाद, राजनीतिक समानता और भाषा के अधिकार को लेकर होता है।

यह समझना अनिवार्य है कि राष्ट्रीय प्रश्न इसी अर्थ में मौजूद हो सकता है। राष्ट्रीय दमन एक राजनीतिक अवधारणा है, इसका रिश्ता राजनीतिक जनवाद (political democracy) के क्षेत्र से है। इसके अलावा राष्ट्रीय दमन की कोई और व्याख्या, उसका किसी भी किस्म का सांस्कृतिकीकरण (culturalization), उसका किसी भी क़िस्म का वायवीयकरण (etherealization), न केवल मार्क्सवाद-विरोधी है बल्कि दमित राष्ट्रों के वास्तविक संघर्षों के प्रति भी बेहद खतरनाक दृष्टिकोण का परिचायक है जो अंततः आपको सुधारवादी निष्कर्षों तक पहुंचा देगा।

सुखविन्दर ने हमें वर्ग-अपचयनवादी कहा है और कहा है कि,

कश्मीर और उत्तर-पूर्व के राष्ट्रों की आज़ादी के बारे में हम "ठोंक बजाकर स्टैंड नहीं लेते", "बस कभी-कभी ज़बानी जमा-ख़र्च तक सीमित रहते हैं", राष्ट्रीय मसलों को नकारते हैं, राष्ट्रीय मसलों के प्रति दिल्ली के शासकों के सुर में सुर मिलाते हैं, राष्ट्रीय भावनाओं के प्रति असंवेदनशील रवैया रखते हैं, आदि। (सुखविन्दर, 'राष्ट्रीय प्रश्न और मार्क्सवाद', प्रतिबद्ध-33)

ये बड़े गम्भीर आरोप हैं और यदि ये सच हैं तो उन्हें सन्दर्भों और तर्कों समेत दिखलाना चाहिए था कि हमारा राष्ट्रीय प्रश्न पर ऐसा वर्ग-अपचयनवादी रवैया कहाँ मौजूद रहा है। **चूंकि हम पंजाब को दमित राष्ट्र नहीं मानते इसका मतलब**

यह नहीं है कि हम राष्ट्रीय प्रश्न या कौमी दमन होने से ही इंकार करते हैं। वैसे भी पंजाब को दमित राष्ट्र आपको साबित करना है, हमें नहीं! हालांकि आपके द्वारा इस लेख में की गयी सारी मशक्क़त इस दिशा में बेहद असफल कोशिश जान पड़ती है। उल्टे, अपनी आलोचना में सप्रमाण और सन्दर्भों के साथ हम ज़रूर यह दिखलायेंगे कि किस तरह 'प्रतिबद्ध' के लेखक का राष्ट्रीय मसलों पर "अति-उत्साहपूर्ण" रवैया वास्तव में केवल पंजाब के लिए ही आरक्षित है और किस तरह यह अवस्थिति न सिर्फ गैर-मार्क्सवादी है बल्कि भयंकर पंजाबी बुर्जुआ अन्धराष्ट्रवादी (Punjabi national chauvinist) विचलन से ग्रस्त है।

कश्मीर और उत्तर-पूर्व भारत में भारतीय राज्यसत्ता द्वारा किये जा रहे बेहद अमानवीय राष्ट्रीय दमन की मुख्यभूमि भारत के किसी भी प्रान्त या कौम से कोई तुलना ही नहीं है। कश्मीर दुनिया के सबसे सैन्यकृत इलाकों में से है, इसका ज़िक्र सुखविन्दर ने खुद भी अपने लेख में किया है। कश्मीर और उत्तर-पूर्व में भारतीय राज्यसत्ता द्वारा लगातार आफ्सपा (AFSPA) कानून लगाकर एक क़िस्म का सैन्य शासन क़ायम किया गया है और ***जबरन इन कौमों को भारत में मिलाया गया है।*** इन जगहों पर भारतीय राज्यसत्ता के प्रति वैसी ही नफ़रत है जैसा कि औपनिवेशिक सत्ता के प्रति उपनिवेशों की दमित कौमों में होती है। इससे भी कोई फर्क नहीं पड़ता है कि वहाँ की बुर्जुआजी इन राष्ट्रों के मुक्ति संघर्षों में क्या और कितनी भूमिका अदा करती रही है, *उनका चरित्र दमित बुर्जुआजी का ही रहेगा।* हाँ, उसका एक हिस्सा जोकि दलाल, गैर-राष्ट्रीय (non-national) है, वह भारतीय हुक्मरानों की कठपुतली के जैसा आचरण करता रहा है और आगे भी इसी की सम्भावना अधिक है, जैसा कि लगभग सारी ही दमित कौमों के मामले में देखने को मिलता है। **लेकिन उससे यह तथ्य ख़ारिज नहीं हो जाता है कि इन कौमों की राष्ट्रीय बुर्जुआजी दमित है और ठीक इसीलिए यह कौमें दमित हैं।** 5 अगस्त, 2019 के बाद तो यह बात और स्पष्ट रूप से सामने आई है जब कश्मीर के बुर्जुआ वर्ग के राजनीतिक प्रतिनिधियों तक को जेलों में डाल दिया गया, यहां तक कि उन्हें भी नहीं बख्शा गया जो कि समझौतापरस्त रुख अपनाते रहे थे। इससे पहले शेख अब्दुल्ला के साथ क्या हुआ था, उससे भी कोई अनभिज्ञ नहीं है। भारत में आपातकाल को छोड़ दिया जाए, जो कि भारतीय राज्यसत्ता के राजनीतिक संकट की ही एक विशिष्ट अभिव्यक्ति था, ना कि कोई राष्ट्रीय दमन की नीति, तो ऐसा किस राष्ट्र की बुर्जुआजी के साथ हुआ है? भारतीय हुक्मरानों द्वारा जो चुनाव वहाँ करवाये जाते हैं उसका भी साल-दर-साल क्या हश्र हुआ है, सबके सामने है। प्रेस और मीडिया पर ज़बरदस्त पाबंदियां हैं। लम्बे समय से इण्टरनेट की सेवाएं बंद हैं। आने-जाने, सड़क पर चलने, एक-दूसरे से मिलने-जुलने पर पुलिसिया रोकटोक और पाबंदियां हैं। कहीं भी रोककर फ़ौज और अर्द्धसैनिक बलों द्वारा चेकिंग करना और कश्मीरियों की हत्या तक कर देना आम बात है। कोने-कोने पर चेकपोस्ट बने हुए हैं। शैक्षणिक संस्थानों की स्वायतत्ता बहुत पहले ही ख़त्म कर दी गयी थी। **इस स्थिति की तुलना पंजाब या "मुख्यभूमि" भारत के सुखविन्दर के शब्दों में "असमाधित राष्ट्रीय प्रश्न" से पाठक खुद ही कर लें। पंजाब के तथाकथित "कौमी दमन" की तुलना कश्मीर और उत्तर-पूर्व से करना यही दिखलाता है कि सुखविन्दर या तो वास्तव में राष्ट्रीय दमन की मार्क्सवादी-लेनिनवादी अवधारणा समझे नहीं हैं, या फिर बात कुछ और है।**

अब हम सुखविन्दर द्वारा राष्ट्रीय दमन की अवधारणा पर पेश विचारों की आलोचनात्मक समीक्षा पर आते हैं। इसी प्रक्रिया में हम ऊपर हमारे द्वारा रखी गयी अवस्थितियों को भी मार्क्सवादी-लेनिनवादी क्लासिक्स में पेश अवस्थितियों के सन्दर्भों, उद्धरणों व उदाहरणों समेत सिद्ध करेंगे।

(ii) 'प्रतिबद्ध' के राष्ट्रीय दमन की अवधारणा और मार्क्सवादी-लेनिनवादी-माओवादी अवधारणा

मूल चर्चा पर वापस लौटते हैं। सुखविन्दर द्वारा प्रस्तुत की गयी उपरोक्त चार प्रस्थापनाओं, यानी ये कि राष्ट्रीय दमन बिना भूमि प्रश्न, बिना औपनिवेशिक प्रश्न, बिना बुर्जुआजी के दमन और बिना किसी एक दमनकारी कौम के सम्भव है, को सत्यापित करने के लिए सुखविन्दर मुख्य तौर पर उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के बहुराष्ट्रीय ऑस्ट्रिया का उदहारण देते हैं और अंतिम प्रस्थापना को सिद्ध करने के लिए उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध और बीसवी शताब्दी के पहले दो दशकों के पोलैंड का उदाहरण देते हैं।

हम पहले भी बता चुके हैं कि ये चारों प्रस्थापनाएं त्रुटिपूर्ण है, गैर-मार्क्सवादी है और राष्ट्रीय प्रश्न पर मौजूद मार्क्सवादी-लेनिनवादी अवस्थिति का वायवीयकरण (etherealisation) और सांस्कृतिकीकरण (culturalisation) करती हैं। कुछ आगे हम इसे सन्दर्भों और प्रमाणों के साथ देखेंगे। ऑस्ट्रिया व पोलैण्ड के जिन दो उदाहरणों का लेखक द्वारा सहारा लिया गया है, वे उनकी प्रस्थापनाओं को सिद्ध करने के लिए बिल्कुल गलत उदाहरण हैं। दूसरी बात यह कि **सुखविन्दर द्वारा उनकी व्याख्या न सिर्फ गलत तरीके से की गयी है बल्कि इस सम्बन्ध में पेश किये गए उद्धरणों को भी कांट-छांट कर पेश किया गया है।** आइये देखते हैं कैसे।

क. राष्ट्रीय दमन के बारे में सुखविन्दर के बहके-बिखरे विचार: सारसंग्रहवादी मूर्खता की एक मिसाल

हमने अब तक हुई चर्चा में यह अवस्थिति पेश की थी कि राष्ट्रीय दमन तभी हो सकता है, जबकि **भूमि प्रश्न असमाधित हो व बुर्जुआजी दमित हो**, ***या***, **उपनिवेशीकरण/कब्ज़ा हो व बुर्जुआजी दमित हो।** इसमें से पहला, पूंजीवाद व पूंजीवादी जनवाद के विकसित होने से पहले की स्थिति में राष्ट्रीय दमन का परिचायक है और दूसरा, लेनिन के शब्दों में "आधुनिक परिस्थितियों", यानी पूंजीवाद की स्थितियों में राष्ट्रीय दमन का परिचायक है।

इन दोनों में जो चीज़ राष्ट्रीय दमन की विशिष्टता है, जो उसे अन्य सभी प्रकार के सामाजिक व राजनीतिक दमन के रूपों से भिन्न करती है, यानी जो इसका differentia specifica है वह है **बुर्जुआजी का दमन।** यदि किसी कौम की बुर्जुआजी दमित नहीं है, राजनीतिक रूप से स्वतन्त्र है, तो वह कौम दमित नहीं कही जा सकती है। इसका अर्थ यह है कि बिना किसान प्रश्न (जिसे सुखविन्दर अज्ञानतावश भूमि प्रश्न का समानार्थी समझ बैठे हैं) या भूमि प्रश्न के भी राष्ट्रीय दमन हो सकता है, *लेकिन उस सूरत में भी*, यानी कि पूंजीवादी स्थितियों में भी बुर्जुआजी के दमन के बिना राष्ट्रीय दमन नहीं हो सकता है, जैसा कि हमने 'आह्वान' के राष्ट्रीय प्रश्न पर बहस पर केन्द्रित अंक के मुख्य लेख 'राष्ट्रीय दमन क्या होता है?' में पहले ही स्पष्ट किया था (देखें, 'मुक्तिकामी छात्रों-युवाओं का आह्वान', जनवरी-अप्रैल 2020)। इसलिए सुखवन्दिर ने इस बात को साबित करने के लिए बेकार ही पुस्तकों की अनुक्रमणिका देख-देखकर उद्धरण छांटे कि बिना भूमि प्रश्न के भी राष्ट्रीय दमन सम्भव है। यह तो हम सभी जानते हैं। *आज फिलिस्तीन में कोई भूमि प्रश्न नहीं है, लेकिन वहां राष्ट्रीय दमन है क्योंकि वहां की बुर्जुआजी भी दमित है।* **जहां तक सुखविन्दर ने बुर्जुआजी के दमन के बिना राष्ट्रीय दमन को सिद्ध करने की कोशिश की है, वहां वे बड़ी शर्मनाक स्थिति में फंस गये हैं और उद्धरणों को**

सन्दर्भ से काटने और उनकी गलत व्याख्या करने पर मजबूर हो गये हैं। आइये देखते हैं कि यह द्रविड़ प्राणायाम उन्होंने कैसे किया है। क्रम से ही चलते हैं।

ऑस्ट्रिया में राष्ट्रीय दमन के विषय में सुखविन्दर के विचार: राजनीतिक व ऐतिहासिक अज्ञानता का उदाहरण

भारत की तुलना बहुराष्ट्रीय ऑस्ट्रिया से करते हुए सुखविन्दर कहते हैं कि,

> "ऑस्ट्रिया में राष्ट्रीय प्रश्न ऐसे रूप में था कि यहाँ न तो कोई राष्ट्र किसी और का उपनिवेश ही था और न ही यहाँ सामन्ती सम्बन्ध, या agrarian question ही था।" (सुखविन्दर, 'राष्ट्रीय प्रश्न और मार्क्सवाद', प्रतिबद्ध-33)

वैसे आगे हम आपको दिखलाएंगे कि सुखविन्दर को पता ही नहीं है कि स्तालिन ने *किसान प्रश्न* की बात की है न कि *कृषि प्रश्न* की और इस पर खास तौर पर ज़ोर दिया है कि ये दोनों ही एक चीज़ नहीं हैं। इतनी बुनियादी बातें पता न होने के कारण ही हमने इन्हें अनपढ़ "मार्क्सवादी" कहा था, जिस पर वह नाराज़ हो गये थे। लेकिन आने वाले पृष्ठों में आप इसके दर्जनों उदाहरण देखेंगे और खुद ही समझ जाएंगे कि हमने उन्हें इस विशेषण से क्यों नवाज़ा था। खैर, आगे बढ़ते हैं।

सुखविन्दर ने उपनिवेशीकरण न होने के उदाहरण के तौर पर ऑस्ट्रिया के दमित राष्ट्रों का जैसे कि पोलिश, यूक्रेनियन, आदि राष्ट्रों का, उदाहरण देने की बजाय, उन राष्ट्रों का उदाहरण दिया है, जो कि ऑस्ट्रिया में दमित स्थिति में थे ही नहीं और उन्हें राज्यसत्ता में हिस्सेदारी प्राप्त थी, जैसे हंगरी! इसके अलावा, उन्होंने उन अल्पसंख्यक राष्ट्रीयताओं का उदाहरण दिया है, जिनकी कोई क्षेत्रीयता (territoriality) थी ही नहीं और इसलिए उनके उपनिवेश बनने का प्रश्न ही नहीं उठता था, *लेकिन उनकी बुर्जुआजी दमित थी।* हमने ऊपर स्पष्ट किया है कि राष्ट्र के प्रश्न और अल्पसंख्यक राष्ट्रीयताओं के प्रश्न में अन्तर होता है। **जहां तक दमित राष्ट्रों का प्रश्न है, वे ऑस्ट्रिया-हंगरी के भीतर उपनिवेशीकृत या कब्जे में (**colonized/annexed**) ही थे।** *मिसाल के तौर पर, पोलैण्ड का वह हिस्सा जो कि ऑस्ट्रिया के अधिकार में था, वहाँ ऑस्ट्रिया का कब्ज़ा ही था, और वहाँ का प्रमुख राजनीतिक कार्यभार राष्ट्रीय मुक्ति का कार्यभार ही था।* वैसे तो ऑस्ट्रिया के भीतर राष्ट्रीय प्रश्न पर एक अलग निबन्ध में पूरी बात कहना बेहतर होगा और हम पाठकों की राजनीतिक जिज्ञासा को ध्यान में रखते हुए जल्दी ही यह निबन्ध पेश करने की कोशिश करेंगे, लेकिन, यहां हम बेहद संक्षेप में ऑस्ट्रिया-हंगरी साम्राज्य में मौजूद राष्ट्रीय प्रश्न के बुनियादी समीकरण को समझाने का प्रयास करेंगे, जिससे सुखविन्दर पूरी तरह से अनभिज्ञ हैं और इसीलिए ऐसे मूर्खतापूर्ण दावे कर रहे हैं मानो 1918 में हंगरी को राष्ट्रीय मुक्ति मिली थी।

पहली बात तो यह है कि ऑस्ट्रिया-हंगरी साम्राज्य 1867 में अस्तित्व में आया, *एक दोहरे राजतंत्र के रूप में।* यह पूरी इकाई कोई आधुनिक बुर्जुआ राज्य नहीं था, बल्कि एक बेहद विशिष्ट परिघटना थी, जिसमें कि ऑस्ट्रिया और हंगरी के राज्य एक योगात्मक गठजोड़ में साथ आये, और केन्द्रीय वित्तीय मसलों व विदेश नीति के मसलों के अलावा ऑस्ट्रिया और हंगरी के अपने-अपने अलग विधिक निकाय बरकरार थे, जो सारे फैसले लेते थे। नतीजतन, राष्ट्रीय प्रश्न की भी ऑस्ट्रिया व हंगरी में भिन्न स्थिति थी। ऑस्ट्रिया के भीतर जो दमित राष्ट्र व राष्ट्रीयताएं थीं, उन्हें क्षेत्रीय स्वायत्तता व भाषा के अधिकार समेत तमाम अधिकार उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध से ही एक हद तक मिलने लगे थे, लेकिन हंगरी में मैग्यार राष्ट्र अन्य राष्ट्रों व राष्ट्रीयताओं को निर्ममता से दबाकर रखता था। ऑस्ट्रिया के शासक वर्ग का यह प्रयास रहता

था कि हंगरी में भी राष्ट्रों व राष्ट्रीयताओं को स्वायत्ता का अधिकार मिले, लेकिन मैग्यार राष्ट्र का शासक वर्ग ऐसे सभी प्रयासों में लगातार बाधा पैदा करता था। इन दोनों के क्षेत्रों में जो दमित राष्ट्र थे वे थे: पोलिश, यूक्रेनियन, कुछ स्लाव राष्ट्र जैसे कि क्रोएत्स, इत्यादि। ये वे राष्ट्र थे, जिनकी अपनी स्पष्ट *टेरिटोरियैलिटी* थी और जिनका स्पष्ट रूप में राष्ट्रीय दमन हो रहा था। हालांकि ऑस्ट्रिया द्वारा कब्ज़ा किये गये पोलैण्ड के हिस्से में कुछ स्वायत्तता और भाषा के अधिकार दिये जाने लगे थे, लेकिन फिर भी पोलैण्ड की स्थिति ऑस्ट्रिया द्वारा किये गये कब्जे में दमित राष्ट्र की ही थी, उसकी बुर्जुआजी समेत।

इन दमित राष्ट्रों के अलावा, ऑस्ट्रिया-हंगरी साम्राज्य में कई दमित अल्पसंख्यक राष्ट्रीयताएं भी थीं जैसे कि रूमानियन, सर्ब, इतालवी आदि। इनकी लड़ाई मूलत: एक सुसंगत जनवाद की थी, जोकि बुर्जुआ जनवादी सुधारों के पूर्ण होने से जुड़ी हुई थी।

जहां तक **चेक राष्ट्र** का सवाल है, यह आरंभिक तौर पर ऑस्ट्रियन जर्मन और मैग्यार राष्ट्रों की तुलना में अधीनस्थ स्थिति में ही था, लेकिन इसका दखल उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध की ओर बढ़ रहा था, और ऑस्ट्रिया इन्हें बहुत सी छूटें और रियायतें दे रहा था। वास्तव में, एक हद तक इन्हें सत्ता में भागीदारी मिलती जा रही थी। लेकिन इसकी वजह से अन्य स्लाव राष्ट्रों का *एसर्शन* भी बढ़ रहा था, अधिकारों के लिए उनकी लड़ाई बढ़ रही थी, जिससे हंगरी के शासक खुश नहीं थे और इसलिए चेक राष्ट्र को मिलने वाली हर छूट या अधिकार पर उनका विरोध होता था। लिहाज़ा, चेक राष्ट्र के बढ़ते अधिकार क्षेत्र का प्रतिरोध करने वाला एक कारक भी मौजूद था। इस प्रकार चेक राष्ट्र को सत्ता में भागीदारी मिलने की प्रक्रिया काफी घर्षणों से भरी हुई थी। *लेकिन इतना तय है कि उन्हें साझीदारी मिलनी शुरू हो चुकी थी, जिसके बारे में लेनिन ने इशारा भी किया था, जैसा कि आप आगे देखेंगे।* इसलिए ऑस्ट्रिया-हंगरी साम्राज्य में चेक राष्ट्र की भूमिका केवल आंशिक तौर पर ही एक दमित राष्ट्र की रह गयी थी, और वह सत्ता में ऑस्ट्रियाई जर्मन राष्ट्र व मैग्यार राष्ट्र के शासक वर्गों का एक कनिष्ठ साझीदार बनता जा रहा था। *यह प्रक्रिया चल ही रही थी, जब प्रथम विश्व युद्ध की शुरुआत हुई और सारे समीकरण बदल गये।* यही वजह है कि चेक बुर्जुआजी की नुमाइन्दगी करने वाली पार्टियों **यंग चेक पार्टी** और फिर **चेक रियलिस्ट पार्टी** ने 1914 तक ऑस्ट्रिया-हंगरी के भीतर ही स्वायत्तता की मांग की थी, न कि कोई अलग राष्ट्र बनाने की। 1914 में विश्व युद्ध की शुरुआत होने पर यह मांग इसलिए उठी क्योंकि चेक राष्ट्र और स्लोवाक राष्ट्र (जो कि मूलत: हंगरी में था और चेक राष्ट्र जितना विकसित नहीं था) का राजनीतिक नेतृत्व अन्य पूर्वी व दक्षिण स्लाव राष्ट्रों (मुख्यत: सर्ब और रूसी) के खिलाफ ऑस्ट्रिया-हंगरी और जर्मनी की ओर से नहीं लड़ना चाहता था और टूटते ऑस्ट्रिया-हंगरी साम्राज्य से अलग होकर अपना राष्ट्र-राज्य स्थापित करना चाहता था। *चेक राष्ट्र की कौमी बुर्जुआजी की अवस्थिति में इस बदलाव का एक कारण यह भी था कि ऑस्ट्रिया-हंगरी साम्राज्य के सर्वाधिक औद्योगीकृत क्षेत्रों में से एक बोहेमिया चेक राष्ट्र के क्षेत्र में आता था।*

तो यह थी बेहद संक्षेप में ऑस्ट्रिया-हंगरी साम्राज्य के भीतर राष्ट्रीय प्रश्न की मौजूदगी की पूरी तस्वीर। प्रथम विश्वयुद्ध में ऑस्ट्रिया-हंगरी की पराजय, चेकोस्लोवाकिया, यूगोस्लाविया आदि देशों के रूप में अलग देशों के अस्तित्व में आने के साथ ऑस्ट्रिया-हंगरी साम्राज्य का विघटन होता है और ऑस्ट्रियाई व हंगेरियाई राष्ट्र के शासक वर्गों का वह संश्रय भी टूट जाता है जो कि ऑस्ट्रिया-हंगरी साम्राज्य का आधार था। **हंगरी का अलग होना दमित हंगेरियाई राष्ट्र की कौमी दमन से मुक्ति की लड़ाई का नतीजा नहीं था, जैसा कि सुखविन्दर को लगता है। यह दो साम्राज्यों की योगात्मक एकता (**aggregative unity**) का युद्ध की नतीजे के तौर पर टूटना था क्योंकि इनके संश्रय का भौतिक आधार समाप्त हो गया था। इसीलिए इतिहास विकीपीडिया से नहीं पढ़ना चाहिए।** खैर, मूल चर्चा पर वापस आते हैं।

यह सच है कि एशिया, अफ्रीका व लातिन अमेरिका के देशों के साम्राज्यवादी देशों द्वारा उपनिवेश/अर्द्धउपनिवेश बनाये जाने के साथ उपनिवेश/अर्द्धउपनिवेश एक नये प्रकार के अधिग्रहण (annexation) के रूप में सामने आये, जिनका रिश्ता साम्राज्यवाद के साथ था, *लेकिन लेनिन ने रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग की आलोचना पेश करते हुए बताया कि जहां तक राष्ट्रीय प्रश्न का सवाल है, इन दोनों में, यानी यूरोप के बहुराष्ट्रीय देशों में पहले से मौजूद राष्ट्रीय दमन के मामले और एशिया व अफ्रीका में उपनिवेशों/अर्द्धउपनिवेशों के मामले में, कोई अन्तर नहीं है। जहां तक राष्ट्रीय दमन का प्रश्न था, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता है कि दमित राष्ट्र किसी देश की ऐतिहासिक सीमाओं के भीतर थे और बाद में पूंजीवाद के विकास के साथ राष्ट्र बने, या फिर वे सात समन्दर दूर बनाये गये उपनिवेश थे। दोनों ही अलग-अलग ऐतिहासिक सन्दर्भों में किये गये कब्ज़े (annexations) ही थे।* अपने लेख '**आत्मनिर्णय-सम्बन्धी बहस के परिणाम**' में लेनिन रोज़ा लक्जेमबर्ग और उनके अनुयायियों द्वारा यूरोप के देशों के भीतर मौजूद उत्पीड़ित राष्ट्रों और उपनिवेशों में उत्पीड़ित राष्ट्रों के बीच अन्तर करने पर तीखी आलोचना करते हैं और बताते हैं कि जहां तक राष्ट्रीय प्रश्न के समाधान का प्रश्न है, इसमें कोई अन्तर नहीं है। लेनिन लिखते हैं:

> "**उन्होंने "यूरोप" तथा उपनिवेशों के बीच फर्क करने की कोशिश की है।** जहां तक यूरोप का सम्बन्ध है, वे पहले से सम्पन्न कब्ज़ों (annexations) को रद्द करने का परित्याग करके असंगत कब्ज़ावादी बन जाते हैं। जहां तक उपनिवेशों का सम्बन्ध है, वे बिना शर्त मांग करते हैं: "उपनिवेशों से बाहर निकलो!"
>
> "रूसी समाजवादियों के लिए आवश्यक है कि वे यह मांग पेश करें: "तुर्किस्तान, खीवा, बुखारा, वगैरा से बाहर निकलो।" परन्तु यह कहा जाता है कि यदि वे पोलैण्ड, फिनलैण्ड, यूक्रेन, वगैरा के लिए भी इसी प्रकार की अलग होने की आज़ादी की मांग करें, तो वे "कल्पनावाद", "अवैज्ञानिक", "भावुकता", आदि पर उतर आएंगे। ब्रिटिश समाजवादियों के लिए आवश्यक है कि वे यह मांग करें: "अफ्रीका, हिन्दुस्तान, ऑस्ट्रेलिया से बाहर निकलो!" परन्तु आयरलैण्ड से नहीं। **जो अन्तर इतने प्रकट रूप से झूठा है, उसे किस सैद्धान्तिक आधार पर समझाया जा सकता है**?
>
> ...
>
> "**उपनिवेशों को विशेषता प्रदान करते हुए तथा यूरोप से उनका मुकाबला करते हुए पोलिश साथी अपने सम्मुख एक ऐसा अन्तरविरोध उपस्थित कर लेते हैं कि वह उनके समस्त मिथ्या तर्क को तुरत ही काटकर रख देता है।**" (लेनिन, 1983, 'आत्मनिर्णय सम्बन्धी बहस के परिणाम', **संकलित रचनाएं**, **खण्ड**-6, प्रगति प्रकाशन, पृ. 102-105, ***ज़ोर हमारा***)

इससे ज्यादा स्पष्ट शब्दों में नहीं बताया जा सकता है कि *जहां तक राष्ट्रीय दमन व राष्ट्रीय प्रश्न का सवाल है*, कब्ज़ा सात समन्दर पार हो, या दमनकारी राष्ट्र के बगल में, या उसकी ऐतिहासिक सीमाओं के भीतर, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता है। इससे भी कोई फर्क नहीं पड़ता कि यह राष्ट्र-राज्य द्वारा है या किसी बहुराष्ट्रीय राज्य के शासक वर्ग द्वारा। **यदि कोई कहता है कि कश्मीर व उत्तर-पूर्व के राज्य भारत के उपनिवेश नहीं हैं, तो ऐसे व्यक्ति से ज्यादा बहस करना भी बेकार है, क्योंकि आप ही अपने आपको निकृष्ट मूर्खता के स्तर पर गिरा लेंगे।**

कश्मीर व उत्तर-पूर्व के राज्यों/कौमों के बारे में जो शब्द चल पड़ा है वह है 'आन्तरिक उपनिवेश' (internal colonies) क्योंकि इन राज्यों की जनता के कौम बनने से पहले ही ये क्षेत्र उस भू-राजनीतिक इकाई में इतिहास में अलग-अलग दौरों में शामिल रहे थे और विशेष तौर पर औपनिवेशिक दौर में शामिल रहे थे, जिसे भारत के नाम से जाना गया। लेकिन कौन-सा शब्द चल पड़ा है या नहीं उससे कोई फर्क नहीं पड़ता। यदि सुखविन्दर आज कहते हैं कि कश्मीर में कोई

औपनिवेशिक प्रश्न नहीं है, तब भी वह दमित है, तो इससे ज्यादा बेतुकी और मूर्खतापूर्ण बात और कोई नहीं हो सकती है। जहां तक राष्ट्रीय दमन की बात है, उसके लिए लेनिन की यह सामान्य परिभाषा ही एकमात्र परिभाषा हो सकती है: **किसी राष्ट्र को उसकी इच्छा के विरुद्ध किसी राज्य की सीमाओं में रखा जाना।** देखें:

> "अपनी आपत्तियां प्रकट करते हुए हमारे विरोधी कहते हैं: "हम जानते हैं कि समाजवाद हर तरह के राष्ट्रों के उत्पीड़न का उन्मूलन करता है, क्योंकि वह उन वर्ग हितों को ही उन्मूलित कर देता है, जो राष्ट्रों के उत्पीड़न को जन्म देते हैं..." राष्ट्रों के उत्पीड़न के उन्मूलन की **आर्थिक** पूर्वापेक्षाओं के बारे में इस निर्विवाद तथा दीर्घकाल से सुपरिचित तर्क का उस बहस से क्या लेना-देना है, **जिसका सम्बन्ध *राजनीतिक* उत्पीड़न के *एक रूप* से, अर्थात् एक राष्ट्र को बलात् दूसरे राष्ट्र की राजकीय सीमाओं के भीतर रखने से है? वास्तव में यह राजनीतिक सवालों से कतराने की एक कोशिश भर है!"** (लेनिन, ***वही***, पृ. 83, ***ज़ोर हमारा***)

यह दमनकारी राष्ट्र के ठीक पड़ोस में होता है, या हज़ारों मील दूर किसी और महाद्वीप में, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। याद रखें, यहां हम अल्पसंख्यक राष्ट्रीयताओं की बात नहीं कर रहे हैं, बल्कि राज्य बनने की सम्भावनासम्पन्नता रखने वाले *टेरिटोरियल* राष्ट्रों (nations with territoriality viable for statehood) की बात कर रहे हैं।

इसलिए ऑस्ट्रिया में राष्ट्रीय प्रश्न जिन दमित राष्ट्रों के लिए मौजूद था, वे ऑस्ट्रिया के उपनिवेश/कब्ज़ा ही थे और जहां तक राष्ट्रीय प्रश्न का सवाल है, हम उनमें या सात समन्दर पार स्थित उपनिवेशों में कोई अन्तर नहीं कर सकते हैं। इसके अलावा, ऑस्ट्रिया में राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों का प्रश्न था, जिनके लिए बावर व रेनर जैसे लोग सांस्कृतिक-राष्ट्रीय स्वायत्तता मांग रहे थे, जबकि लेनिन व स्तालिन उनके लिए सुसंगत जनवाद की लड़ाई और राष्ट्रों के लिए क्षेत्रीय स्वायत्तता की बात कर रहे थे, यदि वे एक ही राज्य के मातहत रहना स्वीकार करते। इसलिए दमित राष्ट्रों के लिए लेनिन द्वारा किसी भी ऐतिहासिक सन्दर्भ में एक ही कार्यक्रम सुझाया गया है: राष्ट्रों के आत्मनिर्णय का अधिकार, यानी, उनके अलग होने का अधिकार। जहां तक ऑस्ट्रिया-हंगरी में ऑस्ट्रियाई जर्मन व हंगेरियाई राष्ट्रों की बात थी, तो वे दमित राष्ट्र नहीं थे, और प्रमुख स्लाव राष्ट्र चेक को भी राज्यसत्ता में हिस्सेदारी मिल रही थी, जिसकी लेनिन ने चर्चा की है और इसीलिए उनके लिए उन अर्थों में राष्ट्रीय प्रश्न मौजूद ही नहीं था। देखें कि लेनिन क्या कहते हैं:

> "पहली बात यह है कि हम पूंजीवादी जनवादी क्रान्ति के पूरी होने का बुनियादी सवाल उठाते हैं। ऑस्ट्रिया में यह क्रान्ति 1848 में आरंभ हुई और 1867 में समाप्त हुई। तब से, लगभग 50 वर्ष से वहां जिस चीज़ का प्रभुत्व रहा है, वह कुल मिलाकर पूर्णत: स्थापित पूंजीवादी संविधान है जिसके आधार पर मज़दूरों की एक कानूनी पार्टी कानूनी ढंग से काम कर रही है।
>
> "इसलिए ऑस्ट्रिया के विकास की अन्तर्निहित परिस्थितियों में (अर्थात ऑस्ट्रिया में आम तौर पर, और उन अलग-अलग राष्ट्रों में, खास तौर पर, पूंजीवाद के विकास के दृष्टिकोण से) **कोई ऐसे कारक नहीं हैं, जिनकी वजह से ऐसी छलांग मारना सम्भव हो, जिसका एक परिणाम राष्ट्रीय रूप से स्वतंत्र राज्यों की स्थापना हो।** अपनी तुलना द्वारा यह मानकर कि इस मामले में रूस की स्थिति भी वैसी ही है, रोज़ा लक्जेमबर्ग केवल यही नहीं करतीं कि वह एक मूलत: ग़लत इतिहास-विरोधी बात को मानी हुई बात समझ बैठती हैं, बल्कि वह अनायास ही विसर्जनवाद में जा फंसती हैं।
>
> "दूसरे, जिस प्रश्न पर हम विचार कर रहे हैं, उसकी दृष्टि से ऑस्ट्रिया तथा रूस में राष्ट्रों के सर्वथा भिन्न पारस्परिक सम्बन्ध बहुत महत्व रखते हैं। केवल यही बात नहीं है कि ऑस्ट्रिया बहुत समय तक एक ऐसा राज्य रहा जिसमें जर्मन लोगों की प्रधानता रही, बल्कि बात यह भी थी कि ऑस्ट्रियाई जर्मन समूचे तौर पर जर्मन राष्ट्र

में भी अगुवाई का दावा करते थे। शायद रोज़ा लक्जेमबर्ग...यह याद करने की कृपा करेंगी कि 1866 के युद्ध ने इस "दावे" की धज्जियां उड़ा दीं थीं। ऑस्ट्रिया में जिस जर्मन राष्ट्र की प्रधानता थी, उसने अपने आपको उस स्वतंत्र जर्मन राज्य के **घेरे से बाहर** पाया, जिसका निर्माण अन्ततः 1871 में सम्पन्न हुआ। दूसरी ओर, हंगरी वालों की एक स्वतंत्र राष्ट्रीय राज्य बनाने की कोशिश बहुत पहले 1849 में रूसी भूदास सेना के हमलों की वजह से निष्फल हो चुकी थी।

"इस प्रकार एक विचित्र परिस्थिति पैदा हो गयी: हंगरी वालों की तरफ से और फिर चेकों की तरफ से भी, ऑस्ट्रिया से अलग होने की नहीं बल्कि इसके विपरीत ठीक राष्ट्रीय स्वतंत्रता को बनाए रखने के उद्देश्य से, जो अधिक खूंखार तथा शक्तिशाली पड़ोसियों द्वारा पूरी तरह से कुचली जा सकती थी, उसकी अखण्डता को बनाए रखने की कोशिश की गयी! **इस विचित्र परिस्थिति के कारण ऑस्ट्रिया ने एक दोहरे राज्य का रूप धारण कर लिया और इस समय वह एक तिहरे राज्य (जर्मन, हंगेरियाई तथा स्लाव) में रूपांतरित हो रहा है।**

"क्या रूस में इस प्रकार की कोई बात है? क्या हमारे देश में **बदतर** राष्ट्रीय दमन के खतरे से बचने के लिए गैर-रूसियों की तरफ से रूसियों के साथ एकता स्थापित करने की कोई कोशिश हुई है?" (लेनिन, **राष्ट्रों के आत्मनिर्णय का अधिकार**)

इसके बाद लेनिन बताते हैं कि रूस में महान रूसी राष्ट्र के अधिपत्य में एक *एककेन्द्रीय राष्ट्रीय राज्यसत्ता* है, जो कि ऑस्ट्रियाई मामले से बिल्कुल भिन्न है, जिसकी राज्यसत्ता के दो राष्ट्र साझीदार बन चुके हैं और तीसरा राष्ट्र (स्लाव) साझीदार बनने की प्रक्रिया में है। फिर लेनिन लिखते हैं:

"प्रसंगवश, शुद्धतः तथ्यों की दृष्टि से भी रोज़ा लक्जेमबर्ग का यह कहना कि ऑस्ट्रिया के सामाजिक-जनवादियों के कार्यक्रम में राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के अधिकार को नहीं माना गया है, गलत है। यदि हम ब्रुन कांग्रेस के कार्यविवरण को देखभर लें, जिसमें राष्ट्रीय कार्यक्रम स्वीकार किया गया था, **तो हम उसमें पूरे उक्रइनी (रूथेनियाई) प्रतिनिधि मण्डल की ओर से रूथेनियाई सामाजिक-जनवादी हांकियेविच और पोलैण्ड के पूरे प्रतिनिधि मण्डल की ओर से पोलैण्ड के सामाजिक-जनवादी रेगेर के इस आशय के वक्तव्य देखेंगे कि उपरोक्त दोनों राष्ट्रों के ऑस्ट्रियाई सामाजिक-जनवादियों की एक आकांक्षा राष्ट्रीय एकता तथा अपने राष्ट्रों की स्वतंत्रता तथा आज़ादी हासिल करना है।**" (वही)

यानी कि ऑस्ट्रिया के वे राष्ट्र जो दमित थे, जैसे कि पोल व यूक्रेनी, उनके लिए वही कार्यक्रम रखा गया था, जो कि दमित राष्ट्रों के लिए एकमात्र सही कार्यक्रम है: यानी राष्ट्रों के अलग होने का अधिकार। क्योंकि ये कौमें ऑस्ट्रिया में कब्ज़ा (annexation) या उपनिवेश (colonies) की स्थिति में ही थे। जहां तक ऑस्ट्रियाई राज्यसत्ता में हिस्सेदारी रखने वाले राष्ट्रों का प्रश्न है, उनमें भी सत्ता की साझीदारी के अनुपात को लेकर खींचतान चलती रहती थी, लेकिन यह अब सारतः कौमी दमन नहीं था, क्योंकि इन सभी कौमों को सत्ता में हिस्सेदारी प्राप्त हो चुकी थी। इसलिए यदि सुखविन्दर को ऐसा लगता है कि ऑस्ट्रिया में राष्ट्रीय प्रश्न महज़ इस रूप में मौजूद था कि जिसमें न तो उपनिवेश थे और न ही बुर्जुआजी का कोई हिस्सा दमित था और न ही कोई भूमि प्रश्न मौजूद था, ***तो उन्हें थोड़ा इतिहास पढ़ लेना चाहिए। हालांकि अगर वह लेनिन का ही लेखन ठीक से पढ़ते तो इतना समझ सकते थे।***

काउत्स्की के उद्धरणों की सुखविन्दर द्वारा की गयी ग़लत व्याख्या और शासक वर्गों के राष्ट्रीय चरित्र के निर्धारण का सवाल

काउत्स्की के उद्धरण के हवाले से (जिसकी सुखविन्दर ग़लत व्याख्या करते हैं) कहा गया है कि,

> “किसी बहुराष्ट्रीय देश में किसी एक राष्ट्र का स्पष्ट दबदबा न हो यह सम्भव है” (सुखविन्दर, 'राष्ट्रीय प्रश्न और मार्क्सवाद', प्रतिबद्ध-33)

जैसे कि ऑस्ट्रिया, जहां *जनसँख्या की दृष्टि से* किसी एक राष्ट्र की बहुसंख्या नहीं थी और इसलिए साम्राज्य के केंद्र में कोई एक राष्ट्र नहीं था। ऐसा प्रतीत होता है कि इससे सुखविन्दर यह नतीजा निकालते हैं कि वहां पर कोई ऐसा शासक वर्ग था जिसका कोई राष्ट्रीय चरित्र ही नहीं था। और फिर इस स्थिति की तुलना वह भारत से करते हैं। इसके लिए लेखक द्वारा काउत्स्की की रचना 'राष्ट्रीयता और अन्तरराष्ट्रीयता' और स्तालिन की रचना 'मार्क्सवाद और राष्ट्रीय प्रश्न' से उद्धरण दिए गए हैं। ये उद्धरण निम्नलिखित हैं-

> "ये (बहुराष्ट्रीय राज्य) वे राज्य हैं जिनका आन्तरिक गठन, किन्हीं भी कारणों से, पिछड़ा या असामान्य बना रहा। इसे तुर्की और रूस के मामले में स्पष्ट तौर पर देखा जा सकता है, लेकिन यह आर्थिक रूप से उन्नत दो देशों के बारे में भी सच है, यानी बेल्जियम व स्विट्ज़रलैण्ड।"
>
> (कार्ल काउत्स्की, ‘राष्ट्रीयता और अन्तरराष्ट्रीयता’, भाग-2, क्रिटीक, भाग 38, नंबर 1, पेज 149, फरवरी 2010)

पहले, सुखविन्दर द्वारा पेश किये गए काउत्स्की के इस उद्धरण को ही लेते हैं। सुखविन्दर कहते हैं:

> “काउत्स्की का यह कथन भारत, पाकिस्तान और तीसरी दुनिया के अन्य ऐसे बहुराष्ट्रीय देशों के लिए प्रासंगिक है।” (सुखविन्दर, 'राष्ट्रीय प्रश्न और मार्क्सवाद', प्रतिबद्ध-33)

जिस हद तक ऑस्ट्रिया समेत पूर्वी यूरोप के कुछ देश बहुराष्ट्रीय थे और पश्चिमी यूरोप के बाकी उन्नत पूंजीवादी देशों (जहां के विशिष्ट ऐतिहासिक विकास क्रम ने एकल राष्ट्र-राज्यों को जन्म दिया) के मुकाबले पिछड़े थे, *उस हद तक* आप यह तुलना कर सकते हैं। लेनिन इसे इस रूप में व्याख्यायित करते हैं-

> "राष्ट्रीय राज्य वर्तमान दौर की स्थितियों (यानी, मध्यकालीन, प्राक्-पूंजीवादी, आदि स्थितियों के विपरीत पूंजीवादी, सभ्य, आर्थिक रूप से प्रगतिशील स्थितियों) के लिए सबसे अनुकूल रूप है; यह वह रूप है जिसमें कि राज्य अपने कार्यभारों को सबसे अच्छी तरह से पूरा कर सकता है (यानी, पूंजीवाद के सर्वाधिक मुक्त, व्यापकतम व तीव्रतम विकास को सुनिश्चित करना)। इसमें हमें काउत्स्की की और भी सटीक अन्तिम टिप्पणी को जोड़ देना चाहिए यानी मिश्रित राष्ट्रीय बनावट वाले देश (जिन्हें राष्ट्रीय राज्यों के विपरीत बहुराष्ट्रीय राज्यों के रूप में जाना जाता है) "हमेशा वे देश होते हैं जिनका आन्तरिक गठन, किन्हीं भी कारणों से, अल्पविकसित (पिछड़ा) या असामान्य बना रहा।" कहने की आवश्यकता नहीं है कि काउत्स्की यहां असामान्यता की बात ठीक उस एकरूपता के अभाव के सन्दर्भ में कर रहे हैं जो कि एक विकासशील पूंजीवाद के लिए सबसे अनुकूल होता है।" (लेनिन, **राष्ट्रों के आत्मनिर्णय का अधिकार**)

आगे बढ़ने से पहले स्पष्ट कर दें कि सुखविन्दर इस तुलना में एक बात भूल जाते हैं कि भारत, पाकिस्तान और तथाकथित ‘तीसरी दुनिया’ के अन्य देश भूतपूर्व उपनिवेश हैं और यहाँ राष्ट्रीय दमन का एक इतिहास रहा है और राष्ट्रीय

मुक्ति आन्दोलनों का भी एक इतिहास रहा है। भारत जैसे उत्तर-औपनिवेशिक देशों में राष्ट्रीय प्रश्न को इसलिए दो ऐतिहासिक चरणों में बांटकर देखने की ज़रुरत है -- पहला वह जब तमाम अलग-अलग राष्ट्रों ने, जिन्हें मिलाकर आज मुख्यभूमि भारत कहते हैं, मिलकर औपनिवेशिक ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध संघर्ष किया (अभी यहाँ इस बहस में नहीं जाते हैं कि यह संघर्ष कितने समझौतापरस्त तरीके से चलाया गया था और आज़ादी कैसे हासिल हुई थी) और सत्ता-हस्तांतरण की प्रक्रिया में सत्ता भारतीय पूंजीपति वर्ग के हाथ में आई जिसमें मुख्यभूमि भारत के सभी राष्ट्रों के बुर्जुआ वर्ग व भूस्वामी वर्ग का शेयर था। निश्चि□त तौर पर, यह हिस्सेदारी मोटा-मोटी इन कौमों के बुर्जुआ वर्ग की सापेक्षिक शक्ति, आबादी के सापेक्षिक आकार के अनुसार थी, जैसा कि आप उम्मीद कर सकते हैं और इस हिस्सेदारी के अनुपातों को बदलने के लिए इनमें कशमकश भी चलती रहती है, जैसा कि सभी ऐसी राज्यसत्ताओं में होता है, जिसमें कि कई कौमों के बुर्जुआ वर्ग की हिस्सेदारी हो। नतीजतन, ऐसी हिस्सेदारियों के आपसी अनुपात बदलते भी रहते हैं। **इसलिए जो राज्यसत्ता अस्तित्व में आई वह एक सम्मिश्रित/सम्मिलित राष्ट्रीय चरित्र** (composite national character) **वाली बुर्जुआ राज्यसत्ता थी। यह सोचना मूर्खता होगा कि चूंकि इस राज्यसत्ता में *एक दमनकारी राष्ट्र* का स्पष्ट दबदबा नहीं था इसलिए इसका कोई राष्ट्रीय चरित्र ही नहीं था और यह एक *अराष्ट्रीय* (**anational**) शासक वर्ग था।** यह एक अनैतिहासिक और अवैज्ञानिक बात है। ऐसी राज्यसत्ताएं पहले भी अस्तित्व में आई हैं। लेनिन लिखते हैं:

> "इस प्रकार एक बेहद विशिष्ट स्थिति पैदा हुई -- हंगेरियाई व चेक राष्ट्रों द्वारा ऑस्ट्रिया से अलग होने की चाहत नहीं, बल्कि, उसके विपरीत, ऑस्ट्रिया की अखण्डता को बचाने की चाहत, *ठीक अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता को बचाने के लिए*, जो अधिक लुटेरे व शक्तिशाली पड़ोसियों द्वारा पूर्णत: कुचल दी गयी होती! इस विशिष्ट स्थिति के कारण, ऑस्ट्रिया ने एक ***दोहरे राज्य*** का स्वरूप अख्तियार कर लिया, और अब वह ***तिहरे राज्य*** (जर्मन, हंगेरियाई, स्लाव राष्ट्र) में बदला जा रहा है।" (लेनिन, **राष्ट्रों के आत्मनिर्णय का अधिकार)**

यहां लेनिन बताते हैं कि विशिष्ट ऐतिहासिक कारणों से ऑस्ट्रियाई जर्मन कौम नवनिर्मित जर्मन राष्ट्र के दायरे से बाहर कर दी गयी थी, हंगेरियाई कौम रूसी आक्रमण के कारण अपने राष्ट्र-राज्य को निर्मित नहीं कर पा रही थी, वहीं स्लाव राष्ट्र भी अपने आप को अन्य राष्ट्रों द्वारा कौमी दमन से मुक्त कर स्वतन्त्र राष्ट्र-राज्य को बना पाने में असफल थे। नतीजतन, एक विशिष्ट परिस्थिति पैदा हुई जिसमें कि ये तीनों राष्ट्र ऑस्ट्रिया को एक बहुराष्ट्रीय राज्य के रूप में स्थापित करने में अपना हित देखते थे और इसी वजह से इन तीनों की भागीदारी के ज़रिये एक ऐसा ऑस्ट्रियाई-हंगेरियाई राज्य अस्तित्व में आया, जिसमें दो राष्ट्रों की हिस्सेदारी थी, जो कि लेनिन के उपरोक्त निबन्ध के दौर में तीन राष्ट्रों की हिस्सेदारी में तब्दील हो रही थी। **जैसा कि हम पहले जिक्र कर चुके हैं, सुखविन्दर को लगता है कि 1918 में ऑस्ट्रिया-हंगरी का अलग होना हंगरी द्वारा किसी राष्ट्रीय राज्य के निर्माण के मुक्ति आन्दोलन का नतीजा था! तो इस पर हम यही कह सकते हैं कि सुखविन्दर को एक बार इतिहास का ढंग से अध्ययन करना चाहिए। बिना पढ़े लिखना अपने आपको मार्क्सवादी बताने वाले व्यक्ति को शोभा नहीं देता है।** ऑस्ट्रिया-हंगरी का अलग होना प्रथम विश्वयुद्ध में धुरी शक्तियों की पराजय का नतीजा था, जिन धुरी राष्ट्रों में ऑस्ट्रिया-हंगरी भी शामिल था। ऑस्ट्रिया-हंगरी साम्राज्य एक बहुत ही विशिष्ट परिघटना थी, जिसमें 1867 में ऑस्ट्रिया व हंगरी के साम्राज्य दोहरे राजतंत्र के साथ एक हुए। वहां पर राष्ट्रीय प्रश्न की स्थिति भी बहुत ही विशिष्ट थी, जिस पर ऊपर हम संक्षेप में चर्चा कर चुके हैं। प्रथम विश्वयुद्ध के कारण पैदा हुई परिस्थितियों में और धुरी शक्तियों की पराजय के कारण, दो साम्राज्यों की यह योगात्मक एकता टूट गयी। *लेकिन राष्ट्रों की मुक्ति के ज़रिये राष्ट्र-राज्यों के निर्माण के महान ऐतिहासिक मार्च से*

सुखविन्दर सुख-मिश्रित आश्चर्य में घिर गये हैं और उन्हें लगता है कि हंगरी भी ऑस्ट्रिया से इस प्रक्रिया में अलग होकर राष्ट्र-राज्य बना था! यूरोप के इतिहास का कोई भी विद्यार्थी इस पर हंस ही सकता है।

खैर, भारत की इस उत्तर-औपनिवेशिक बहुराष्ट्रीय भारतीय राज्यसत्ता द्वारा कश्मीर और उत्तर-पूर्व में कौमों के दमन का सिलसिला जारी रखा गया, जिसमें **ज़बरन कब्ज़े** का पहलू सर्वोपरि था। लेनिन अपने लेख, 'आत्मनिर्णय सम्बन्धी बहस के परिणाम', में राष्ट्रीय दमन को सटीकता से परिभाषित करते हुए यह कहते हैं: **राष्ट्रीय दमन "राजनीतिक उत्पीड़न का एक रूप है, जो कि किसी कौम को ज़बरन किसी अन्य कौम के राज्य की सीमाओं के भीतर रखने का नाम है।"** लेनिन इसी लेख में स्पष्ट करते हैं कि यह कब्ज़ा देश की पहले से अस्तित्वमान सीमाओं के भीतर हो सकता है, या सात समन्दर पार, इससे ***राष्ट्रीय प्रश्न के समाधान के सारतत्व*** पर कोई असर नहीं पड़ता है।

आज के दौर में भारत में इसी रूप में राष्ट्रीय प्रश्न मौजूद है जो कि इस दूसरे ऐतिहासिक चरण की चारित्रिक अभिलाक्षणिकता है। इसलिए पूर्वी यूरोप के देशों के साथ उत्तर-औपनिवेशिक 'तीसरी दुनिया' के देशों का कोई सादृश्य-निरूपण सम्भव नहीं है जैसा कि सुखविन्दर करते हैं। वैसे भी मार्क्सवाद का कोई आरंभिक विद्यार्थी भी आधुनिक **उत्तर-औपनिवेशिक बुर्जुआ राज्यसत्ताओं** (जैसे कि भारत, इण्डोनेशिया, मिस्र, सीरिया, लेबनॉन, आदि) और उन्नीसवीं सदी व बीसवीं सदी के आरम्भ के दौर के **ऐसे साम्राज्यों** के बीच बुनियादी फर्क को समझ सकता है, **जिनकी पहचान विभिन्न राजतन्त्रों की योगात्मक एकता**, **प्राक्-पूंजीवादी राज्य संरचना**, **अधूरे संवैधानिक राजतंत्र** पर आधारित है। सिर्फ इन दोनों प्रकार के राज्यों के बहुराष्ट्रीय होने की वजह से इनका सादृश्य निरूपण करना वैसा ही है जैसे कि कोई कहे कि चूंकि मेज़ के चार पांव हैं और गधे के चार पांव हैं, इसिलए मेज़ गधा है! इतिहास के बारे में ऐसी शर्मनाक नाजानकारी दिखाना वैसे भी सुखविन्दर की आम आदत है।

प्रसंगवश बता दें कि हमारा पूर्वानुमान है कि 'प्रतिबद्ध' भारत के उपनिवेशवाद-विरोधी आंदोलन को राष्ट्रीय आन्दोलन नहीं मानता है, क्योंकि वह किसी एक राष्ट्र द्वारा चलाया गया स्वतन्त्रता का आन्दोलन नहीं था। ठीक उसी प्रकार जैसे कि उनके अनुसार भारत के शासक वर्ग का कोई राष्ट्रीय चरित्र नहीं है, क्योंकि उसमें एक दमनकारी राष्ट्र का दबदबा नहीं है! ऐसा लगता है कि सुखविन्दर को 'राष्ट्रीय' शब्द का अर्थ ही समझ में नहीं आया है। खैर, ऐसी बात 'ललकार-प्रतिबद्ध' ग्रुप अपने 'ललकार' फेसबुक पेज पर लिख चुका है। ऐसे लोगों से हम यही कहेंगे कि एक बार माओ की रचना 'चीनी क्रान्ति और चीनी कम्युनिस्ट पार्टी' पढ़ लें, जो कि माओ ने 1939 में लिखी थी। **कोई स्वतन्त्रता आन्दोलन कई राष्ट्रों द्वारा मिलकर किसी एक या कई साम्राज्यवादी देशों/कौमों के पूंजीपति वर्ग के विरुद्ध चलाये जाने के बावजूद भी राष्ट्रीय आन्दोलन कहा जा सकता है और उसे कहा ही जाना चाहिए।** इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि विजयी होने पर ऐसा राष्ट्रीय आन्दोलन किसी राष्ट्र-राज्य की नहीं, बल्कि एक बहुराष्ट्रीय राज्य की स्थापना करेगा, जिसकी राज्यसत्ता में कई कौमों की बुर्जुआजी की हिस्सेदारी हो सकती है। *बहरहाल, चूँकि अभी उन्होंने 'प्रतिबद्ध' के इस लेख में यह अवस्थिति रखी नहीं है, इसलिए यहाँ इसकी विस्तार से चर्चा करना अप्रासंगिक है। हालांकि अगर उनकी ऐसी अवस्थिति है तो यह अवश्य ही अन्य कई दिलचस्प क़िस्म की प्रस्थापनाओं को जन्म देगा। हमें इसका इंतज़ार रहेगा।*

इसके बाद सुखविन्दर काउत्स्की का यह दूसरा उद्धरण देते हैं-

> "वहीं दूसरी ओर रूस में चीजें अलग हैं, लेकिन वे फिर भी ऑस्ट्रिया से कुछ सरल हैं। रूस कई राष्ट्रीयताओं के साथ एक विशाल केन्द्रीकृत राज्य है, लेकिन उसका मुख्य कोर, यानी आबादी का बेहद विशाल हिस्सा रूसी से बनता है, और दूसरे राष्ट्र मुख्यत: साम्राज्य की परिधि पर रहते हैं।

"यूरोपीय रूस की आबादी में से 84 मिलियन रूसी हैं, आठ मिलियन पोल, पांच मिलियन यहूदी, तीन मिलियन लिथुआनियंस, लगभग इतने ही फिन, दो मिलियन जर्मन और एक मिलियन रूमानियन व आर्मेनियन हैं। रूस इन राष्ट्रों को बिना किसी समस्या के स्वायत्तता दे सकता है। वास्तव में, जिस हद तक ये राष्ट्र जुड़े हुए क्षेत्रों में रहते हैं, उन्हें मुख्य देश से उसके अस्तित्व पर कोई ख़तरा पैदा किये बिना अलग किया जा सकता है।

"ऑस्ट्रिया में यह अलग है। यह राष्ट्रों की विशाल संख्या के कारण स्विट्जरलैण्ड व बेल्जियम से अलग है -- कुल मिलाकर नौ, या यदि हम स्लोवाक्स को चेक से अलग, व सर्ब को क्रोएत्स से अलग गिनें, तो 11 राष्ट्र...ऑस्ट्रिया इस मायने में रूस से भी भिन्न है कि इसका कोई एक राष्ट्र अन्य राष्ट्रों से आबादी में विचारणीय रूप से ज्यादा नहीं है, और कोई भी साम्राज्य के केन्द्र में नहीं रहता है। जर्मन कुल 11 मिलियन हैं, हंगेरियाई (मैग्यार) नौ मिलियन हैं, चेक (स्लोवाक्स के साथ) आठ मिलियन हैं, पोल्स व रूथेनियंस चार-चार मिलयन हैं, सर्बो-क्रोएत्स भी लगभग इतने ही हैं, रूमानियंस तीन मिलियन हैं, स्लोवेनियन एक मिलियन से अधिक हैं और इतालवी लगभग 1 मिलियन हैं। **बाद वाले राष्ट्र परिधि पर रहते हैं, लेकिन तीन बड़े राष्ट्र, यानी जर्मन, मैगयार व चेकोस्लोवाकियंस, सभी साम्राज्य के केन्द्र में विस्तारित हैं।** फिर वे विएना के करीब ब्रातिस्लावा में टकराते हैं। यूरोप में कोई भी बहुराष्ट्रीय राज्य, सम्भवत: तुर्की के अपवाद के साथ, अपने आप को राष्ट्रीयताओं के मामले में ऐसी कठिन स्थिति में नहीं पाता है। यह एक टिपिकल बहुराष्ट्रीय राज्य नहीं है, क्योंकि कोई टिपिकल बहुराष्ट्रीय राज्य होता ही नहीं है -- हर बहुराष्ट्रीय राज्य अपने आप में एक अनोखा मामला होता है।" (कार्ल काउत्स्की, 'राष्ट्रीयता और अंतरराष्ट्रीयता', भाग-2, क्रिटीक, भाग 38, नंबर 1, पेज 150-151, फरवरी 2010)

इस लम्बे उद्धरण के बाद सुखविन्दर यह निष्कर्ष निकालते हैं:

"काउत्स्की का कहना है कि कई बहुराष्ट्रीय राज्यों में एक राष्ट्र का स्पष्ट दबदबा होता है और यह भी संभव है कि किसी बहुराष्ट्रीय देश में किसी एक राष्ट्र का स्पष्ट दबदबा न हो।" (सुखविन्दर, 'राष्ट्रीय प्रश्न और मार्क्सवाद', प्रतिबद्ध-33)

इससे भी सुखविन्दर कुछ ऐसा नतीजा निकालते हैं कि ऐसा शासक वर्ग होना सम्भव है, जिसका कोई राष्ट्रीय चरित्र ही न हो! हम समझ सकते हैं कि सुखविन्दर ऐसा क्यों कर रहे हैं। **इसकी वजह यह है कि अगर भारतीय शासक वर्ग में कई कौमों की बुर्जुआजी के प्रतिनिधित्व की बात को स्पष्ट तरीके से कहा जायेगा, तो सुखविन्दर को यह भी बताना पड़ेगा कि उसमें पंजाबी बुर्जुआजी की हिस्सेदारी है या नहीं। और यदि पंजाबी बुर्जुआजी की उसमें हिस्सेदारी है और भारत का शासक वर्ग पंजाब का कौमी दमन कर रहा है, तो यह मानना पड़ेगा कि पंजाबी बुर्जुआजी पंजाबी कौम का कौमी दमन कर रही है! लेकिन यह भयंकर हास्यास्पद बात होगी। इसलिए इस नतीजे पर पहुंचने से बचने के लिए या तो सुखविन्दर को पंजाबी बुर्जुआजी को भारतीय राज्यसत्ता का दलाल बताना पड़ेगा या फिर उन्हें भारतीय शासक वर्ग से उसका राष्ट्रीय चरित्र (जो कि बहुराष्ट्रीय है क्योंकि उसमें कई कौमों की बुर्जुआजी की हिस्सेदारी है) ही छीनना पड़ेगा, ताकि उसे एक अराष्ट्रीय (**anational**) शासक वर्ग बताया जा सके, जो कि सुखविन्दर के निराले कल्पना लोक में पंजाबी कौम का दमन कर रहा है!**

सम्भवत: उनके अनुसार यह भारत के बहुराष्ट्रीय राज्य की बड़ी बुर्जुआजी है, जिसका या तो कोई राष्ट्रीय चरित्र ही नहीं है (न तो एकराष्ट्रीय या फिर बहुराष्ट्रीय, यानी, वह मंगल ग्रह से आई है!) या फिर इसका चरित्र गुजराती व मारवाड़ी है, क्योंकि सुखविन्दर आगे बताते हैं कि 100 सबसे धनी भारतीयों में से 80 गुजराती हैं

और इसमें मारवाड़ियों को जोड़ दें तो यह आंकड़ा और भी ऊपर चला जाता है। वैसे तो यह आंकड़ा ही दुरुस्त नहीं है, जिस पर हम आगे आएंगे, लेकिन सुखविन्दर के पास फिर दो ही परिणाम बचते हैं: एक, भारत की अराष्ट्रीय बड़ी बुर्जुआजी पंजाब का कौमी दमन कर रही है; या दो, भारत की बड़ी बुर्जुआजी मूलत: गुजराती-मारवाड़ी है और उसमें पंजाबी बुर्जुआजी की हिस्सेदारी नहीं है, और इस प्रकार न सिर्फ पंजाब बल्कि सभी कौमें (गुजरातियों को छोड़कर) भारत में दमित हैं, क्योंकि उन्हें शासक वर्ग में हिस्सेदारी हासिल नहीं है। तब नतीजा यह होगा कि इन सभी कौमों में क्रान्ति की मंजिल राष्ट्रीय जनवादी है और ऐसी क्रान्ति के ज़रिये उनको अलग हो जाना चाहिए और अलग राष्ट्र-राज्य बना लेने चाहिए! जो लोग भारत के कम्युनिस्ट आन्दोलन के इतिहास से परिचित होंगे, उन्हें इस पूरी कार्यदिशा में के. वेणु की कार्यदिशा की स्पष्ट छाया दिखाई दे, तो इस पर ताज्जुब न करें, आपको ठीक ही दिखाई दे रहा है। अब पाठक इन दोनों ही नतीजों की हास्यास्पदता के स्तर का आकलन स्वयं कर लें, हम तो हाथ खड़े करते हैं!

खैर, काउत्स्की के उपरोक्त उद्धरण की ग़लत व्याख्या के ज़रिये हमारे लेखक महोदय ने यहाँ दिखला दिया है कि वह प्रतीतिगत यथार्थ (apparent reality) और सारभूत यथार्थ (essential reality) में फर्क नहीं कर पाते हैं। **आबादी के लिहाज़ से किसी एक राष्ट्र का दबदबा न होना एक बात है और आर्थिक-राजनीतिक तौर पर प्रभुत्वशाली होना दूसरी बात है। लेकिन सुखविन्दर को यह फर्क समझ में नहीं आता है।**

हमने ऊपर लेनिन के 'राष्ट्रों के आत्मनिर्णय का अधिकार' लेख से एक उद्धरण पेश किया था जिसमें लेनिन ऑस्ट्रिया में पैदा हुई एक विशिष्ट परिस्थिति की बात कर रहे थे जिसमें कि ऑस्ट्रिया, हंगरी और स्लाव (मूलत: चेक राष्ट्र), ये तीनों राष्ट्र ऑस्ट्रिया को एक बहुराष्ट्रीय राज्य के रूप में स्थापित करने में अपना हित देखते थे और इस रूप में लेनिन ऑस्ट्रिया में एक "दोहरे राज्य" (dual state) के अस्तित्व में आने की बात कर रहे थे, जिसके तिहरे राज्य में तब्दील होने की प्रक्रिया स्वयं लेनिन के सामने में जारी थी। लेकिन इन दो (या तीन) राष्ट्रों के अलावा, ऑस्ट्रिया में पोल, यूक्रेनियन, क्रोएत्स जैसे दमित राष्ट्र थे और साथ ही कई दमित अल्पसंख्यक राष्ट्रीयताएँ (national minorities) भी थीं, जिन्हें राज्यसत्ता में कोई भागीदारी प्राप्त नहीं थी और जिनकी बुर्जुआजी ऑस्ट्रिया में स्पष्ट तौर पर दमित थी, चाहे वह रैडिकल तरीके से लड़े या न लड़े। ज़ाहिरा तौर पर उनका कोई राष्ट्रीय दमन कर रहा होगा! वास्तव में ऑस्ट्रिया में एक तरफ एक दौर में ऑस्ट्रियाई-जर्मन राष्ट्र की राजनीतिक प्रधानता थी और वहीं दूसरी तरफ बाद में ऑस्ट्रिया-हंगरी के राज्य में एक क़िस्म का सम्मिश्रित (composite) शासक वर्ग का दबदबा पैदा हुआ, लेनिन के शब्दों में "dual state" या "triple state" जिसमें मूलत: ऑस्ट्रियाई जर्मन व हंगेरियन शामिल थे। **अगर ऑस्ट्रिया में कोई या कुछ प्रभुत्वशाली राष्ट्र नहीं थे तो ये दमित राष्ट्र व अल्पसंख्यक राष्ट्रीयताएं किसका दमन झेल रहे थे? ऑस्ट्रिया में ये दमित राष्ट्रीयताएं एक राष्ट्रीय रूप से मिश्रित शासक वर्ग का दमन झेल रही थीं, जिनमें मुख्य रूप से ऑस्ट्रियाई राष्ट्र, हंगेरियाई राष्ट्र के शासक वर्ग शामिल थे। इसलिए ऐसा नहीं था कि ऑस्ट्रिया के शासक वर्ग का कोई राष्ट्रीय चरित्र ही नहीं था, इसका केवल यह अर्थ है कि यह राष्ट्रीय चरित्र *एक दमनकारी राष्ट्र* वाला नहीं था, बल्कि *कई दमनकारी राष्ट्रों* वाला था। इस बात को समझना एक अलग ऐतिहासिक सन्दर्भ में भारतीय बुर्जुआजी के मिश्रित राष्ट्रीय चरित्र को समझने के लिए भी उपयोगी है, हालांकि तुलना इसके आगे नहीं जाती है।**

साथ ही, लेनिन के उपरोक्त उद्धरण से यह ग़लतफ़हमी पैदा हो सकती है कि दमित राष्ट्रों द्वारा ऑस्ट्रिया की अखंडता को बनाये रखने का काम क्यों किया गया जबकि वे सब ऑस्ट्रिया के हाथों राष्ट्रीय दमन झेल रहे थे। लेनिन यहां सिर्फ ऑस्ट्रियाई जर्मन, हंगेरियन व स्लाव (मुख्य रूप से चेक) राष्ट्रों की बात कर रहे हैं, *जो कि ऑस्ट्रिया-हंगरी में दमित राष्ट्र*

नहीं थे, बल्कि उन्हें, लेनिन के शब्दों में, "तिहरे राज्य" में नुमाइन्दगी हासिल थी (या चेक राष्ट्र के मामले में हासिल हो रही थी), और *ऑस्ट्रियाई जर्मन व हंगेरियाई राष्ट्र अन्य राष्ट्रों व राष्ट्रीयताओं के प्रति दमनकारी रुख रखते थे।*

दरअसल, काउत्स्की के उद्धरण को भी आप ग़ौर से पढ़ें तो आप पाते हैं कि वह भी इन तीन राष्ट्रों को ऑस्ट्रिया-हंगरी के राज्यसत्ता के केन्द्र में रखते हैं, लेकिन चूंकि सुखविन्दर आबादी गिनने में लगे थे, इसलिए काउत्स्की के इस कथन पर उनका ध्यान नहीं गया: "**बाद वाले राष्ट्र परिधि पर रहते हैं**, **लेकिन तीन बड़े राष्ट्र**, **यानी जर्मन**, **मैगयार व चेकोस्लोवाकियंस**, **सभी साम्राज्य के केन्द्र में विस्तारित हैं।**" इन्हीं कौमों के पूंजीपति वर्ग की राजनीतिक पार्टियां तमाम प्रश्नों को लेकर ऑस्ट्रियाई संसद में टकराती रहती थीं। वहां पर सांस्कृतिक-राष्ट्रीय स्वायत्तता की बात ऑस्ट्रो-मार्क्सवादियों (बावर, रेनर, आदि) द्वारा व स्थानीय स्वायत्तता की बात वहां के शासक वर्ग के एक हिस्से द्वारा इसीलिए की जा रही थी, ताकि इन टकरावों से बार-बार पैदा होने वाली राजनीतिक *पैरालिसिस* की स्थिति को टाला जा सके। इसके बारे में स्तालिन ने 'मार्क्सवाद और राष्ट्रीय प्रश्न' में विस्तार से लिखा है। खैर, ये तीनों ही कौमें विशिष्ट ऐतिहासिक कारणों से अपने आपको अलग-अलग राष्ट्र-राज्यों के रूप में संघटित नहीं कर पाईं थीं और इनका हित ऑस्ट्रियाई राज्य की अखण्डता को बनाये रखने में ज्यादा था, क्योंकि इसी से उनकी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता भी कायम रहती थी, जैसा कि लेनिन ने उपरोक्त उद्धरण में बताया है।

मज़ेदार बात यह है कि लेनिन का उपरोक्त उद्धरण सुखविन्दर भी देते हैं लेकिन वर्ग विश्लेषण के आधार पर इससे कोई राजनीतिक निष्कर्ष निकालने की बजाय वह यहाँ जोड़-घटाव करने में व्यस्त हो गए कि आबादी के हिसाब से किसी राष्ट्र का स्पष्ट दबदबा नहीं था और इसलिए ऑस्ट्रियाई राज्यसत्ता का कोई राष्ट्रीय चरित्र नहीं था! ऐसी विचित्र तर्कपद्धति गणितीय जोड़-घटाव में ही व्यस्त रहने वाले किसी गांव के पटवारी को शोभा देती है, किसी मार्क्सवादी-लेनिनवादी-माओवादी को नहीं। आगे बढ़ते हैं।

सुखविन्दर फिर काउत्स्की के हवाले से कहते हैं कि,

> "अर्थव्यवस्था में जर्मन पूँजीपतियों के दबदबे की तरह ही भारत की पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में गुजराती और मारवाड़ी पूँजीपतियों का दबदबा है। 'फोर्ब्स' अमीरों की सूची 2019 के अनुसार भारत के 100 सबसे अधिक अमीरों में से 80 फ़ीसदी गुजराती हैं। अगर इनमें मारवाड़ी भी जोड़ लिये जायें तो यह प्रतिशत और ऊपर चला जाता है।" (सुखविन्दर, 'राष्ट्रीय प्रश्न और मार्क्सवाद', प्रतिबद्ध-33)

पहली बात तो यह बात ही ग़लत है कि 100 में 80 सबसे धनी भारतीय गुजराती हैं, हालांकि सबसे अमीर पांच भारतीयों में से चार गुजराती हैं, इसलिए 'टॉप 5' में 80 प्रतिशत गुजराती हैं। 'फोर्ब्स' की लिस्ट हर प्रकार के अमीर लोगों से हैं, जिनमें सट्टेबाज पूंजीपति भी शामिल हैं, जो एक साल पांचवे स्थान पर रहते हैं, तो दूसरे साल पांच सौवें स्थान पर भी पहुंच जाते हैं। **अगर हम 100 सबसे बड़े उद्योगपतियों की बात करें**, **जो उत्पादक क्षेत्र में निवेश करते हैं**, **तो हमें भारतीय पूंजीपति वर्ग के राष्ट्रीय कम्पोजीशन के बारे में सही तस्वीर मिलेगी।**

यदि उद्योगपतियों की बात करें तो 100 सबसे अमीर भारतीयों में 21 गुजराती हैं, 20 राजस्थानी मारवाड़ी व बनिया हैं, 8-8 पंजाब व केरल से हैं, 7 महाराष्ट्र से, 6 कर्नाटक से हैं। कृषि व सम्बन्धित क्षेत्र के सबसे बड़े 26 पूंजीपतियों में महाराष्ट्र व गुजरात के 4-4, पंजाब के 3, हरियाणा के 2, राजस्थान के 2, तमिलनाडु के 2, आन्ध्र प्रदेश के 2 पूंजीपति शामिल हैं। **कुल मिलाकर देखा जाय तो पंजाबी बुर्जुआजी भारत के शासक वर्ग में <u>अपनी कौम के आकार के लिहाज़ से कहीं ज्यादा दख़ल और हिस्सेदारी रखती है और एक शक्तिशाली औद्योगिक-वित्तीय बुर्जुआजी है। यह न तो</u>**

दलाल है और न ही दमित है, बल्कि खुद भारत के राष्ट्रीय रूप से सम्मिश्रित शासक वर्ग में एक अहम स्थान रखती है और शासक व दमनकारी बुर्जुआजी है।

भारतीय शासक वर्ग में विभिन्न कौमों की बुर्जुआजी के स्थान को आर्थिक व राजनीतिक रूप से समझने के नज़रिये से तथ्यों के लिए हरीश दामोदरन की पुस्तक 'इण्डियाज़ न्यू कैपिटलिस्ट्स' पढ़ने योग्य है। इसके अलावा, भारतीय बुर्जुआजी के राष्ट्रीय रूप से मिश्रित चरित्र को और राष्ट्रीय आन्दोलन के दौर से ही उसके उद्भव और विकास को समझने के लिए जाने-माने मार्क्सवादी इतिहासकार अमलेन्दु गुहा का लेख 'दि इण्डियन नेशनल क्वेश्चन: ए कंसेप्चुअल फ्रेम' ज़रूर पढ़ना चाहिए, जोकि 1982 में ईपीडब्ल्यू में प्रकाशित हुआ था।

ऑस्ट्रिया में किसी एक दमनकारी राष्ट्र के न होने के बारे में सुखविन्दर द्वारा पेश उद्धरण: कांट-छांट कर उद्धरण को पेश करने की सुखविन्दर की बौद्धिक बेईमानी का प्रातिनिधिक नमूना

आइये देखें कि सुखविन्दर किस प्रकार अपनी उपरोक्त "थीसिस" को सही साबित करने के लिए उद्धरणों को भी सन्दर्भों से कांट-छांट कर पेश करते हैं। हमने ऊपर देखा कि उनकी एक थीसिस यह थी कि ऐसा कोई बहुराष्ट्रीय राज्य हो सकता है जहां न तो औपनिवेशिक प्रश्न हो, न तो भूमि का सवाल हो, और *न कोई एक प्रभुत्वशाली राष्ट्र हो* और इसके लिए वे ऑस्ट्रिया का उदाहरण लेते हैं। सुखविन्दर ऑस्ट्रिया के एक बहुराष्ट्रीय राज्य होने के संबंध में स्तालिन का एक उद्धरण भी पेश करते हैं:

> "पूर्वी यूरोप में चीजें कुछ अलग तरीके से आगे बढ़ीं। जहां एक ओर पश्चिम में राष्ट्र राज्यों के रूप में विकसित हो गये, पूर्व में बहुराष्ट्रीय राज्य बने, ऐसे राज्य में जिसमें कई राष्ट्रीयताएं शामिल थीं। जैसे कि ऑस्ट्रिया-हंगरी और रूस।" (स्तालिन, **मार्क्सवाद और राष्ट्रीय प्रश्न)**

लेकिन इस उद्धरण में स्तालिन आगे क्या कहते हैं, सुखविन्दर जानबूझकर वह गोल कर जाते हैं ताकि सिद्ध कर सकें कि कोई अराष्ट्रीय शासक वर्ग (जिसका कोई राष्ट्रीय चरित्र ही न हो) सम्भव हो सकता है। आप स्वयं देख लें-

> "ऑस्ट्रिया में, **जर्मन लोग राजनीतिक रूप से सर्वाधिक विकसित हुए, और उन्होंने ऑस्ट्रियन राष्ट्रीयताओं को एक राज्य में, मिलाने का कार्य अपने ऊपर ले लिया। हंगरी में, राज्य संगठन के लिए सर्वाधिक उपयुक्त थे मैग्यार लोग - जो कि हंगरी की राष्ट्रीयताओं की धुरी थे -- और उन लोगों ने हंगरी को एक किया।** रूस में राष्ट्रीयताओं को एक में जोड़ने की भूमिका महान रूसी राष्ट्र ने निभाई, जिनका नेतृत्व कुलीन सैन्य नौकरशाही करती थी, जोकि ऐतिहासिक रूप से विकसित हुई थी तथा सर्वाधिक ताकतवर व सुसंगठित थी।" (*वही*, **ज़ोर हमारा**)

सुखविन्दर इस हिस्से को देने की बजाय वहां डॉट्स (...) डालकर आगे का हिस्सा दे देते हैं। क्या चतुरता दिखाई है**!** लेकिन इसे तो बच्चे भी पकड़ लेंगे। जाहिर है सुखविन्दर ने जानबूझकर उद्धरण का यह हिस्सा काट दिया है क्योंकि वह उनके तर्कों के विपरीत जाता है। जब तर्क और तथ्य आपका साथ न दें तो बौद्धिक चार सौ बीसी करने के अलावा आपके पास कोई रास्ता नहीं बचता है।

जैसा कि आप देख सकते हैं कि यहां साफ बताया गया है कि ऑस्ट्रिया में तमाम राष्ट्रीयताओं को एक राज्य में संघटित और संगठित करने का काम ऑस्ट्रियाई जर्मन कौम ने किया। याद रहे कि यहां स्तालिन ऑस्ट्रिया की

बात कर रहे हैं, न कि ऑस्ट्रिया-हंगरी की। बाद में जब ऑस्ट्रिया-हंगरी अस्तित्व में आया तो वहां कालान्तर में एक दुहरा बहुराष्ट्रीय राज्य निर्मित हुआ। लेकिन ऑस्ट्रियाई राज्य के संघटन में ऑस्ट्रियाई जर्मन राजनीतिक रूप से प्रभुत्वशाली भूमिका में थे। लेकिन सुखविन्दर तबसे यही साबित करने में लगे थे कि ऑस्ट्रिया में स्थिति इसके एकदम विपरीत थी। इसीलिए पूरी पुस्तक ठीक से पढ़नी चाहिए, केवल अनुक्रमणिका से विषय छांट कर नहीं पढ़ना चाहिए।

ऑस्ट्रिया के बारे में स्तालिन के उद्धरण को समझ पाने में सुखविन्दर की अक्षमता

सुखविन्दर स्तालिन का एक उद्धरण देते हुए कहते हैं कि

> "ऑस्ट्रिया में राष्ट्रीय प्रश्न ऐसे रूप में था कि यहाँ न तो कोई राष्ट्र किसी और का उपनिवेश ही था और न ही यहाँ सामन्ती सम्बन्ध, या agrarian question ही था।" (सुखविन्दर, 'राष्ट्रीय प्रश्न और मार्क्सवाद', प्रतिबद्ध-33)

इसी बात को स्तालिन के मुंह से कहलवाने के लिए सुखविन्दर स्तालिन का निम्न उद्धरण देते हैं:

> "अन्तत:, रूस और ऑस्ट्रिया के समक्ष मौजूद तात्कालिक कार्यभार बिल्कुल भिन्न हैं और नतीजतन राष्ट्रीय प्रश्न के समाधान के भिन्न तरीके निर्देशित करते हैं। ऑस्ट्रिया में संसदवाद का वर्चस्व है, और मौजूदा स्थितियों में ऑस्ट्रिया में संसद के बिना कोई विकास सम्भव नहीं है। लेकिन ऑस्ट्रिया में राष्ट्रीय पार्टियों के बीच टकरावों के कारण संसदीय जीवन व विधि निर्माण अक्सर बिल्कुल ठहराव का शिकार हो जाता है। यह उस पुराने राजनीतिक संकट की व्याख्या करता है जिससे कि ऑस्ट्रिया लम्बे समय से पीड़ित है। **इसलिए, ऑस्ट्रिया में राष्ट्रीय प्रश्न राजनीतिक जीवन का केन्द्र है**; यह जीवन्त प्रश्न है। इसलिए यह आश्चर्यजनक नहीं है कि ऑस्ट्रियाई सामाजिक-जनवादी राजनीतिज्ञ सबसे पहले एक या दूसरे तरीके से राष्ट्रीय टकरावों का समाधान ढूंढें -- जाहिरा तौर पर, मौजूदा संसदीय तंत्र के आधार पर, संसदीय तरीकों से...
>
> "रूस में ऐसा नहीं है। पहली बात तो यह कि रूस में "भगवान का शुक्र है, कोई संसद नहीं है।" **दूसरी बात - और यह मुख्य बात है - रूस में राजनीतिक जीवन का केन्द्र राष्ट्रीय नहीं बल्कि कृषि प्रश्न है।** नतीजतन, रूसी समस्या की नियति, और, उसके अनुसार ही, राष्ट्रों की "मुक्ति" भी, रूस में कृषि प्रश्न के समाधान के साथ जुड़ी हुई है।"
>
> (स्तालिन, 'मार्क्सवाद और राष्ट्रीय प्रश्न', उपरोक्त पेज 33, शब्दों पर ज़ोर सुखविन्दर का)

तो हम अब देख सकते हैं कि सुखविन्दर किस प्रकार अपनी प्रस्थापनाओं को स्तालिन के मुंह से बुलवाना चाह रहे हैं। वह इस बात पर लटक गए हैं कि ऑस्ट्रिया में राष्ट्रीय दमन इस रूप में था कि न तो उसमें औपनिवेशिक सवाल ही मौजूद था और न ही भूमि-सम्बन्धी सवाल मौजूद था। (वैसे स्तालिन ने भूमि/कृषि प्रश्न से भिन्न किसान प्रश्न की बात की थी, जिसे सुखविन्दर समझ ही नहीं पाए हैं, इस पर हम आगे आएंगे)।

पहली बात तो यह है कि ऑस्ट्रिया में जो दमित राष्ट्र थे, जैसे कि पोलैण्ड, उनके लिए उपनिवेशिकीकरण/कब्ज़े का प्रश्न मौजूद था और उनका बुर्जुआ वर्ग भी दमित था, जैसा कि लेनिन ने बताया था और जैसा कि हम ऊपर विस्तार से दिखला चुके हैं। *इसके बारे में हम ऊपर लेनिन को उद्धृत कर चुके हैं कि जहां तक राष्ट्रीय प्रश्न का सवाल है, हम सात समन्दर पार या दमनकारी राष्ट्र के बगल में किये गये कब्जे में फर्क नहीं कर सकते हैं।* एशिया, अफ्रीका और लातिनी अमेरिका में बने

उपनिवेश व अर्द्धउपनिवेश केवल अपने आर्थिक पिछड़ेपन और पूंजीवाद के विकास की सापेक्षिक अनुपस्थिति के कारण राष्ट्रीय रूप से दमित पोलैण्ड, यूक्रेन, फिनलैण्ड, आदि से भिन्न थे। और दूसरी भिन्नता यह थी कि साम्राज्यवाद के दौर में उपनिवेशों व अर्द्धउपनिवेशों के आने के साथ राष्ट्रीय प्रश्न साम्राज्यवाद-विरोध से अभूतपूर्व विशिष्टता के साथ जुड़ गया था। औपनिवेशिक प्रश्न और राष्ट्रीय प्रश्न के बीच इससे अधिक कोई अन्तर नहीं है और दोनों ही सूरतों में जहां तक राष्ट्रीय मुक्ति के कार्यभार का प्रश्न है, तो सारत: कोई अन्तर नहीं है। उपरोक्त भिन्नता के कारण राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति की रणनीति और आम रणकौशल में कुछ अन्तर आता है। लेकिन जहां तक राष्ट्रीय प्रश्न के मौजूद होने का सवाल है, इससे कोई अन्तर नहीं पैदा होता।

ऑस्ट्रिया में पोलैण्ड जैसे दमित राष्ट्रों के अलावा दमित अल्पसंख्यक राष्ट्रीयताएं थीं, जो अलग राज्य बना ही नहीं सकती थीं क्योंकि उनकी कोई क्षेत्रीयता (terriotriality) नहीं थी, लेकिन उनका बुर्जुआ वर्ग दमित था। हां, ऑस्ट्रियाई जर्मन, हंगेरियाई राष्ट्र न तो उपनिवेश थे और न ही उनकी बुर्जुआजी दमित थी, क्योंकि वे तो ऑस्ट्रिया-हंगरी में शासक कौमें थीं।

इसके अलावा, ऐसा लगता है सुखविन्दर समझ नहीं पाये हैं कि स्तालिन का जो उद्धरण उन्होंने पेश किया है, वहां स्तालिन किस सन्दर्भ में बात कर रहे हैं। आइये देखते हैं कि स्तालिन के जिस उद्धरण को सुखविन्दर ने पेश किया है, उसका पूरा मतलब क्या है और किस प्रकार खुद ही यह उद्धरण पेश करने के बावजूद सुखविन्दर इसे समझ ही नहीं पाए हैं।

ऑस्ट्रियाई सामाजिक-जनवादी जैसे कि बावर, रेनर आदि ऑस्ट्रिया के राष्ट्रीय प्रश्न के समाधान के लिए सांस्कृतिक-राष्ट्रीय स्वायत्तता (cultural-national autonomy) की वकालत कर रहे थे जिसकी लेनिन ने काफी तीक्ष्ण आलोचना की थी और इसे विभिन्न राष्ट्रों के मजदूर वर्ग की वर्गीय एकता को तोड़ने और उनके बीच पार्थक्य पैदा करने का खतरनाक प्रतिक्रियावादी सैद्धांतिक प्रयास बताया था और साथ ही इसे "परिष्कृत राष्ट्रवाद" (refined nationalism) की संज्ञा दी थी। **स्तालिन यहाँ ऑस्ट्रियाई सामजिक-जनवाद के भीतर मौजूद इस प्रवृत्ति की बात कर रहे हैं जो ऑस्ट्रिया में राष्ट्रीय प्रश्न के समाधान का एक "सुधारवादी" रास्ता अपना रहे थे।** देखें स्तालिन सुखविन्दर द्वारा दिए गए उद्धरण के थोड़ा ऊपर क्या कह रहे हैं-

> "इसके अलावा, ऑस्ट्रियाई "राष्ट्रीयताओं की स्वतन्त्रता" तुच्छ सुधारों, सुस्त कदमों के ज़रिये प्राप्त करने की आशा रखते हैं। जहां वे एक व्यावहारिक कदम के रूप में सांस्कृतिक-राष्ट्रीय स्वायत्तता का प्रस्ताव रखते हैं, वहां वे किसी आमूलगामी परिवर्तन, मुक्ति के लिए किसी जनवादी आन्दोलन की उम्मीद नहीं करते, उन पर तो वे विचार भी नहीं करते हैं। दूसरी ओर, रूसी मार्क्सवादी, "राष्ट्रीयताओं की स्वतन्त्रता" को एक सम्भावित आमूलगामी बदलाव, मुक्ति के लिए एक जनवादी आन्दोलन के साथ जोड़कर देखते हैं और सुधारों पर उम्मीद लगाकर नहीं बैठे हैं। और यह बात रूस में राष्ट्रों की सम्भावित नियति के मामले में चीज़ों को बिल्कुल बदल देती है।" (स्तालिन, **मार्क्सवाद और राष्ट्रीय प्रश्न**)

दूसरे, यहाँ स्तालिन ऑस्ट्रिया और रूस की परिस्थितियों में जो फर्क कर रहे हैं वह राष्ट्रीय प्रश्न बनाम भूमि प्रश्न नहीं है। विशिष्ट ऐतिहासिक कारणों से ऑस्ट्रिया में **संसदीय प्रणाली** पहले ही बहाल हो गयी थी और जिन राष्ट्रों की बुर्जुआजी को राज्यसत्ता में हिस्सेदारी प्राप्त हो चुकी थी उनकी तमाम राष्ट्रीय पार्टियाँ अपने पूंजीपति वर्ग के हितों के लिए एक-दूसरे से लगातार उलझी हुई रहती थीं। वहीं रूस में, जहां अभी ज़ारशाही कायम थी, सामन्ती सम्बन्धों के अवशेष भी काफी मात्रा में मौजूद थे, और इस हद तक जनवादीकरण की प्रक्रिया अभी पूरी नहीं हुई थी, राष्ट्रीय प्रश्न और भूमि-

सम्बन्धी प्रश्न (agrarian question) एक–दूसरे से नत्थी थे। यहाँ स्तालिन इन दोनों प्रश्नों के बीच 'ईदर/ऑर' (either/or) की कोई विभाजक रेखा खींच ही नहीं रहे है। यहां वह यह नहीं बता रहे हैं कि राष्ट्रीय प्रश्न का वह विशिष्ट तत्व (differentia specifica) क्या है, जिसके बिना राष्ट्रीय दमन सम्भव ही नहीं है। **निश्चित तौर पर**, **भूमि प्रश्न के बिना राष्ट्रीय दमन हो सकता है**, **लेकिन बुर्जुआजी के दमित हुए बिना नहीं हो सकता।** ऑस्ट्रिया में ऑस्ट्रियाई जर्मन व हंगेरियन दमित राष्ट्र नहीं थे, लेकिन जो दमित राष्ट्र व राष्ट्रीयताएं थीं, उनकी बुर्जुआजी दमित ही थी, जैसे कि पोलिश राष्ट्र। **दूसरे शब्दों में**, **राष्ट्रीय प्रश्न से जुड़ा सबसे अहम सवाल यह है कि यदि किसी राष्ट्र का बुर्जुआ वर्ग दमित है, केवल तभी वह राष्ट्र दमित राष्ट्र कहलाएगा।**

अब आते हैं सुखविन्दर की बचकानी समझदारी की एक मिसाल पर।

भूमि प्रश्न और किसान प्रश्न के बीच अन्तर के विषय में सुखविन्दर की पूर्ण अनभिज्ञता

जहां तक भूमि/कृषि प्रश्न न होने का सवाल है, तो उसके बिना भी राष्ट्रीय प्रश्न सम्भव है, जैसा कि हम पहले ही बता चुके हैं। हम यह भी बता चुके हैं कि राष्ट्रीय दमन का जो विशिष्ट तत्व है वह है *कौम की बुर्जुआजी का दमन* और यह तत्व ऑस्ट्रिया-हंगरी की दमित कौमों में मौजूद था। **लेकिन सबसे अहम बात यह है कि स्तालिन ने राष्ट्रीय प्रश्न में कृषि प्रश्न होने की अनिवार्यता की नहीं**, **बल्कि किसान प्रश्न के होने की अनिवार्यता को चिन्हित किया था और कहा था कि कृषि/भूमि प्रश्न और किसान प्रश्न एक ही वस्तु नहीं है। हमने भी पहले अपने द्वारा इस बहस में किये गये हस्तक्षेपों में बार-बार यह बताया था और स्तालिन का उद्धरण देकर भी बताया था कि किसान प्रश्न और भूमि/कृषि प्रश्न एक नहीं हैं। लेकिन फिर भी सुखविन्दर के समझ में नहीं आया और उन्होंने भूमि प्रश्न की अनुपस्थिति में राष्ट्रीय दमन की मौजूदगी के सम्भव होने को सिद्ध करने के लिए इतने पन्ने काले कर दिये**! देखिये, उस उद्धरण में स्तालिन क्या कहते हैं:

> "यह ग़लती उसे (सेमिच को) एक दूसरी ग़लती की ओर ले जाती है, यानी, **राष्ट्रीय प्रश्न के सारत: एक किसान प्रश्न होने से इंकार करना। कोई कृषि प्रश्न नहीं**, **बल्कि किसान प्रश्न क्योंकि ये दोनों अलग-अलग चीज़ें हैं।** यह बिलकुल सही है कि राष्ट्रीय प्रश्न को पूरी तरह किसान प्रश्न से मिलाया नहीं जा सकता, क्योंकि, किसान प्रश्नों के अलावा, राष्ट्रीय प्रश्न में राष्ट्रीय संस्कृति, राष्ट्रीय राज्य का होना, आदि भी शामिल है। लेकिन यह सन्देह से परे है कि **अन्तत: किसान प्रश्न ही राष्ट्रीय प्रश्न का आधार**, **मूल सार है।** यही इस तथ्य की भी व्याख्या करता है कि किसान ही राष्ट्रीय आन्दोलन की मुख्य सेना बनाते हैं, कि बिना किसान सेना के कोई शक्तिशाली राष्ट्रीय आन्दोलन नहीं होता है, और न ही हो सकता है। जब यह कहा जाता है कि राष्ट्रीय प्रश्न सारत: किसान प्रश्न है, तो उसका यही अर्थ होता है।" (स्तालिन, **यूगोस्लाविया में राष्ट्रीय प्रश्न के बारे में**, ज़ोर हमारा)

स्तालिन यह भी बताते हैं कि राष्ट्रीय प्रश्न की *सामाजिक अन्तर्वस्तु* किसान प्रश्न है। यानी कि राष्ट्रीय आन्दोलन की शुरुआत दमनकारी राष्ट्र की बुर्जुआजी और दमित राष्ट्र की बुर्जुआजी के बीच अन्तरविरोध से ही होती है, क्योंकि राष्ट्रीय प्रश्न की *वर्गीय अन्तर्वस्तु* यही है, लेकिन किसान प्रश्न के सामाजिक अन्तर्वस्तु होने का अर्थ यह है कि राष्ट्रीय आन्दोलन की *मुख्य शक्ति* किसान ही होते हैं। *इसके नेतृत्व में बुर्जुआ वर्ग हो सकता है*, *जिस सूरत में राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति के फ्रेमवर्क में सम्पन्न होती है*, *या फिर इसके नेतृत्व में सर्वहारा वर्ग भी हो सकता है*, *जिस*

सूरत में राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति जनता की जनवादी क्रान्ति के फ्रेमवर्क में सम्पन्न होती है। ऐसा सामन्ती या अर्द्धसामन्ती देश के मामले में भी लागू होता है और ऐसे देश के बारे में भी लागू होता है जहां पूंजीवादी उत्पादन सम्बन्ध प्रभुत्वशाली बन चुके हैं, लेकिन किसान आबादी में बहुसंख्या में हैं। वजह यह है कि पूंजीवादी उत्पादन सम्बन्धों की प्रधानता वाले देश में भी, यदि पूंजीपति वर्ग राष्ट्रीय मुक्ति के कार्यभार से ग़द्दारी कर जाये, तो भी किसान वर्ग और शहरी छोटे व मंझोले पूंजीपति वर्ग के लिए भी राष्ट्रीय दमन का प्रश्न एक अहम प्रश्न होता है, **क्योंकि घरेलू बाज़ार का प्रश्न उनके लिए भी काफी महत्व रखता है।** इसलिए राष्ट्रीय जनवादी कार्यभार चाहे सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में पूरा हो या फिर पूंजीपति वर्ग के नेतृत्व में; इस कार्यभार को पूरा करने में पूंजीपति वर्ग रैडिकल तरीके से भागीदारी करे या न करे; चाहे जो भी स्थिति हो, इतना स्पष्ट है कि राष्ट्रीय जनवादी कार्यभार ही पूरा होता है और उस कौम की बुर्जुआजी दमित ही होती है क्योंकि राष्ट्रीय प्रश्न की शुरुआत ही इस प्रश्न से होती है। देखें स्तालिन क्या लिखते हैं:

> "**इसमें जाहिरा तौर पर कोई सन्देह नहीं हो सकता है कि स्लोवीन और क्रोएत व सर्ब बुर्जुआजी के बीच प्रतिस्पर्द्धात्मक संघर्ष है जो कि अवश्य ही एक निश्चित भूमिका अदा करेगा।** लेकिन यह भी उतना ही सन्देह से परे है कि कोई व्यक्ति जो कि सोचता है कि राष्ट्रीय आन्दोलन का *सामाजिक महत्व* विभिन्न राष्ट्रीयताओं के बुर्जुआ वर्ग के बीच प्रतिस्पर्द्धात्मक संघर्ष में निहित है, वह राष्ट्रीय प्रश्न को सारत: एक किसान प्रश्न नहीं समझ पाएगा।" (स्तालिन, **राष्ट्रीय प्रश्न पर एक बार फिर से**, ज़ोर हमारा)

स्तालिन इसके आगे बताते हैं कि औपनिवेशिक दुनिया में और साथ ही सभी निर्भर दमित राष्ट्रों में चूंकि साम्राज्यवाद के युग में पूंजीपति वर्ग रैडिकल तरीके से प्रतिरोध नहीं कर रहा है, इसलिए यह प्रश्न अब मुख्यत: किसान आबादी की हिस्सेदारी का बन चुका है। यहां वास्तव में स्तालिन कोई पूर्णतया नयी बात नहीं कह रहे हैं बल्कि लेनिन की उसी बात को दुहरा रहे हैं कि साम्राज्यवाद के युग में दमित राष्ट्रों का पूंजीपति वर्ग या तो समझौतापरस्त, ढुलमुलयकीन हो चुका है (क्योंकि वह एक ओर दमनकारी राष्ट्रों की बुर्जुआजी द्वारा दमित है, लेकिन साथ ही दूसरी ओर वह अपने देश के सर्वहारा वर्ग व मेहनतकश अवाम के उभार से डरा हुआ है) या फिर लड़ने की क्षमता ही नहीं रखता है क्योंकि वह बहुत ही छोटा व अशक्त है, और इसलिए साम्राज्यवाद के युग में राष्ट्रीय कार्यभार भी बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति द्वारा पूरा होने की गुंजाइश न के बराबर है और यह कार्य भी सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में व्यापक किसान आबादी के साथ मोर्चा बनाकर होगा, यानी *जनता की जनवादी क्रान्ति* द्वारा सम्पन्न होगा। **दोनों ही सूरत में दमित कौम की बुर्जुआजी निश्चित तौर पर दमित है, मगर वह या तो सर्वहारा वर्ग के उभार के समक्ष दमनकारी राष्ट्रों की बुर्जुआजी से मोलभाव और समझौते करने लगती है (जैसा कि भारत की बुर्जुआजी ने किया था, जिसमें कई दमित कौमों की बुर्जुआजी शामिल थी) या फिर वह इतनी छोटी और अशक्त है कि दमनकारी राष्ट्रों की बुर्जुआजी के खिलाफ लड़ ही नहीं सकती (जैसा कि कई अफ्रीकी देशों में हुआ था)। नतीजतन, इन देशों में राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग की भूमिका भी अक्सर मंझोला व छोटा पूंजीपति वर्ग निभाता है, जैसा कि चीन में हुआ था। इस पूरी थीसीज़ के बारे में हम आगे एक अलग उपशीर्षक में उद्धरणों, तथ्यों, व सन्दर्भों के साथ बताएंगे, जहां हम सुखविन्दर के त्रॉत्स्कीपंथ की ओर गमन पर चर्चा करेंगे।**

बहरहाल, यहां पर आप स्पष्ट तौर पर देख सकते हैं कि सुखविन्दर को *कृषि प्रश्न* और *किसान प्रश्न* के बीच का अन्तर ही नहीं पता है और उन्होंने कृषि प्रश्न की अनुपस्थिति में भी राष्ट्रीय दमन होने के तथ्य को सिद्ध करने के लिए इतने पन्ने काले कर दिये! यह सच है कि किसान प्रश्न हुए बिना भी राष्ट्रीय प्रश्न हो सकता है, क्योंकि किसानों की भागीदारी होना राष्ट्रीय आन्दोलन की *सामाजिक अन्तर्वस्तु* का प्रश्न है, न कि उसकी *वर्ग अन्तर्वस्तु* का। जहां तक वर्ग अन्तर्वस्तु का प्रश्न है राष्ट्रीय दमन बिना दमित कौम की बुर्जुआजी के दमन के सम्भव नहीं है, यह मूलत:

घरेलू बाज़ार का प्रश्न है, यह मूलत: अलग राज्य की स्थापना का प्रश्न है और इस रूप में वर्गीय अन्तर्वस्तु से यह बुर्जुआ जनवादी कार्यभार की सीमा का अतिक्रमण नहीं करता है।

लेकिन स्तालिन उपरोक्त उद्धरण में सेमिच को यही समझा रहे हैं कि यदि किसान राष्ट्रीय दमन के खिलाफ बुर्जुआजी के साथ नहीं खड़े हैं, तो बुर्जुआजी का राष्ट्रीय दमन के विरुद्ध बुर्जुआ जनवादी आन्दोलन सफल नहीं हो सकता, और वह एक व्यापक जनान्दोलन में तब्दील नहीं हो सकता है। लेकिन फिर भी यह सम्भव है कि किसी देश में राष्ट्रीय आन्दोलन में शहरी टटपुंजिया व सर्वहारा वर्ग की अधिक हिस्सेदारी हो; यह भी सम्भव है कि इसमें राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग का नेतृत्व न हो, बल्कि सर्वहारा वर्ग का नेतृत्व हो। तो भी राष्ट्रीय मुक्ति का कार्यभार जनवादी कार्यभार ही होगा। लेकिन इतना तय है कि बुर्जुआजी के दमन के बिना राष्ट्रीय दमन की अवधारणा ही बेकार हो जाती है। **बहरहाल**, **यहां हम केवल यह दिखलाना चाहते थे**, **कि कुछ बेहद बुनियादी और सामान्य बातें भी सुखविन्दर समझ नहीं पाते हैं।**

राष्ट्रीय दमन में उपनिवेश/कब्ज़े (colonization/annexation) के स्थान को समझने में सुखविन्दर की अक्षमता

सुखविन्दर चूँकि अभी भी यही साबित करने में लगे हुए हैं कि राष्ट्रीय दमन बिना उपनिवेशवाद के और बिना भूमि प्रश्न के भी अस्तित्व में आ सकता है तो वह फिर से लाइन से स्तालिन के दो-तीन उद्धरण पेश कर डालते हैं और फिर उनकी मनमाने ढंग से व्याख्या करते हैं। बिना कृषि/भूमि प्रश्न के राष्ट्रीय दमन हो सकता है, इसको लेकर तो कोई विवाद ही नहीं है। सवाल कब्ज़े/उपनिवेशवाद व बुर्जुआजी के दमन के बिना राष्ट्रीय दमन होने को लेकर है। याद रखें, यहां हम राष्ट्रों की बात कर रहे हैं, अल्पसंख्यक राष्ट्रीयताओं की नहीं, जिनकी कोई क्षेत्रीयता ही नहीं होती है और इसलिए उनके उपनिवेश बनने का प्रश्न भी अप्रासंगिक है। चलिए देखते हैं कि सुखविन्दर किस प्रकार उपनिवेश/कब्जे के प्रश्न का राष्ट्रीय दमन में केन्द्रीय स्थान होने को समझ ही नहीं पाते।

स्तालिन के पहले उद्धरण से वह यह नतीजा निकालते हैं कि यूरोप के बहुराष्ट्रीय देशों में दमित राष्ट्र दमनकारी राष्ट्रों के उपनिवेश नहीं थे। सुखविन्दर लिखते हैं,

> "स्तालिन के उद्धरण में एक बात ध्यान खींचती है कि इन बहुराष्ट्रीय देशों में दबे-कुचले राष्ट्र उन अर्थों में dominant राष्ट्र के उपनिवेश या अर्द्धउपनिवेश नहीं थे, जिन अर्थों में तीसरी दुनिया के देश साम्राज्यवादी देशों के उपनिवेश या अर्द्ध-उपनिवेश बने। उपरोक्त बहुराष्ट्रीय राज्य पहले ही देश के तौर पर वजूद रखते थे, जहाँ बाद में हुए पूँजीवादी विकास की बदौलत विभिन्न राष्ट्र अस्तित्व में आये और यहाँ राष्ट्रीय झगड़े अस्तित्व में आये, इनमें दबे-कुचले राष्ट्रों में अपना अलग राष्ट्रीय राज्य बनाने की इच्छाएँ पैदा हुईं।" (सुखविन्दर, 'राष्ट्रीय प्रश्न और मार्क्सवाद', प्रतिबद्ध-33)

स्तालिन का उद्धरण निम्नलिखित है:

> "पर पूर्वी राज्यों में भी पूंजीवाद ने विकास शुरू कर दिया था। संचार के माध्यम व व्यापार विकसित हो रहे थे। बड़े शहर उभर रहे थे। राष्ट्र आर्थिक तौर पर सुगठित हो रहे थे। पूंजीवाद, पीछे धकेल दिये गये राष्ट्रों के शान्त जीवन में घुसकर उन्हें जगा रहा था तथा उन्हें सक्रिय कर रहा था। प्रेस व थियेटर का विकास, ऑस्ट्रिया तथा रूस की संसदों (राइखस्ट्राट व दूमा) की गतिविधियां "राष्ट्रीय चेतना" को मज़बूत करने में सहायता पहुंचा रहे थे। बुद्धिजीवी वर्ग जो जागृत हुआ था उसमें "राष्ट्रीय भावना" फैल रही थी, और वह उसी दिशा में कार्य कर रहा था।

"किन्तु पीछे धकेल दिये गये राष्ट्र, स्वतन्त्र जीवन-जागृति के बावजूद अपने को स्वतन्त्र राष्ट्र राज्यों में ढाल नहीं सके। उनको प्रभुत्वशाली राष्ट्रों के शासक वर्ग, जिसने लम्बे समय से राज्य को अपने अधिकार में कर रखा था, के सशक्त प्रतिरोध का मुकाबला करना पड़ा। उनको बहुत देर हो चुकी थी...

"इस प्रकार **चेक**, **पोल** आदि ने ऑस्ट्रिया के अन्तर्गत अपने आपको राष्ट्र के रूप में गठित किया; **क्रोएत्स** आदि ने हंगरी में लेट्स, लिथुआनियंस, यूक्रेनियंस, व जॉर्जियंस ने रूस में ऐसा ही किया। जो पश्चिम में अपवाद था (आयरलैण्ड) वह पूर्व में नियम बन गया...

"संघर्ष शुरू हुआ और फैला, निश्चय ही समूचे राष्ट्रों के बीच नहीं, बल्कि प्रभुत्वशील व अपदस्थ राष्ट्रों के शासक वर्गों के बीच। यह संघर्ष बहुधा दबाये गये राष्ट्रों के शहरी निम्न पूंजीपति वर्ग द्वारा प्रभुत्वशाली राष्ट्रों के बड़े पूंजीपति वर्ग (चेक और जर्मन) के विरुद्ध चलाया जाता है, अथवा शोषित राष्ट्रों के ग्रामीण बुर्जुआ वर्ग द्वारा प्रभुत्वशाली राष्ट्र के ज़मींदारों (पोलैण्ड में यूक्रेनियन) के विरुद्ध अथवा दमित राष्ट्रों के सम्पूर्ण "राष्ट्रीय" पूंजीपति वर्ग द्वारा प्रभुत्वशील राष्ट्रों के कुलीन शासक वर्ग (रूस में पोलैण्ड, लिथुआनिया और यूक्रेन) के विरुद्ध।

"इसमें पूंजीपति वर्ग मुख्य भूमिका अदा करता है।

"युवा पूंजीपति वर्ग की मुख्य समस्या बाज़ार की समस्या है। इसका उद्देश्य अपना माल बेचना है तथा दूसरे राष्ट्र के पूंजीपति वर्ग से प्रतियोगिता में विजयी होना है। अत: इसकी इच्छा है "स्वयं के", इसके अपने "घरेलू", बाज़ार का आधिपत्य...

"संघर्ष आर्थिक क्षेत्र से हटकर राजनीतिक क्षेत्र में पहुंच जाता है। आने-जाने की स्वतन्त्रता को सीमित करना, भाषा का दमन, मताधिकार में कमी, स्कूलों में रोक, धार्मिक रोक, और अनेकों बातें "प्रतिद्वन्द्वी" के सिर पर थोप दी जाती हैं। निश्चय ही, यह कदम केवल प्रभुत्वशील राष्ट्र के बुर्जुआ वर्ग के स्वार्थ में ही नहीं बल्कि कहना चाहिए कि शासन करने वाली नौकरशाही के विशिष्ट जातिगत उद्देश्य को भी पूरा करने के लिए उठाये जाते हैं...

"**उत्पीड़ित राष्ट्र का पूंजीपति वर्ग**, **जिसका हर रूप में दमन किया जाता है**, **स्वाभाविक तौर पर आन्दोलित हो उठता है।**" (स्तालिन, 'मार्क्सवाद और राष्ट्रीय प्रश्न')

वैसे हम इस बात पर ऊपर पहले ही चर्चा कर चुके हैं कि ऑस्ट्रिया के मालमे में पोलैंड का सवाल, जोकि दमित राष्ट्र था, उपनिवेशीकरण/कब्ज़े का ही था, साथ ही वहाँ दमित बुर्जुआ वर्ग भी मौजूद था। यही बात हंगरी के मामले में क्रोएशिया पर लागू होती है जोकि 1867 से ही हंगरी के शासन के अधीन था इसलिए वहाँ भी उपनिवेशीकरण/कब्ज़े का प्रश्न मौजूद था और उसका बुर्जुआ वर्ग भी दमित था। इसके अलावा जिन अन्य राष्ट्रीयताओं का नाम स्तालिन ने लिया है वे अधिकाशतः दमित अल्पसंख्यक राष्ट्रीयताएं थीं जिनकी चूंकि कोई क्षेत्रीयता ही नहीं थी, इसलिए अलग राज्य बनाने का प्रश्न ही नहीं था और इसलिए उनके उपनिवेशीकरण का भी प्रश्न नहीं था।

सुखविन्दर अपनी प्रस्थापनाओं को सिद्ध करने के चक्कर में निष्कर्षों पर पहुँचने की जल्दी मचाये हुए हैं और इसलिए कह उठते हैं कि इन देशों में दमित राष्ट्र दमनकारी राष्ट्र के उस रूप में उपनिवेश या अर्द्धउपनिवेश नहीं थे जिन अर्थों में साम्राज्यवाद के दौर में उपनिवेश और अर्द्धउपनिवेश अस्तित्व में आये थे। **इससे कोई फर्क नहीं पड़ता है कि दमित राष्ट्र किस रूप में उपनिवेश या किसी अन्य दमनकारी राष्ट्र का कब्ज़ा हैं। यहाँ सबसे मुख्य बात यह है कि अगर किसी दमित राष्ट्र को उसकी इच्छा के विपरीत, यानी ज़बरन, किसी राज्य की सीमा में रखा गया है तो**

वह उपनिवेशवाद/ज़बरन क़ब्ज़ा (annexation) ही है। जहां तक राष्ट्रीय प्रश्न के समाधान का सवाल है, इसमें कोई अन्तर नहीं है। लेनिन इस बारे में एकदम स्पष्ट हैं और अपने लेख, 'आत्मनिर्णय सम्बन्धी बहस के परिणाम' में विस्तारपूर्वक इस प्रश्न पर अपनी अवस्थिति रखते हैं जिसका हम ऊपर सन्दर्भों समेत जिक्र कर चुके हैं। इसके अलावा अगर सुखविन्दर स्तालिन के इस उद्धरण को थोड़ा ध्यान से पढ़ लेते तो इतनी ऊर्जा यह साबित करने में नहीं लगाते कि राष्ट्रीय दमन बिना उपनिवेशों के, बिना भूमि-सम्बन्धी प्रश्न के भी हो सकता है। **क्योंकि इस उद्धरण में जो सबसे काम की बात है वह सुखविन्दर के समझ में ही नहीं आई!** उद्धरण के आखिरी वाक्य में स्तालिन के इन शब्दों पर भी ग़ौर करें :

> "**दमित राष्ट्र का पूँजीपति वर्ग, जो कि हर अर्थ में दबाया गया है, वह नैसर्गिक तौर पर, आन्दोलन में कूद पड़ता है।**"

तो सबसे महत्वपूर्ण बात जो स्तालिन यहाँ बता रहे है वह यह है कि किस तरह दमित राष्ट्र के बुर्जुआ वर्ग ने, जोकि कौमी दमन का शिकार था (माफ़ कीजियेगा, बार-बार यह तथ्य जोड़ना पड़ रहा है क्योंकि इतनी सीधी-सामान्य बात भी सुखविन्दर के समझ से बाहर प्रतीत हो रही है), या तो उसके पूरे वर्ग ने या फिर उसके एक हिस्से ने दमनकारी राष्ट्र के विरुद्ध संघर्ष का मोर्चा खोला। यानी खुद यहाँ स्तालिन भी बुर्जुआजी के दमित होने को राष्ट्रीय दमन का विशिष्ट तत्व बता रहे हैं। **वास्तव में, स्तालिन यहां बहुत ही स्पष्ट शब्दों में बताते हैं कि राष्ट्रीय दमन के आरम्भ की बुनियाद में ही दमित राष्ट्र के पूंजीपति वर्ग और दमनकारी राष्ट्र के शासक वर्गों का अन्तरविरोध होता है।** दमनकारी राष्ट्र की बुर्जुआजी/शासक वर्ग दमित राष्ट्र की बुर्जुआजी को आर्थिक तौर पर दबाने के साथ शुरुआत करते हैं जिसके लिए राजनीतिक दमन अनिवार्य होता है। जैसे ही यह राजनीतिक दमन आरम्भ होता है, कुछ ही समय में वह दमित राष्ट्र की समूची आबादी के राष्ट्रीय दमन में तब्दील हो जाता है। यह देशी भाषाओं के दमन से लेकर राजनीतिक व नागरिक अधिकारों पर पाबन्दी तक जाता है। नतीजतन, पूरा राष्ट्र ही इस दमन का शिकार होता है और उसके खिलाफ लड़ता है। **लेकिन इन सबके मूल में दमित राष्ट्र की बुर्जुआजी का दमन ही है, जिसको हटा दें तो राष्ट्रीय दमन की अवधारणा ही निरर्थक हो जाती है।**

साम्राज्यवाद के स्थापित होने के पहले के दौर में पश्चिमी यूरोप में बुर्जुआजी ने स्वयं एक प्रगतिशील भूमिका अदा की थी और सामन्तवाद के विरुद्ध लड़ते हुए राष्ट्र-राज्यों की स्थापना में एक प्रगतिशील भूमिका निभाई थी। पूर्वी यूरोप में राष्ट्रों के दमन के खिलाफ दमित बुर्जुआजी का एक हिस्सा दमनकारी राष्ट्र की बुर्जुआजी के विरुद्ध आन्दोलित हुआ था, हालांकि दमनकारी राष्ट्रों की बुर्जुआजी साम्राज्यवाद के युग में राष्ट्रों को आत्मनिर्णय का अधिकार देने की क्षमता अपवादों को छोड़कर (जैसे कि स्वीडन-नॉर्वे, स्विट्ज़रलैण्ड) खो चुकी थी और अब यह प्रश्न जनता की जनवादी क्रान्ति का प्रश्न और इस रूप में विश्व समाजवादी क्रान्ति की प्रक्रिया का एक अंग बनता जा रहा था; जबकि साम्राज्यवाद के दौर में उपनिवेशों के राष्ट्रीय मुक्ति की प्रक्रिया में भी काफी हद तक यह बात लागू होती थी कि वहां राष्ट्रीय मुक्ति का कार्यभार अब जनता की जनवादी क्रान्ति का प्रश्न बनता जा रहा था और विश्व समाजवाद के साम्राज्यवाद के विरुद्ध वैश्विक संघर्ष का अंग बन चुका था। बाद के दोनों ही मामलों में, यानी कि राष्ट्रीय दमन के मामलों में, राष्ट्रीय प्रश्न के सार में बुर्जुआ वर्ग का दमन ही था, चाहे बुर्जुआजी इसके खिलाफ आमूलगामी रूप से संघर्ष करती या न करती। इतिहास ने दिखलाया कि 'तीसरी दुनिया' के तमाम देशों में राष्ट्रीय मुक्ति का कार्यभार बुर्जुआजी की अगुवाई में ही पूरा हुआ। इसके बारे में हम आगे चर्चा करेंगे।

मूल बात यह है कि उभरते पूंजीवाद के दौर से लेकर साम्राज्यवाद तक के दौर में राष्ट्रीय दमन के मूल में दमित राष्ट्र की बुर्जुआजी का दमन ही है। फर्क बस यह हुआ है कि उभरते पूंजीवाद के दौर के मुकाबले साम्राज्यवाद के दौर में बुर्जुआजी राष्ट्रीय मुक्ति के कार्यभार को आमूलगामी रूप से पूरा करने की अपनी क्षमता खोती गयी है। फर्क यह नहीं आया है कि उभरते पूंजीवाद के दौर में राष्ट्रीय दमन की बुनियाद में दमित राष्ट्र की बुर्जुआजी का दमन था, मगर साम्राज्यवाद के दौर में ऐसा नहीं रह गया था! कोई मूर्ख ही ऐसा नतीजा निकाल सकता है। लेकिन सुखविन्दर हैं कि इस तरफ ध्यान ही नहीं दे रहे हैं या फिर देखकर भी अनदेखा कर रहे हैं! आगे हम एक काल्पनिक परिदृश्य पर सुखविन्दर के सिद्धान्त को लागू करके दिखलाएंगे कि वह कैसे हास्यास्पद नतीजों पर पहुंचाता है।

स्तालिन के उद्धरणों के साथ सुखविन्दर की ज़्यादती जारी है!

इसके बाद सुखविन्दर स्तालिन का एक और उद्धरण देकर फिर से वही पुरानी बात दुहरा देते हैं और कहते हैं कि,

> "स्तालिन के उद्धरण से स्पष्ट है कि राष्ट्रीय आन्दोलन का agrarian character हो भी सकता है और नहीं भी। दरअसल इस आन्दोलन की माँगों में विविधता रहती है। 20वीं सदी में तीसरी दुनिया के औपनिवेशिक और अर्द्धऔपनिवेशिक देशों के राष्ट्रीय आन्दोलन सामन्तवाद विरोधी (agrarian) और उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद-विरोधी आन्दोलन थे। पर यह शर्त उपरोक्त तरह के बहुराष्ट्रीय देशों पर लागू नहीं होती।" (सुखविन्दर, 'राष्ट्रीय प्रश्न और मार्क्सवाद', प्रतिबद्ध-33)

स्तालिन का उद्धरण नीचे दिया गया है-

> "राष्ट्रीय आन्दोलन की अन्तर्वस्तु, जाहिरा तौर पर, हर जगह समान नहीं हो सकती है: यह पूरी तरह से आन्दोलन द्वारा की जाने वाली विभिन्न मांगों द्वारा निर्धारित होती हैं। आयरलैण्ड में आन्दोलन ने एक कृषि चरित्र ग्रहण किया; बोहेमिया में इसने "भाषा" चरित्र ग्रहण किया; एक स्थान पर इसकी मांग नागरिक समानता और धार्मिक स्वतन्त्रता की होती है, तो दूसरे में राष्ट्र के "अपने" अधिकारी, और उसकी अपनी डायट (संसद-अनु.) के लिए होती है। (स्तालिन, **मार्क्सवाद और राष्ट्रीय प्रश्न**)

पहली बात तो यह कि राष्ट्रीय प्रश्न का मतलब केवल कृषि प्रश्न या भूमि प्रश्न नहीं है। स्तालिन ने कभी ऐसा नहीं कहा था, बल्कि किसान प्रश्न की बात की थी, न कि कृषि/भूमि प्रश्न की। स्तालिन के इस उद्धरण को हम पहले भी पेश कर चुके हैं और मौजूदा लेख में भी पेश कर चुके हैं और दिखला चुके हैं कि इस बुनियादी बात की भी सुखविन्दर को समझ नहीं है। साफ़ है कि भूमि/कृषि प्रश्न की उपस्थिति राष्ट्रीय दमन के लिए कोई अनिवार्य शर्त नहीं है, न ही इसे सिद्ध करने की कोई आवश्यकता है। हमने शुरू से ही **बुर्जुआजी के दमन** के पहलू को केन्द्रीय पहलू बताया है, (देखें, **राष्ट्रीय दमन क्या है**?, 'मुक्तिकामी छात्रों-युवाओं का आह्वान' जनवरी-अप्रैल, 2020) जो कि सामन्ती या अर्द्धसामन्ती देश में भूमि प्रश्न के साथ जुड़कर आता है, जबकि पूंजीवादी विकास की स्थितियों में उपनिवेशीकरण/कब्ज़े के साथ जुडकर आता है। यह हम ऊपर भी बता चुके हैं।

दूसरी बात, स्तालिन सुखविन्दर द्वारा पेश उपरोक्त उद्धरण में *राष्ट्रीय आन्दोलन की अभिव्यक्तियों* की बात कर रहे हैं। इससे ऐसा कोई नतीजा निकालना कि राष्ट्रीय दमन बुर्जुआ वर्ग समेत पूरे दमित राष्ट्र के दमन के अलावा कुछ और हो सकता है बचकानापन होगा। राष्ट्रीय दमन एक राजनीतिक-आर्थिक परिघटना है जोकि दमनकारी राष्ट्र के दमित राष्ट्र (बुर्जुआजी समेत) के प्रति आचरण में अभिव्यक्त होती है। **हमने स्तालिन के पिछले उद्धरण में देखा कि कैसे दमित**

राष्ट्र का बुर्जुआ वर्ग घरेलू बाज़ार पर अपना नियंत्रण स्थापित करना चाहता है जोकि तब तक प्रभुत्वशाली राष्ट्र के बुर्जुआ वर्ग के हाथों में होता है और यहीं से राष्ट्रीय संघर्षों की बुनियाद पड़ती है। यही वास्तव में राष्ट्रीय दमन का मूल तत्व है। ज़ाहिरा तौर पर जब राष्ट्रीय दमन अस्तित्व में आता है तो इसके साथ दमित राष्ट्र की भाषा, संस्कृति, आदि का भी दमन होता है। लेकिन भाषाई दमन हर सूरत में राष्ट्रीय दमन नहीं होता है, जैसा कि हम आगे दिखलाएंगे। इसलिए राष्ट्रीय दमन की अवधारणा का कोई भी सांस्कृतिकीकरण करने से बचना चाहिए।

यह सब हम इसलिए कह रहे हैं क्योंकि सुखविन्दर आगे इस उद्धरण को इस प्रकार व्याख्यायित करते हैं,

> "अगर राष्ट्रीय आन्दोलन में मज़दूर (बुर्जुआज़ी के साथ अविकसित शत्रुता के कारण, वर्गीय चेतना की कमी, संगठन की कमी आदि कारणों से) और किसान (ज़मीन के कारण) इसमें शामिल होते हैं तो राष्ट्रीय आन्दोलन सार्वजनिक चरित्र अख़्तियार कर लेता है। बोहेमिया (आज का चैक गणराज्य) में राष्ट्रीय आन्दोलन ने भाषाई चरित्र अख़्तियार किया पर उस समय यह सार्वजनिक आन्दोलन न बना। पर हम जानते हैं कि 1918 में ऑस्ट्रो-हंगरी सल्तनत से अलग होकर पहले चेकोस्लोवाकिया गणराज्य बना और फिर 1993 के शुरू में चैक गणराज्य एक अलग राष्ट्रीय राज्य बना।" (सुखविन्दर, 'राष्ट्रीय प्रश्न और मार्क्सवाद', प्रतिबद्ध-33)

आप देख सकते हैं कि यह तर्क पद्धति कितने स्तरों पर गड़बड़ियों से भरी पड़ी है और एक ही पैराग्राफ में इतिहास के प्रति ऐसा शर्मनाक अनपढ़पन वाकई चौंकाने वाला है। सुखविन्दर इसको ऐसे पेश कर रहे हैं जैसे कि बोहेमिया में राष्ट्रीय आन्दोलन जिसने भाषाई चरित्र अख्तियार किया था वह *एक दौर में* इसलिए असफल हुआ क्योंकि वह *उस वक़्त* सामाजिक आन्दोलन नहीं बन पाया था और मानो *दूसरे दौर में* इसलिए सफल हो गया क्योंकि अब यह सामाजिक आन्दोलन बन गया था! **यह व्याख्या ही सही नहीं है क्योंकि तथ्यों से इसका दूर-दूर तक कोई रिश्ता नहीं है। आइये देखते हैं कि इस मसले के ठोस तथ्य क्या हैं।**

सबसे पहले तो यह जान लेना चाहिए कि ऑस्ट्रियाई और हंगेरियाई राष्ट्रों के बाद जिस राष्ट्र का ऑस्ट्रियाई राज्यसत्ता में सबसे ज्यादा दख़ल था, वे चेक ही थे। यही कारण था कि ऑस्ट्रियाई राज्यसत्ता हमेशा ही चेक राष्ट्र को एक के बाद दूसरी रियायतें देती जा रही थी, जिसके कारण लेनिन ने कहा था कि ऑस्ट्रियाई राज्यसत्ता एक "तिहरे राज्य" में तब्दील हो रही है। **जहां तक बोहेमिया का प्रश्न है**, 1879 **से** 1893 **तक ऑस्ट्रिया के प्रधानमन्त्री रहे काउण्ट एडवर्ड फॉन टाफे ने बोहेमिया में चेक भाषा को राज्य तंत्र व स्कूलों के लिए आधिकारिक भाषा बना दिया।** भाषाओं को लेकर तुच्छ झगड़े ऑस्ट्रिया-हंगरी में अन्य स्थानों पर भी चलते रहते थे, जो कि एक बहुराष्ट्रीय राज्यसत्ता के भीतर विभिन्न कौमों की बुर्जुआजी की कशमकश का ही नतीजा थे। दरअसल ये तुच्छ झगड़े ही थे, जिन्होंने बावर व रेनर के सांस्कृतिक-राष्ट्रीय स्वायत्तता के सिद्धान्त की भौतिक ज़मीन तैयार की। देखें कि लेनिन ने इसके बारे में क्या लिखा है:

> "हताश टटपुंजिया वर्ग का यह विचार (सांस्कृतिक-राष्ट्रीय स्वायत्तता) केवल पिछड़े, सामन्ती, पुरोहिती, नौकरशाह ऑस्ट्रिया में, पूर्वी यूरोप में ही पैदा हो सकता है, जहां *समस्त* सार्वजनिक व राजनीतिक जीवन ***भाषाओं के सवाल पर घृणित तुच्छ तकरारों (और भी बुरा: गाली-गलौच और गुलगपाड़ों) से बाधित रहता है।***" (लेनिन,1913, '**सांस्कृतिक-राष्ट्रीय' स्वायत्तता**, अनुवाद हमारा)

तो सुखविन्दर को अगर लगता है कि बोहेमिया में कोई ऐसा राष्ट्रीय मसला था जो कि पहले सामाजिक रूप से व्यापक राष्ट्रीय आन्दोलन नहीं बना और बाद में बन गया और इसकी वजह से ही चेकोस्लोवाकिया और बाद में चेक गणराज्य अस्तित्व में आये, तो यही कहा जा सकता है कि इतिहास के बारे में ऐसा अज्ञान आपको भविष्य में कूड़ेदान में

पहुंचाएगा। **जब आपको इतिहास के बारे में पता ही नहीं है, तो उसके बारे में इतने आत्मविश्वास से लिख क्यों रहे हैं? एक मार्क्सवादी को यह शोभा देता है क्या**?

1918 में चेकोस्लोवाकिया का बनना प्रथम विश्वयुद्ध के बाद के अन्तरराष्ट्रीय घटनाक्रम का नतीजा था जब युद्ध में हारे हुए राष्ट्रों, इस मामले में ऑस्ट्रिया-हंगरी, के भू-क्षेत्रों का बंटवारा कर दिया गया। यह बात दीगर है कि इस प्रक्रिया से भी कई राष्ट्र-राज्य अस्तित्व में आए लेकिन वे राष्ट्रीय दमन के विरुद्ध राष्ट्रीय आन्दोलन का परिणाम नहीं थे, जैसा कि सुखविन्दर को सपने में दिखाई पड़ा है, बल्कि साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा का नतीजा थे। 1993 में चेक गणराज्य और स्लोवाकिया का अस्तित्व में आना, जिसे 'वेलवेट डाइवोर्स' (velvet divorce) की संज्ञा दी गयी थी, भाषाई दमन (क्योंकि सुखविन्दर के लिए यही वहां राष्ट्रीय दमन था) के कारण नहीं हुआ था बल्कि यह 1990 के बाद सोवियत संघ के विघटन के नतीजों में से एक था। **लेकिन सुखविन्दर राष्ट्र-राज्य बनने के हर मौके पर ढोलक लेकर खड़े रहते हैं और जैसे ही कोई नया राष्ट्र-राज्य बनता है, तो कहरवा बजाना शुरू कर देते हैं, चाहे वह हंगरी-ऑस्ट्रिया का विघटन हो, जिसका हंगरी या ऑस्ट्रिया के राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन या राष्ट्र-राज्य बनाने के संघर्ष से कोई लेना-देना नहीं था, या चेकोस्लोवाकिया का टूटना जो कि वैश्विक साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा का एक नतीजा था, जिसमें सोवियत सामाजिक साम्राज्यवादी धड़े की पराजय का दौर जारी था।** चेक व स्लोवाक गणराज्यों के बनने के मामले में ज़ाहिरा तौर पर दोनों राष्ट्रीयताओं में संजाति-विषयक (ethnic) विभेद तो पहले से ही मौजूद थे। **लेकिन यहाँ ऐसा नहीं है कि** 1918 **या** 1993 **में भाषाई चरित्र वाले राष्ट्रीय आन्दोलन ने सहसा सामाजिक चरित्र ग्रहण करके राष्ट्रीय प्रश्न का समाधान कर दिया**! यह सुखविन्दर के कौमवादी दिमाग की कल्पना की उड़ान मात्र है। आप इसे गम्भीरता से न लें!

स्तालिन ने अपनी उपरोक्त रचना में ही लिखा था कि चूँकि ऐसे आंदोलनों (यानी भाषा को लेकर किये गए आन्दोलन) का कोई सामाजिक चरित्र नहीं था और चूँकि इनमें राष्ट्रीय दमन का वह मूल तत्व अनुपस्थित होता है जिसके कारण आप दमन को राष्ट्रीय दमन कहते हैं इसलिए वे तुच्छ टकरावों में बदल जाते हैं, जो कि जल्द ही साइनबोर्डों को लेकर लड़ाइयों और 'झगड़ों' में बदल जाते हैं (जैसा कि बोहेमिया के छोटे शहरों में हुआ)। जैसा कि हमने ऊपर बताया, चेक राष्ट्र को ऑस्ट्रिया की राज्यसत्ता में साझीदारी मिलनी शुरू हो चुकी थी और प्रधानमंत्री टाफे के अन्तर्गत चेक भाषा बोहेमिया में आधिकारिक स्कूली व सरकारी कामकाज की भाषा भी बन चुकी थी। सुखविन्दर इतिहास के तथ्यों को भी सर के बल खड़ा कर रहे हैं! भाषाई दमन या विभिन्न भाषाओं के बीच गैर-बराबरी हर सूरत में अपने आप में राष्ट्रीय दमन नहीं होता है, इस बारे में हम विस्तार से चर्चा आगे करेंगे।

इसके बाद सुखविन्दर स्तालिन का फिर एक लम्बा उद्धरण देते हैं और कहते हैं कि

> "स्तालिन के उद्धरण से स्पष्ट है कि राष्ट्रीय दमन विभिन्न प्रकार के राज्यों में हो सकता है। ज़रूरी नहीं कि यह उन्हीं राज्यों में हो जहां भूमिपति कुलीनशाही (सामन्तवाद) सत्ता में हो।" (सुखविन्दर, 'राष्ट्रीय प्रश्न और मार्क्सवाद', प्रतिबद्ध-33)

स्तालिन का उद्धरण नीचे दिया गया है-

> "राष्ट्रीय दमन क्या है? राष्ट्रीय दमन दमित जनताओं के शोषण और लूट का, दमित राष्ट्रीयताओं के अधिकारों को जबरन बाधित करने के कदमों का एक तंत्र होता है, जिसका सहारा साम्राज्यवादी दायरों द्वारा लिया जाता है। एक साथ मिलाकर ही इन्हें उस नीति के रूप में जाना जाता है जिसे राष्ट्रीय दमन की नीति कहा जाता है।

"पहला सवाल यह है कि राष्ट्रीय दमन की अपनी नीति को लागू करने के लिए कोई विशेष सरकार कौन से वर्गों पर निर्भर करती है? इस प्रश्न का जवाब दिया जा सके इससे पहले यह समझना ज़रूरी है कि क्यों विभिन्न राज्यों में राष्ट्रीय दमन के विभिन्न रूप अस्तित्वमान होते हैं, क्यों एक राज्य में राष्ट्रीय दमन दूसरे राज्य के मुकाबले ज्यादा भोंड़ा होता है। मिसाल के तौर पर, ब्रिटेन और ऑस्ट्रिया-हंगरी में राष्ट्रीय दमन ने कभी संहारों का रूप नहीं लिया है, बल्कि दमित राष्ट्रीयताओं के राष्ट्रीय अधिकारों पर रोक का रूप लिया है। दूसरी ओर, रूस में, अक्सर ही यह संहारों व हत्याकाण्डों का रूप लेता है। इसके अलावा, कुछ राज्यों में अल्पसंख्यक राष्ट्रीयताओं के खिलाफ कोई विशेष कदम नहीं होते। जैसे कि स्विट्ज़रलैण्ड में, जहां फ्रांसीसी, इतालवी और जर्मन साथ में स्वतंत्र रूप से रहते हैं, कोई राष्ट्रीय दमन नहीं है।

"हम विभिन्न राज्यों में राष्ट्रीयताओं के प्रति रवैये में फर्क की व्याख्या किस प्रकार करें?

"इन राज्यों में जनवाद के स्तर में फर्क के द्वारा। जब पहले के वर्षों में रूस में राज्यसत्ता पर पुराने भूस्वामी कुलीनों का नियंत्रण था, तो राष्ट्रीय दमन हत्याकाण्डों व जनसंहारों का रूप ग्रहण कर सकता था, और वास्तव में करता भी था। ब्रिटेन में, जहां एक निश्चित स्तर का जनवाद और राजनीतिक स्वतन्त्रता है, राष्ट्रीय दमन ने कम क्रूर रूप ग्रहण किया। स्विट्ज़रलैण्ड लगभग एक जनवादी समाज है, और उस देश में राष्ट्रों को कमोबेश पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त है। संक्षेप में, जितना ही अधिक जनवादी देश, उतना कम राष्ट्रीय दमन, और वैसे ही इसका विपरीत भी सत्य है। और चूंकि जनवाद से हमारा अर्थ यह है कि कुछ निश्चित वर्ग राज्यसत्ता को नियंत्रित करते हैं, इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि सत्ता से भूस्वामी कुलीन वर्ग जितना नज़दीक होता है, जैसा कि पुराने ज़ारवादी रूस में था, दमन उतना ही तीव्र होता है और उसके रूप उतने ही भयंकर।

"लेकिन, राष्ट्रीय उत्पीड़न केवल भूस्वामी कुलीन वर्ग द्वारा ही कायम नहीं रखा जाता है। एक अन्य शक्ति भी ऐसा करती है--साम्राज्यवादी समूह, जो कि अपने ही देश में उपनिवेशों से सीखकर राष्ट्रीयताओं को गुलाम बनाने के तरीके अपनाते हैं और भूस्वामी कुलीन वर्ग के स्वाभाविक मित्र बन जाते हैं। उनका अनुसरण टटपुंजिया वर्ग, बौद्धिक वर्ग का एक हिस्सा और मज़दूरों के ऊपरी संस्तर का एक हिस्सा करते हैं, जिन्हें लूट का एक हिस्सा मिलता है। इस प्रकार सामाजिक शक्तियों का एक पूरा समूह होता है जिसकी अगुवाई भूस्वामी कुलीन वर्ग और वित्तीय कुलीन वर्ग करते हैं, जो कि राष्ट्रीय दमन का समर्थन करते हैं। एक वास्तविक जनवादी ढांचा पैदा करने के लिए ज़रूरी है कि पहले इन शक्तियों को राजनीतिक मंच से हटाकर ज़मीन तैयार की जाय।" (स्तालिन, राष्ट्रीय प्रश्न पर रिपोर्ट, 29 अप्रैल 1917)

पाठक देख सकते हैं कि सुखविन्दर फिर से एक नया अविष्कार करने का दावा लेकर आ गए हैं, बिना यह समझे कि इस उद्धरण में स्तालिन कह क्या रहे हैं! आप यह किसको बता रहे हैं कि राष्ट्रीय दमन अलग-अलग तरह के राज्यों में अस्तित्वमान हो सकता है। **बिलकुल हो सकता है। सामंतवाद के बिना या भूस्वामी कुलीनशाही (जो कि हमेशा अनिवार्यत: सामन्ती नहीं होती है, हालांकि सुखविन्दर को यह पता नहीं है) के बिना भी हो सकता है। हमने ऊपर स्वयं फिलिस्तीन का उदहारण भी दिया है। कश्मीर में भी सामंतवाद तो नहीं है, वहां तो बहुत पहले ही भूमि-सुधार हो चुके थे। तो यह आप बार-बार किसको बता रहे हैं? मुख्य बात जो आपको बतानी चाहिए वह यह कि दमित राष्ट्रों की बुर्जुआजी का क्या चरित्र होता है? वह दमित होती है कि नहीं होती है? दूसरी बात, यहां स्तालिन दमित राष्ट्रों में मौजूद शासक वर्ग की नहीं बल्कि दमनकारी राष्ट्रों में मौजूद शासक वर्ग की बात कर रहे हैं, जोकि कुलीन भूस्वामी वर्ग के वर्चस्व में हो सकता है, या साम्राज्यवादी व कुलीन भूस्वामी वर्ग के**

संयुक्त नियंत्रण में हो सकता है। स्तालिन यहां यह बता ही नहीं रहे हैं कि दमित राष्ट्र में कृषि प्रश्न हल हुआ या नहीं, सामन्ती वर्ग थे या नहीं, वगैरह। स्तालिन यहां इस बात की चर्चा कर ही नहीं रहे हैं कि दमित कौम की बुर्जुआजी दमित है या नहीं। यह तो वह पहले ही बार-बार स्पष्ट कर चुके हैं और मार्क्सवादियों-लेनिनवादियों के लिए यह एक सहज स्पष्ट तथ्य था, जिसे बार-बार दुहराने की कोई आवश्यकता नहीं थी (जाहिर है कि स्तालिन को इस बात का आभास नहीं था कि कम्युनिस्ट आन्दोलन में भी भविष्य में सुखविन्दर पैदा होंगे!)। स्तालिन महज़ इतना बता रहे हैं कि राष्ट्रीय दमन कैसे रूप ग्रहण करेगा, यह इस बात पर निर्भर करता है कि दमनकारी कौम की राज्यसत्ता में किसका वर्चस्व है। यदि यह राज्यसत्ता सामन्ती या पूंजीवादीकृत भूस्वामी वर्गों के नियंत्रण में है, तो राष्ट्रीय दमन के रूप आम तौर पर ज्यादा बर्बर होंगे, और यदि यह पूंजीपति वर्ग के नियंत्रण में है, जो कि अपेक्षाकृत ज्यादा जनवादी है, तो ये रूप कम बर्बर होंगे। लेकिन सुखविन्दर यह चर्चा कर क्यों रहे हैं? यह तो कभी बहस का मुद्दा ही नहीं था कि दमनकारी शासक वर्ग के चरित्र के अनुसार दमन के रूप क्या होंगे! कहीं सुखविन्दर दमित राष्ट्र के शासक वर्ग और दमनकारी राष्ट्र के शासक वर्ग में गड्डमड्ड तो नहीं कर बैठे हैं? लगता तो ऐसा ही है! सुखविन्दर को इतनी सामान्य बात भी समझ में नहीं आ रही है, हालांकि वह खुद ही इस उद्धरण को पेश करते हैं!

पोलैण्ड में बुर्जुआजी के दमित होने का प्रश्न

यदि कोई राष्ट्र दमित है, तो उसके लिए एक ही समाधान है, *राष्ट्रीय आत्मनिर्णय का अधिकार*, *जिसका लेनिन के अनुसार एक ही मतलब है: राजनीतिक आत्मनिर्णय का अधिकार*, *यानी अलग होने और स्वतन्त्र राज्य बनाने का अधिकार।* **लेनिन ने स्पष्ट शब्दों में बताया है कि यदि किसी राष्ट्र के पूंजीपति वर्ग का कोई भी हिस्सा दमित नहीं है, तो वह दमित राष्ट्र माना ही नहीं जायेगा।** आगे हम माओ और केपेक्काया के हवाले से भी इस तथ्य को प्रदर्शित करेंगे। अभी देखते हैं कि लेनिन पोलिश सामाजिक-जनवादियों, विशेषकर, रोज़ा लक्जेमबर्ग से इस विषय में, कि पोलैण्ड समेत यूरोप के अन्य दमित राष्ट्रों, जैसे कि बेल्जियम, सर्बिया, गैलीशिया आदि की बुर्जुआजी दमित है या नहीं, क्या कहते हैं:

> "बहरसूरत, शायद ही कोई इस बात से इंकार करने की जुर्रत करे कि कब्ज़ा किये गये बेल्जियम, सर्बिया, गैलीशिया और आर्मेनिया कब्ज़ा करने वालों के खिलाफ अपने "विद्रोह" को "पितृभूमि की रक्षा" की संज्ञा देंगे और **सर्वथा न्यायोचित रूप से देंगे।** प्रकटत: पोलिश साथी इस प्रकार के विद्रोह का इस आधार पर **विरोध करते हैं** कि इन कब्ज़ा किये गये देशों में **भी** बुर्जुआ वर्ग है और वह **भी** दूसरे राष्ट्रों की जनता को उत्पीड़ित करता है या ज्यादा ठीक कहा जाय, तो उत्पीड़ित कर सकता है, क्योंकि प्रश्न केवल "उत्पीड़ित करने के **अधिकार**" का है। फलत: किसी युद्ध विशेष अथवा विद्रोह विशेष के मूल्यांकन के लिए जो कसौटी चुनी जाती है, वह उस युद्ध अथवा विद्रोह की **वास्तविक** सामाजिक अन्तर्वस्तु (उत्पीड़क राष्ट्र से मुक्ति के लिए उत्पीड़ित राष्ट्र का संघर्ष) नहीं, बल्कि इस समय स्वयं **उत्पीड़ित बुर्जुआ वर्ग** द्वारा "उत्पीड़ित करने के" अपने "**अधिकार**" की सम्भाव्य सिद्धि है।" (लेनिन, **आत्मनिर्णय सम्बन्धी बहस के परिणाम**)

सुखविन्दर ने मेहरिंग के एक उद्धरण को लेनिन के 1903 के लेख 'हमारे कार्यक्रम में राष्ट्रीय प्रश्न' से निकालकर दिया है, जिसमें मेहरिंग कह रहे हैं कि पोलिश बुर्जुआजी अब राष्ट्रीय आजादी की लड़ाई को नहीं लड़ रही है और इस कार्य को भी सर्वहारा वर्ग को अपने नेतृत्व में पूरा करना पड़ेगा।

इसके सुखविन्दर ने दो अर्थ निकाले हैं। एक तो यह कि पोलिश बुर्जुआजी दमित नहीं थी, क्योंकि वह राष्ट्रीय मुक्ति के लिए संघर्ष नहीं कर रही थी। और दूसरा यह कि चूंकि सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में राष्ट्रीय आज़ादी मिलेगी इसलिए वह समाजवादी क्रान्ति होगी। **इसमें से पहला नतीजा मूर्खतापूर्ण है और दूसरा त्रॉत्स्कीपंथी 'स्थायी क्रान्ति' के सिद्धान्त की मिसाल है।** दूसरे नतीजे पर हम बाद में बात करेंगे।

जहां तक पहले नतीजे की बात है, तो आप हमारे द्वारा लेनिन के ठीक ऊपर पेश किये गये उद्धरण से देख सकते हैं कि 1903 में तो दूर 1916 में भी पोलिश बुर्जुआजी दमित थी। लेनिन ने और बहुत से स्थानों पर इस बारे में चर्चा की है। आइये कुछ मिसालों को देखते हैं।

पोलैण्ड समेत सभी दमित राष्ट्रों के बुर्जुआ राष्ट्रवाद के सीमित जनवादी चरित्र के बारे में बात करते हुए लेनिन लिखते हैं:

> "पोलैण्ड में राष्ट्रवाद के विरुद्ध अपने संघर्ष में बहकर रोज़ा लक्जेमबर्ग महान रूसी राष्ट्रवाद के बारे में भूल गयी हैं, हालांकि यह राष्ट्रवाद फिलहाल सबसे ताकतवर है। यह राष्ट्रवाद बुर्जुआ से अधिक सामन्ती है, और जनवाद और सर्वहारा संघर्षों के लिए प्रमुख बाधा है। **किसी भी दमित राष्ट्र के बुर्जुआ राष्ट्रवाद की एक सामान्य जनवादी अन्तर्वस्तु होती है जो दमन के खिलाफ होती है और यही अन्तर्वस्तु है जिसका हम बिना शर्त समर्थन करते हैं। साथ ही हम राष्ट्रीय बहिष्करणवाद की प्रवृत्ति से एकदम सख्ती से अलगाव करते हैं, हम यहूदियों को दबाने की पोलिश बुर्जुआजी की प्रवृत्ति, आदि के विरुद्ध संघर्ष करते हैं।**" (लेनिन, **संग्रहीत रचनाएं**, **खण्ड-**20, प्रगति प्रकाशन, मॉस्को, पृ. 412, अंग्रेजी संस्करण, ज़ोर हमारा)

यदि कोई दमित पोलिश बुर्जुआजी ही नहीं थी, तो लेनिन यहां किसकी बात कर रहे हैं? आगे देखें। अगले उद्धरण में लेनिन बताते हैं कि पोलिश राष्ट्रीय आन्दोलन छोटे भूस्वामी कुलीन वर्ग (जिसका आंशिक बुर्जुआकरण हो चुका था) के राष्ट्रीय आन्दोलन से होते हुए बुर्जुआजी-नीत राष्ट्रीय आन्दोलन और फिर अन्तत: किसान राष्ट्रीय आन्दोलन के चरण में पहुंचता है। निम्न उद्धरण पर विशेष रूप से गौर करें:

> "कुलीन वर्गीय राष्ट्रवाद से **बुर्जुआ वर्गीय राष्ट्रवाद** और फिर किसान राष्ट्रवाद में रूपान्तरण की प्रक्रिया में पोलिश राष्ट्रवाद में आने वाले परिवर्तनों पर गौर करना दिलचस्प होगा। 'प्रशियाई राज्य में पोलिश समुदाय' नामक अपनी पुस्तक में लुडविग बर्नहार्ड, जो कि एक जर्मन कोकोश्किन का दृष्टिकोण रखते हैं, एक बेहद विशिष्ट परिघटना का विवरण देते हैं: राष्ट्रीयता, धर्म और "पोलिश" भूमि के लिए अपने संघर्ष में पोलिश किसानों के विभिन्न सहकारी संघों और अन्य संगठनों के करीबी गठजोड़ के रूप में जर्मनी में पोलिश लोगों द्वारा एक प्रकार के "किसान गणराज्य" का निर्माण। जर्मन दमन ने पोलिश लोगों को कुलीन वर्ग के राष्ट्रवाद के पहले जागरण के बाद, **फिर बुर्जुआजी के राष्ट्रवाद के जागरण के बाद**, **और फिर किसान जनसमुदायों के राष्ट्रवाद के जागरण के बाद** साथ जोड़ा और पृथक किया (विशेष तौर पर 1873 में जर्मनों द्वारा स्कूलों में पोलिश भाषा के प्रयोग के विरुद्ध शुरू किये गये अभियान के बाद)।" (लेनिन, **संग्रहीत रचनाएं**, **खण्ड-**20, प्रगति प्रकाशन, मॉस्को, पृ. 453, अंग्रेजी संस्करण)

यदि कोई दमित बुर्जुआ वर्ग नहीं था तो कोई बुर्जुआ राष्ट्रवाद भी पैदा नहीं हो सकता था। यह दीगर बात है कि यह बुर्जुआ राष्ट्रवाद बाद में सर्वहारा वर्ग के उभार के डर से कितना समझौतापरस्त हो गया और वह राष्ट्रीय मुक्ति के कार्यभार को पूरा करने की जिम्मेदारी से पीछे हट गया। अगले उद्धरण में लेनिन दमित राष्ट्रों के बुर्जुआ वर्ग द्वारा दमनकारी राष्ट्रों के शासक वर्गों के प्रति घृणा को इंगित करते हुए लिखते हैं:

> "शायद श्री वी. कोसोव्स्की श्री डब्ल्यू को बताएंगे कि **ऐसा क्यों है कि रूस में एक यूक्रेनी या पोलिश बुर्जुआ, फ्रांस में एक डैनिश और अल्सेशियन बुर्जुआ या ब्रिटेन में एक आइरिश बुर्जुआ अक्सर उन राष्ट्रों के प्रति एक शत्रुतापूर्ण कट्टरपंथ दिखलाते हैं, जो कि उनका दमन करते हैं।**" (**लेनिन**, **संग्रहीत रचनाएं**, **खण्ड-21**, प्रगति प्रकाशन, मॉस्को, पृ. 371, अंग्रेजी संस्करण, ज़ोर हमारा)

लेनिन अगले उद्धरण में पोलिश सामाजिक-जनवादियों से पूछते हैं कि यदि उपनिवेशों में बुर्जुआजी के जनवादी राष्ट्रीय संघर्ष का यूरोप में क्रान्तिकारी संकट को तीखा बनाने के लिए लाभ उठाना वांछनीय है तो यूरोप में दमित राष्ट्रों की बुर्जुआजी के संघर्षों का लाभ उठाना क्यों गलत है? ध्यान रहे कि यह बात आम तौर पर यूरोप के बारे में कही जा रही है, पोलैण्ड समेत। लेनिन लिखते हैं:

> "पोलिश थीसिसों (I, 4) में हम पढ़ते हैं, "यूरोप में क्रान्तिकारी संकट को तीखा बनाने के लिए यूरोपीय साम्राज्यवाद के विरुद्ध युवा औपनिवेशिक बुर्जुआजी के संघर्ष का इस्तेमाल अवश्य करें।" क्या यह स्पष्ट नहीं है कि इस मामले में यूरोप और उपनिवेशों के बीच फर्क करने की कतई आज्ञा नहीं दी जा सकती है?" (लेनिन, **संग्रहीत रचनाएं**, **खण्ड-**22, प्रगति प्रकाशन, मॉस्को, पृ. 356)

निम्न उद्धरण में लेनिन स्पष्ट करते हैं कि पोलैण्ड समेत सभी देशों के सन्दर्भ में ***केवल जनता के आत्मनिर्णय*** की बात करना (जैसा कि सुखविन्दर कर रहे हैं) सैद्धान्तिक तौर पर गलत है। हम पूंजीवादी राजनीतिक सन्दर्भों में ***केवल और केवल समूचे राष्ट्र के आत्मनिर्णय*** की ही बात कर सकते हैं। यहां लेनिन विशेष तौर पर राष्ट्रीय प्रश्न के सन्दर्भ में जनता और राष्ट्र में अन्तर को भी स्पष्ट कर देते हैं, जो कि बाद में इब्राहिम केपेकाया ने भी किया था। लेनिन लिखते हैं:

> "यहां हम मेहनतकश जनता के आत्मनिर्णय की बात नहीं कर सकते हैं। हमें इस विभेदीकरण के लिए प्रचार अवश्य चलाना चाहिए। हम ऐसा ही कर भी रहे हैं, **लेकिन इसमें रत्ती भर भी सन्देह नहीं है कि हमें अभी पोलिश राष्ट्र के आत्मनिर्णय को मान्यता देनी चाहिए।** यह स्पष्ट है।" (लेनिन, **संग्रहीत रचनाएं**, **खण्ड 29**, प्रगति प्रकाशन, मॉस्को, पृ. 175, अंग्रेजी संस्करण, ज़ोर हमारा)

यदि पोलिश राष्ट्र की बुर्जुआजी दमित नहीं थी तो लेनिन को उपरोक्त कथन कहने की कोई आवश्यकता नहीं थी। लेनिन के उन उद्धरणों पर हम आगे आएंगे जिसमें लेनिन बता रहे हैं कि पोलैण्ड 1903 में समाजवादी क्रान्ति की मंजिल में नहीं था (जो कि सुखिवन्दर के अनुसार एक साथ राष्ट्रीय प्रश्न का भी समाधान करने वाली थी!) और पोलिश सामाजिक-जनवादियों और लेनिन में लाख विवादों के बावजूद इस बात पर कोई विवाद नहीं था कि पोलैण्ड 1903 में समाजवादी नहीं बल्कि जनवादी क्रान्ति की ही मंजिल में था, चाहे वह बुर्जुआ वर्ग के नेतृत्व में होती या फिर सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में। लेकिन इसके बारे में चर्चा तब जब हम सुखविन्दर के त्रॉत्स्कीपंथी पतन को प्रदर्शित करेंगे।

इसमें कोई ताज्जुब की बात नहीं है कि साम्राज्यवाद के दौर में बहुत से दमित राष्ट्रों में दमित बुर्जुआजी सुसंगत व आमूलगामी तौर पर राष्ट्रीय मुक्ति के कार्यभार को पूरा करने में भागीदारी नहीं कर रही है और कई जगह इस कार्यभार से ग़द्दारी कर चुकी है, जिसकी वजह से राष्ट्रीय मुक्ति का जनवादी कार्यभार भी अब बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति के फ्रेमवर्क में नहीं बल्कि सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व और मज़दूर-किसान संश्रय की सामाजिक अन्तर्वस्तु पर आधारित जनता की जनवादी क्रान्ति से पूरा होगा। लेकिन यह क्रान्ति फिर भी पहले राष्ट्रीय जनवादी चरण को ही पूरा करेगी (इस जनवादी चरण में सामन्तवाद-विरोधी कार्यभार शामिल हो भी सकते हैं या नहीं भी)। मिसाल के तौर पर, अगर आज फिलिस्तीन में राष्ट्रीय कार्यभार को पूरा करने के लिए सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में क्रान्ति होगी, तो तात्कालिक तौर पर उसका चरित्र जनता की जनवादी क्रान्ति का ही होगा, हालांकि चूंकि वहां कोई सामन्ती उत्पादन सम्बन्ध नहीं हैं, इसलिए इस चरण को पूरा करने

के बाद *निश्चित स्थितियों में* क्रान्ति लेनिन के शब्दों में 'बिना रुके' (in uninterrupted fashion) समाजवादी क्रान्ति की मंजिल में जा सकती है। लेकिन फिर भी दोनों क्रान्तियों की *वर्ग अन्तर्वस्तु* में अन्तर होगा।

पहली मंजिल में सर्वहारा वर्ग समूचे किसान वर्ग, मध्यम वर्ग और राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग के सर्वाधिक सुसंगत रूप से जनवादी व क्रान्तिकारी तत्वों के साथ मोर्चा बनाएगा और राष्ट्रीय जनवादी कार्यभार को अंजाम देगा और उसके बाद गरीब व मंझोले किसानों तथा शहरी मध्यवर्ग के साथ मोर्चा बनाएगा, और समाजवादी क्रान्ति को अंजाम देगा। जनता की जनवादी क्रान्ति की मंजिल में भी क्रान्ति की *सामाजिक अन्तर्वस्तु* बदल चुकी है और उसका आधार किसानों के साथ मोर्चा हो सकता है, *लेकिन उसकी वर्ग अन्तर्वस्तु इस चरण में भी जनवादी ही है*, क्योंकि वह राष्ट्रीय दमन को खत्म करने के जनवादी कार्यभार को पूरा कर रही है। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि उसमें बुर्जुआजी नेतृत्व में नहीं है या वह इस कार्यभार को पूरा करने के मामले में मुख्यत: और मूलत: ग़द्दारी कर चुकी है। वह फिर भी दमित बुर्जुआजी ही है, क्योंकि कौमी दमन की शुरुआत ही इस तथ्य से होती है। **यह सब लेनिनवाद के बुनियादी सिद्धान्त हैं, जिसे सुखविन्दर को बताना पड़ रहा है क्योंकि वह या तो इनसे अनभिज्ञ हैं या उन्हें भूल गये हैं।**

लेनिन और स्तालिन के बाद अब माओ और केपेकाया के उद्धरणों से भी इस बात को समझ लेते हैं कि राष्ट्रीय दमन का वह विशिष्ट तत्व क्या है, जो कि इसे *राष्ट्रीय* दमन बनाता है और इसे राजनीतिक व सामाजिक दमन के अन्य रूपों से अलग करता है। वजह यह है कि यही चीज़ सुखविन्दर के समझ में नहीं आयी है।

राष्ट्रीय दमन की विशिष्ट विशिष्टता (differentia specifica): बुर्जुआजी का दमन

सबसे पहले माओ के उद्धरणों से शुरुआत करते हैं। चीन में साम्राज्यवाद और राष्ट्रीय दमन के विरुद्ध राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग के दोहरे चरित्र के पहलू को स्पष्टता से रेखांकित करते हुए माओ कहते हैं कि चूंकि राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग राष्ट्रीय दमन का शिकार होता है, इसलिए वह साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष में क्रान्तिकारी ताक़तों में गिना जायेगा लेकिन साथ ही आर्थिक-राजनीतिक तौर पर कमज़ोर होने और साम्राज्यवाद से एक हद तक तार जुड़े होने के कारण वह यह संघर्ष निर्णायकता से लड़ने का साहस भी नहीं रखता है। देखें माओ क्या कहते हैं -

> "साम्राज्यवाद और चीनी राष्ट्र के बीच का अन्तरविरोध तथा सामन्तवाद और व्यापक जन-समुदाय के बीच का अन्तरविरोध, ये दोनों आधुनिक चीनी समाज के मुख्य अन्तरविरोध हैं। निस्सन्देह अन्तरविरोध और भी हैं, जैसे पूंजीपति वर्ग और सर्वहारा वर्ग के बीच का अन्तरविरोध और प्रतिक्रियावादी शासक वर्गों के भीतर के अन्तरविरोध। **लेकिन साम्राज्यवाद और चीनी राष्ट्र के बीच का अन्तरविरोध प्रधान अन्तरविरोध है।**" (माओ त्से तुंग, *चीनी क्रान्ति और चीनी कम्युनिस्ट पार्टी*, **संकलित रचनाएं**, गंथ-2, विदेशी भाषा प्रकाशन गृह, पृ. 551-52, *ज़ोर हमारा*)

आगे माओ कहते हैं:

> "**चीनी पूंजीपति वर्ग भी साम्राज्यवादी उत्पीड़न का शिकार रहा है...**
>
> "पूंजीपति वर्ग में और बड़े दलाल-पूंजीपतियों के वर्ग और राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग के बीच फर्क है...
>
> "राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग एक दुरंगे चरित्र वाला वर्ग है।

"**वह एक ओर तो साम्राज्यवाद से उत्पीड़ित है** और सामन्तवाद की बेड़ियों में जकड़ा हुआ है, इसलिए इन दोनों से उसका अन्तरविरोध है। इस मायने में वह क्रान्तिकारी शक्तियों का एक हिस्सा है। चीनी क्रान्ति के इतिहास में उसने साम्राज्यवाद और नौकरशाहों व युद्ध सरदारों की सरकार के खिलाफ लड़ने में किसी हद तक उत्साह दिखाया है।

"लेकिन दूसरी ओर उसमें साम्राज्यवाद व सामन्तवाद का मुकम्मिल विरोध करने के साहस का अभाव है, क्योंकि वह आर्थिक व राजनीतिक दृष्टि से कमज़ोर है और साम्राज्यवाद व सामन्तवाद के साथ अपने आर्थिक सम्बन्धों को उसने अब भी पूरी तरह नहीं तोड़ा है। जब जनता की क्रान्तिकारी शक्तियां विकसित होकर मज़बूत बन जाती हैं, तो यह बात और स्पष्ट रूप से सामने आ जाती है।

"राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग के इस दुरंगे चरित्र से यह नतीजा निकलता है कि किसी निश्चित समय और किसी हद तक यह साम्राज्यवाद के खिलाफ और नौकरशाहों व युद्ध सरदारों की सरकार के खिलाफ क्रान्ति में भाग ले सकता है और क्रान्तिकारी शक्तियों का एक हिस्सा बन सकता है; लेकिन किसी दूसरे समय इसके बड़े दलाल-पूंजीपतियों के वर्ग का अनुयायी बनने और प्रतिक्रान्ति में उसका सह-अपराधी बनने का भी खतरा बना रहता है।

"चीन के राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग का, जो कि मुख्यतया **मध्यम पूंजीपति वर्ग** है, राजनीतिक सत्ता पर वास्तविक अधिकार कभी नहीं रहा, बल्कि ज़मींदारों के वर्ग और बड़े पूंजीपतियों के वर्ग की, जिनका सत्ता पर कब्ज़ा रहा है, प्रतिक्रियावादी नीतियों ने उसे सीमित रखा है, हालांकि 1927 से 1931 (18 सितम्बर की घटना से पहले) तक की अवधि में इसने क्रान्ति का विरोध करने में उनका साथ दिया था। जापान-प्रतिरोध के काल में यह न सिर्फ बड़े जमींदारों के वर्ग और बड़े पूंजीपतियों के वर्ग के आत्मसमर्पणवादियों से बल्कि बड़े पूंजीपतियों के वर्ग के कट्टरतावादियों से भी भिन्न है, और **इस प्रकार यह अब तक हमारा अपेक्षाकृत अच्छा संश्रयकारी रहा है। इसलिए राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग के प्रति एक विवेकपूर्ण नीति अपनाना निहायत ज़रूरी है।**"

(वही, पृ. 555-66, *ज़ोर हमारा*)

चीन में राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग को, जो की राष्ट्रीय दमन का शिकार है, माओ इस प्रकार परिभाषित करते हैं -

"मध्यम पूंजीपति वर्ग। **यह वर्ग शहरों और देहातों में चीन के पूंजीवादी उत्पादन-सम्बन्धों का प्रतिनिधित्व करता है। मध्यम पूंजीपति वर्ग का अर्थ मुख्यत: राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग से है। वह चीनी क्रान्ति के प्रति असंगत रुख अपनाता है: जब वह विदेशी पूंजी की मार और युद्ध सरदारों के उत्पीड़न से त्रस्त होता है, तो उसे क्रान्ति की ज़रूरत महसूस होती है, और वह साम्राज्यवाद व युद्ध सरदारों के खिलाफ क्रान्तिकारी आन्दोलन का पक्षपोषण करता है। लेकिन जब देश में सर्वहारा वर्ग क्रान्ति में जुझारूपन के साथ हिस्सा लेता है और देश के बाहर अन्तरराष्ट्रीय सर्वहारा वर्ग इस क्रान्ति को सक्रिय सहायता देता है, जिससे उसे यह महसूस होने लगता है कि एक वर्ग के रूप में आगे बढ़कर बड़े पूंजीपतियों के वर्ग के स्तर पर पहुंचने की उसकी इच्छा के विफल होने का खतरा पैदा हो गया है, तो क्रान्ति के प्रति वह सन्देह का रुख अपना लेता है।** राजनीतिक दृष्टि से वह एक ही वर्ग, अर्थात राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग के शासन में राज्यसत्ता कायम करने का पक्षपोषण करता है।"

(माओ त्से तुंग, *चीनी समाज में वर्गों का विश्लेषण*, **संकलित रचनाएं**, **ग्रंथ-**1, विदेशी भाषा प्रकाशन गृह, पृ. 5, *ज़ोर हमारा*)

माओ साम्राज्यवाद के दौर में इस राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग के ढुलमुल रवैये की तरफ इशारा करते हुए यह कहते हैं -

> "एक औपनिवेशिक व अर्द्धऔपनिवेशिक देश का पूंजीपति वर्ग होने और **साम्राज्यवाद द्वारा उत्पीड़ित होने के कारण**, चीन का राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग विदेशी साम्राज्यवादियों और नौकरशाहों व युद्ध सरदारों की घरेलू सरकारों का विरोध करने में (ऐसी घरेलू सरकारों का विरोध करने के उदाहरण 1911 की क्रान्ति और उत्तरी अभियान की अवधियों में पाए जा सकते हैं), **साम्राज्यवाद के युग में भी कुछ खास अवधियों में और एक खास हद तक अपना क्रान्तिकारी गुण बनाये रखता है**, और ऐसे शत्रुओं के खिलाफ जिनका वह विरोध करने को तैयार है, सर्वहारा वर्ग तथा निम्न-पूंजीपति वर्ग के साथ सहयोग कायम कर सकता है...
>
> "लेकिन, इसके साथ ही, एक औपनिवेशिक व अर्द्धऔपनिवेशिक देश का पूंजीपति वर्ग होने के कारण और इसलिए आर्थिक व राजनीतिक दृष्टि से अत्यधिक कमज़ोर होने के कारण, चीन के राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग की एक और खासियत है, अर्थात्, **क्रान्ति के शत्रुओं के साथ सुलह-समझौते करने की प्रवृत्ति।** क्रान्ति में भाग लेते समय भी वह साम्राज्यवाद के साथ पूरी तरह सम्बन्ध-विच्छेद करने के लिए अनिच्छुक रहता है, इसके अलावा, देहाती क्षेत्रों में लगान के ज़रिये किये जाने वाले शोषण के साथ उसका निकट सम्बन्ध है; इस प्रकार वह न तो साम्राज्यवाद को पूरी तरह से उखाड़ फेंकने का इच्छुक है और न उसमें समर्थ ही, सामन्ती शक्तियों को पूरी तरह से उखाड़ फेंकना तो दरकिनार। अतएव, चीन की पूंजीवादी जनवादी क्रान्ति की दोनों बुनियादी समस्याओं अथवा दोनों कार्यों में से किसी एक को भी राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग द्वारा हल अथवा पूरा नहीं किया जा सकता है।"
>
> (माओ त्से तुंग, *नवजनवाद के बारे में*, संकलित रचनाएं, ग्रंथ-2, विदेशी भाषा प्रकाशन गृह, पृ. 617-619, *ज़ोर हमारा*)

चीन में क्रांतिकारी आन्दोलन के अलग-अलग दौरों का विवरण पेश करते हुए इसके चौथे दौर के सम्बन्ध में चीनी दमित राष्ट्र में निम्नलिखित वर्गों को जोड़ते हुए यह कहते हैं-

> "चौथी अवधि मौजूदा जापानी आक्रमण विरोधी युद्ध की अवधि है। टेढ़े-मेढ़े रास्ते पर चलती हुई, चीनी क्रान्ति अब फिर से चार वर्गों के संयुक्त मोर्चे पर आ गयी है; लेकिन इस संयुक्त मोर्चे का दायरा अब कहीं अधिक व्यापक हो गया है क्योंकि इसकी ऊपरी श्रेणी में शासक वर्गों के अनेक सदस्य शामिल हैं, इसकी बिचली श्रेणी में राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग व निम्न पूंजीपति वर्ग शामिल हैं, और इसकी निचली श्रेणी में समस्त सर्वहारा वर्ग शामिल है, जिससे राष्ट्र के विभिन्न वर्ग व तबके जापानी साम्राज्यवाद का दृढ़तापूर्वक प्रतिरोध करने वाले गठबन्धन के सदस्य बन गये हैं।" (वही, पृ. 671-72)

माओ के उपरोक्त उद्धरणों में हमने देखा कि किस प्रकार राष्ट्रीय दमन झेलने वाले दमित राष्ट्र का बुर्जुआ वर्ग भी दमित होता है और इस राष्ट्रीय दमन के निशाने पर राजनीतिक-आर्थिक कारणों से मुख्य तौर पर वही होता है। **यहां इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता है कि चीन की बुर्जुआजी सामन्तवाद से भी दमित थी**; **वह दमन *सारत:* अपने आप में राष्ट्रीय दमन नहीं था और *सामान्यत:* केवल इस रूप में राष्ट्रीय दमन था कि सामन्ती वर्ग व दलाल पूंजीपति वर्ग साम्राज्यवाद के मातहत थे।** माओ ने हमारे द्वारा पेश उद्धरणों में से पहले उद्धरण में ही बताया है कि चीनी राष्ट्र का साम्राज्यवाद से और चीनी जनसमुदायों का सामन्तवाद से अन्तरविरोध तत्कालीन चीनी समाज के *बुनियादी अन्तरविरोध* हैं, **लेकिन इनमें भी *प्रधान अन्तरविरोध* चीनी राष्ट्र और साम्राज्यवाद के बीच का अन्तरविरोध है।** साम्राज्यवाद द्वारा राष्ट्रीय दमन के तत्व को निकाल दिया जाय, तो चीनी जनवादी क्रान्ति में राष्ट्रीय कार्यभार होता ही नहीं और वह मूलत: सामन्तवाद-विरोधी जनवादी क्रान्ति होती। **राष्ट्रीय दमन का सारतत्व ही यहां पर पूंजीपति वर्ग का**

साम्राज्यवाद द्वारा दमन है, यह दीगर बात है कि साम्राज्यवाद के अधीनस्थ देशी वर्ग, यानी चीनी सामन्त वर्ग और दलाल पूंजीपति वर्ग साम्राज्यवाद द्वारा राष्ट्रीय दमन के उपकरण का कार्य कर रहे थे। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता है कि चीन एक अर्द्धसामंती अर्द्धऔपनिवेशिक देश था। हम ऊपर देख आए हैं की ऐसी स्थिति होना राष्ट्रीय दमन के अस्तित्व के लिए अनिवार्य नहीं है। जो अनिवार्य है वह है बुर्जुअज़ी का दमित होना। बुर्जुआजी के राष्ट्रीय दमन का यह अर्थ नहीं है कि आबादी के बाक़ी हिस्से राष्ट्रीय दमन का शिकार नहीं होते हैं।

यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि राष्ट्रीय दमन के चरित्र के बारे में लेनिन व माओ के चिन्तन को तुर्की के महान माओवादी **इब्राहिम केपेकाया** ने आगे विकसित किया। दुनिया के अधिकांश माओवादियों में इस बात को लेकर आम सहमति है। इब्राहिम केपेकाया कुर्द राष्ट्र के सन्दर्भ में इसे इस प्रकार स्पष्ट करते हैं-

> "कुर्दिश मज़दूर, ग़रीब और मंझोले किसान, अर्द्धसर्वहारा, शहरी निम्न पूंजीपति वर्ग और **समूची कुर्द बुर्जुआजी** तथा भूस्वामी वर्ग कुर्द राष्ट्र के दायरे में शामिल हैं। राष्ट्रीय दमन केवल **कुर्द जनता पर नहीं**, **बल्कि** उन मुट्ठी भरे बड़े भूस्वामियों और कुछ बड़े पूंजीपतियों के अपवाद को छोड़ कर **समूचे कुर्द राष्ट्र पर** लागू किया जाता है, जो पूरी तरह तुर्क शासक वर्ग के साथ मिल गये हैं। कुर्द मज़दूर, किसान, शहरी निम्न पूंजीपति वर्ग और छोटे ज़मींदार राष्ट्रीय दमन से पीड़ित हैं। **इसके अलावा**, **राष्ट्रीय दमन का मुख्य निशाना दमित, निर्भर और अधीनस्थ राष्ट्र की बुर्जुआजी होती है, क्योंकि पूंजीपति वर्ग और भूस्वामी बिना किसी प्रतिद्वन्द्वी के देश की समृद्धि और बाज़ार को हासिल करना चाहते हैं। वे एक राज्य की स्थापना करने के विशेषाधिकार को अपने पास रखना चाहते हैं।** वे अन्य भाषाओं को प्रतिबन्धित करके "भाषाई एकता" चाहते हैं जो कि बाज़ार के लिए बेहद ज़रूरी है। **दमित राष्ट्र के बुर्जुआ वर्ग और भूस्वामी इन महत्वाकांक्षाओं में महत्वपूर्ण बाधा होते हैं, क्योंकि वे अपना बाज़ार चाहते हैं, उसे अपनी इच्छानुसार नियंत्रित करना चाहते हैं और इसकी भौतिक समृद्धि और जनता के श्रम का शोषण करना चाहते हैं।** ये वे शक्तिशाली आर्थिक कारक हैं जो कि दोनों राष्ट्रों के पूंजीपति वर्ग और भूस्वामी वर्ग को एक-दूसरे के विपरीत खड़ा कर देते हैं; इसी वजह से दमनकारी राष्ट्र का पूंजीपति वर्ग और भूस्वामी वर्ग बिना रुके राष्ट्रीय दमन में लगे रहते हैं, **जिसका निशाना होते हैं दमित राष्ट्र का पूंजीपति वर्ग और भूस्वामी वर्ग।**" (Ibrahim Kaypakkaya, **Selected Works**, Nisan Publishing, p. 212, *अनुवाद और ज़ोर हमारा*)

इस बात को विस्तार से स्पष्ट करते हुए केपेकाया लिखते हैं:

> "राष्ट्रीय दमन केवल **कुर्द जनता** पर नहीं लागू किया जाता **बल्कि समूचे कुर्द राष्ट्र** पर लागू किया जाता है, जिसमें कि **बुर्जुआजी** भी शामिल है। इसके अलावा, **सभी अल्पसंख्यक राष्ट्रीयताएं भी** राष्ट्रीय दमन को झेलती हैं, केवल कुर्द जनता ही नहीं। मसौदा कार्यक्रम (संशोधनवादियों का) यह दावा करके कि राष्ट्रीय दमन केवल कुर्द जनता पर लागू किया जाता है, दूसरी अल्पसंख्यक राष्ट्रीयताओं के जनवादी संघर्ष के प्रति अपनी आंखें बन्द कर लेता है। दूसरी बात, यह निम्न गलतियों में से एक ग़लती करता है: या तो कुर्द बुर्जुआजी और छोटे भूस्वामियों को इस शब्द, कुर्द जनता के दायरे में शामिल माना जाता है, जिस सूरत में यह कुर्द राष्ट्रीय आन्दोलन के बुर्जुआ-सामन्ती चरित्र को छिपाकर, जो कि दमन का विरोध करने के लिए विकसित हो रहा है, और राष्ट्रीय आन्दोलन को मज़दूरों व किसानों के वर्गीय आन्दोलन के रूप में देखकर कुर्द राष्ट्रवादियों की कार्यदिशा में पतित हो रहा है। या, कुर्द बुर्जुआजी और छोटे भूस्वामियों को कुर्द जनता शब्द के दायरे में शामिल नहीं किया गया है। इस मामले में कुर्द बुर्जुआजी व छोटे भूस्वामियों के राष्ट्रीय दमन के खिलाफ संघर्ष के

प्रगतिशील चरित्र को पूरी तरह से खारिज कर रहा है और तुर्क राष्ट्रवाद की कार्यदिशा को अपना रहा है।" (*ibid*, p. 106, *अनुवाद और ज़ोर हमारा*)

कुर्द राष्ट्रीय आन्दोलन किस प्रकार जनता का आन्दोलन नहीं, बल्कि राष्ट्रीय आन्दोलन है, यह बताने के लिए केपेकाया निम्न प्रकार से इन दोनों के बीच के फर्क को बताते हैं-

"कुर्द आन्दोलन, पहले और सबसे अहम रूप में, एक **राष्ट्रीय आन्दोलन** है, न कि कोई जनता का आन्दोलन। इसलिए कुर्द सर्वहारा वर्ग और मेहनतकशों यानी कुर्द जनता के वर्गीय आन्दोलन और *जनवादी अधिकारों के लिए*, "राष्ट्रों की समानता" और "आत्मनिर्णय" के लिए व **राष्ट्रीय दमन** के विरुद्ध लड़े जा रहे राष्ट्रीय आन्दोलन के बीच फर्क करना अनिवार्य है। (*ibid*, p. 108, *अनुवाद और ज़ोर हमारा*)

यहाँ एक बार फिर **राष्ट्र और जनता के बीच के फर्क** और इसलिए राष्ट्रीय आन्दोलन और जनता के वर्गीय आन्दोलन के बीच के फर्क को केपेकाया द्वारा बहुत ही बहतरीन तरीके से समझाया गया है। पाठक केपेकाया के निम्न उद्धरण पर विशेष ध्यान दें क्योंकि इससे वह स्पष्ट तौर पर समझ जाएंगे कि आगे सुखविन्दर इन दोनों ही अवधारणाओं को काफी बुरी तरीके से गड्डमड्ड करने वाले हैं।

"शफाक संशोधनवादियों के अनुसार, राष्ट्रीय दमन कुर्द जनता पर थोपा गया है। **यह राष्ट्रीय दमन के अर्थ को नहीं समझने के समान है। राष्ट्रीय दमन शासक, दमनकारी और शोषक राष्ट्रों के शासक वर्गों द्वारा दबाये गये, निर्भर व दमित राष्ट्रों पर थोपा जाता है। तुर्की में राष्ट्रीय दमन वह दमन है जो प्रभुत्वशाली तुर्की राष्ट्र के शासक वर्गों द्वारा समूचे कुर्द राष्ट्र पर थोपा जाता है, केवल कुर्द जनता पर नहीं, और यह केवल कुर्द राष्ट्र पर ही नहीं बल्कि सभी अल्पसंख्यक अधीनस्थ राष्ट्रों पर भी थोपा जाता है। जनता और राष्ट्र एक ही चीज़ नहीं हैं। आज जनता की अवधारणा में आम तौर पर मज़दूर वर्ग, ग़रीब और मंझोला किसान वर्ग, अर्द्धसर्वहारा और शहरी निम्न पूंजीपति वर्ग आता है।**" (*ibid*, p. 208-9, *अनुवाद और ज़ोर हमारा*)

केपेकाया आगे लिखते हैं:

"**अर्द्धसर्वहारा, गरीब और मंझोले किसानों, शहरी निम्न पूंजीपति वर्ग और पूंजीपति वर्ग व छोटे भूस्वामियों के साथ कुर्द मज़दूर, सभी राष्ट्रीय दमन के शिकार हैं। और ये वर्ग ही कुर्द राष्ट्रीय आन्दोलन की कतारों का निर्माण करते हैं।**" (*ibid*, p. 214, *अनुवाद और ज़ोर हमारा*)

यानी राष्ट्र की अवधारणा में ही जनता (मज़दूर, किसान, आदि) और पूंजीपति वर्ग दोनों ही शामिल होते हैं। पूंजीपति वर्ग को राष्ट्र से निकाल दिया जाय, तो सिर्फ जनता बचती है। निश्चित तौर पर, जनता दोहरा दमन और शोषण झेलती है, यानी पूंजीवाद-साम्राज्यवाद द्वारा आर्थिक शोषण भी और दमनकारी राष्ट्र के शासक वर्ग द्वारा राष्ट्रीय दमन भी। लेकिन पूरा राष्ट्र**,** यानी बुर्जुआजी समेत पूरी आबादी**,** राष्ट्रीय दमन झेलती है। राष्ट्र है ही पूंजीवाद के दौर की परिघटना। **बिना राष्ट्रीय बुर्जुआजी के दमन के राष्ट्रीय दमन की बात करना वैसा ही है, जैसे कि बिना पूंजीपति वर्ग के पूंजीवाद की बात करना। लेकिन सुखविन्दर यह समझने की कोशिश करने की बजाय न जाने क्या सिद्ध करने बैठ गए हैं! उनकी यह विचित्र खोजें उन्हें पंजाब के मामले में किन मज़ाकिया नतीजों पर पहुंचाती हैं, यह हम पंजाब के विषय में एक छोटी-सी टिप्पणी के रूप में इस प्रमुख उपशीर्षक के**

अन्त में समझाएंगे और एक बार सुखविन्दर के कौमी दमन के सिद्धान्त को पंजाब के ठोस उदाहरण पर लागू करके उसके बेतुकेपन को प्रदर्शित करेंगे।

दमित कौमों में बुर्जुआजी के दमित होने के तथ्य को खारिज करने के लिए सुखविन्दर द्वारा पेश दो उद्धरणों का वास्तविक सन्दर्भ और अर्थ: सुखविन्दर की एकदम स्पष्ट बातों की भी ग़लत व्याख्या करने की अद्भुत क्षमता का एक उदाहरण

अपने लेख में एक अन्य स्थान पर सुखविन्दर स्तालिन का एक उद्धरण देते हुए कहते हैं कि,

> "दबे-कुचले राष्ट्र को परिभाषित करते हुए स्तालिन इसमें उस राष्ट्र की बुर्जुआज़ी को शामिल नहीं करते। सिर्फ़ लोगों को राष्ट्रीय दमन का शिकार कहा है।" (सुखविन्दर, 'राष्ट्रीय प्रश्न और मार्क्सवाद', प्रतिबद्ध-33)

वास्तव में स्तालिन ने इस उद्धरण में ऐसा कुछ कहा ही नहीं है, बल्कि इसका उल्टा कहा है! वह इस पर बात कर ही नहीं रहे हैं कि राष्ट्रीय दमन की बुनियाद में दमित राष्ट्र के पूंजीपति वर्ग का दमन है या नहीं! आइये उस पूरे उद्धरण को देखते हैं। यह है स्तालिन का वह उद्धरण जो सुखविन्दर ने दिया है -

> "अक्तूबर क्रान्ति इससे आगे गयी और उसने दमित राष्ट्रीयताओं को सर्वहारा वर्ग के इर्द-गिर्द खड़ा करने का प्रयास किया। हमने पहले ही ऊपर बताया है कि इन राष्ट्रीयताओं का नब्बे फीसदी हिस्सा किसानों और छोटे शहरी मेहनतकश लोगों का है।
>
> "**लेकिन यही दमित राष्ट्रीयता की अवधारणा को पूरी तरह नहीं समेटता है। दमित राष्ट्रीयताएं आम तौर पर केवल किसानों या शहरी मेहनतकश जनता के रूप में दमित नहीं होती हैं, बल्कि राष्ट्रीयता के रूप में दमित होती हैं, यानी, वे एक दमित राष्ट्रीयता, भाषा, संस्कृति, जीवन के तौर-तरीकों, आदतों व परम्पराओं के मेहनतकशों के रूप में दमित होती हैं। यह दोहरा दमन दमित राष्ट्रीयताओं के मेहनतकश जनसमुदायों का क्रान्तिकारी रूपान्तरण किये बिना नहीं रह सकता है, उन्हें इस दमन की प्रधान शक्ति यानी पूंजी के खिलाफ लड़ने को प्रेरित किये बिना नहीं रह सकता है।**" (स्तालिन, 'मार्क्सवाद और राष्ट्रीय और औपनिवेशिक प्रश्न', पेज 213)

सुखविन्दर की मानें तो स्तालिन यहां यह कह रहे हैं कि 'देखो, अगर बुर्जुआजी दमित न हो तो भी राष्ट्र दमित हो सकता है।' **अब आप खुद उपरोक्त उद्धरण को पढ़ें, तो आप पाएंगे कि स्तालिन यहां ऐसा कुछ नहीं कह रहे हैं, उल्टे वह यह कह रहे हैं कि हालांकि किसी भी दमित कौम में (स्तालिन के दौर में) कौम की 80-90 फीसदी आबादी मध्यवर्ती वर्गों की थी (ग़ौर करें कि स्तालिन इसमें अभी सर्वहारा वर्ग को भी शामिल नहीं कर रहे हैं, बल्कि केवल मध्यवर्ती वर्गों की ही बात कर रहे हैं), लेकिन वे ही पूरा राष्ट्र नहीं थे। नतीजतन, यह बीच की आबादी कौमी दमन भी झेलती है और वर्गीय दमन भी।** लेकिन सुखविन्दर को जब अपनी इस बात को सिद्ध करने का और कोई उद्धरण नहीं मिला कि बिना दमित बुर्जुआजी के भी कौम दमित हो सकती है, तो उन्होंने स्तालिन के मुंह में अपनी बात डाल दी और एक नया ही सिद्धांत-प्रतिपादन कर डाला! वह स्तालिन का उपरोक्त उद्धरण लाते हैं और कहते हैं कि स्तालिन जब दबे-कुचले राष्ट्र को परिभाषित कर रहे हैं तो उसमें उस देश की बुर्जुआज़ी को शामिल नहीं कर रहे हैं! कोई भी व्यक्ति जिसे पढ़ने आता है, वह समझ सकता है कि स्तालिन ने अगर अपने उपरोक्त कथन की यह व्याख्या सुनी होती

तो मुस्कराए बिना नहीं रह पाते। इसी को हमने सन्दर्भों से काटकर मन-मुआफिक नतीजे निकालना कहा था। यह बात ही सरासर गलत है!

पहली बात तो यह है कि स्तालिन इस उद्धरण में इस विषय में कुछ नहीं कह रहे हैं कि राष्ट्र की बुर्जुआजी दमित है या नहीं। वह यहां केवल इतना कह रहे हैं कि दमित राष्ट्रों का भी 90 प्रतिशत मेहनतकश जनता होती है, और वह राष्ट्र के अंग के तौर पर राष्ट्रीय दमन भी झेलती है और मेहनतकश वर्गों के अंग के तौर पर वर्गीय शोषण-दमन भी झेलती है और यह दोहरा दमन उनका क्रान्तिकारी रूपान्तरण किये बिना नहीं रह सकता। लेकिन स्तालिन स्पष्ट शब्दों में यह भी बोल रहे हैं कि महज़ ये मेहतनकश जनता ही राष्ट्र की अवधारणा को पूर्ण नहीं करती है और वह राष्ट्र एक राष्ट्र के तौर पर भी दमन को झेलता है। फर्क बस यह है कि मेहनतकश जनता केवल राष्ट्रीय दमन नहीं झेलती, बल्कि आर्थिक वर्गीय शोषण-दमन भी झेलती है।

स्तालिन ने यह लेख ही पेटी-बुर्जुआ वर्ग के प्रति दृष्टिकोण को लेकर लिखा है। स्तालिन यहाँ “middle strata” यानी पेट्टी-बुर्जुआ वर्गों की बात कर रहे हैं। इस लेख का नाम ही है 'The October Revolution and the Question of the Middle Strata' (अक्तूबर क्रान्ति और मध्यवर्ती वर्गों का प्रश्न')।

यहाँ स्तालिन दमित राष्ट्रों की परिभाषा नहीं देने बैठे हैं बल्कि यह बता रहे हैं कि कैसे दमित राष्ट्रों में बहुसंख्या इस सामाजिक-आर्थिक तबके की है। स्तालिन यहां सिर्फ इतना कह रहे हैं। यह उनके लिए सहज समझी गयी बात है कि राष्ट्र और मेहनतकश जनता एक ही चीज़ नहीं है, राष्ट्र का अर्थ ही यह है कि उसमें मेहनतकश जनता के साथ बुर्जुआजी शामिल है और यह कि जब हम कौमी दमन की बात कर रहे हैं तो यह स्वत: स्पष्ट है कि उसमें बुर्जुआजी का दमन शामिल है। **स्तालिन यहां सिर्फ यह बता रहे हैं कि मेहनतकश वर्ग कौमी दमन भी झेलते हैं (जो कि बुर्जुआजी भी झेलती है) और मेहनतकश वर्ग के तौर पर आर्थिक वर्गीय दमन भी झेलते हैं (जो बुर्जुआजी नहीं झेलती है)।** लेकिन इस उद्धरण की व्याख्या करने में सुखविन्दर ने तर्क और तथ्य की बजाय अपनी कल्पनाशक्ति की उड़ान का ज्यादा सहारा लिया है।

यह है वह सन्दर्भ जिसमें स्तालिन यहाँ बात कर रहे हैं-

> "**मध्यवर्ती संस्तरों का सवाल मज़दूर क्रान्ति का निस्सन्देह एक बुनियादी सवाल है। मध्यवर्ती संस्तर हैं किसान वर्ग और छोटे शहरी मेहनतकश लोग।** दमित राष्ट्रीयताओं, जिनका कि नब्बे फीसदी इन्हीं मध्यवर्ती संस्तरों से आता है, को इसी श्रेणी में रखा जाना चाहिए। जैसा कि आप देख रहे हैं, ये वे संस्तर हैं ***जिनकी आर्थिक स्थिति उन्हें सर्वहारा वर्ग और पूंजीपति वर्ग के बीच रखती है।*** **इन संस्तरों का सापेक्षिक महत्व दो परिस्थितियों से निर्धारित होता है: पहला, कि ये संस्तर बहुसंख्या का निर्माण करते हैं, या किसी भी रूप में, मौजूदा राज्यों की आबादी की एक विशाल अल्पसंख्या का निर्माण तो करते ही हैं; दूसरा, वे उस महत्वपूर्ण आरक्षित शक्ति का निर्माण करते हैं, जिनमें से पूंजीपति वर्ग सर्वहारा वर्ग के विरुद्ध अपनी सेना में भर्ती करता है। सर्वहारा सत्ता में कायम नहीं रह सकता है अगर वह इन मध्यवर्ती संस्तरों, विशेष तौर पर किसानों की हमदर्दी को नहीं जीतता, विशेष तौर हमारे जैसे गणराज्यों के यूनियन में। अगर इन मध्यवर्ती संस्तरों को कम-से-कम तटस्थ नहीं बनाया गया है, यदि ये संस्तर अभी पूंजीपति वर्ग से टूटे नहीं हैं, और यदि अभी भी उनका बड़ा हिस्सा पूंजी की सेना की भूमिका अदा कर रहा है, तो सर्वहारा वर्ग सत्ता हासिल करने के बारे में भी गम्भीरता से विचार नहीं कर सकता है। इसलिए मध्यवर्ती संस्तरों के लिए संघर्ष, किसानों के लिए संघर्ष जो कि 1905 से 1917 तक हमारी**

क्रान्ति का एक प्रत्यक्ष तत्व था, एक लड़ाई है जो अभी खत्म नहीं हुई है, और जो भविष्य में भी लड़ी जाती रहेगी।"

लेकिन सुखविन्दर जानबूझकर इस पूरे सन्दर्भ को ग़ायब कर देते हैं, ताकि अपनी मूर्खतापूर्ण बात को सिद्ध कर सकें। यहां स्तालिन मूलत: इस विषय में बात कर रहे हैं कि रूसी क्रान्ति में मध्यवर्ती संस्तरों का क्या महत्व था, और इसी नज़रिये से दमित राष्ट्रीयताओं को भी क्रान्ति के पक्ष में जीतने का क्या महत्व था, जिसका 90 फीसदी इन्हीं मध्यवर्ती संस्तरों से आता था। यह रूसी क्रान्ति में वर्गों की *सापेक्षिक शक्ति की समस्या* थी, जिसकी वजह से लेनिन ने मज़दूर-किसान संश्रय की अवधारणा पेश की थी और दमित राष्ट्रीयताओं से संश्रय की अवधारणा पेश की थी। वजह यह थी कि रूसी आबादी में मज़दूर वर्ग महज़ 10 से 11 प्रतिशत था, जबकि 85 फीसदी आबादी मध्यवर्ती संस्तरों से आती थी। रूस में पूंजीपति वर्ग और सर्वहारा वर्ग के संघर्ष में कौन विजयी होगा, इसका फैसला इसी बात से होना था कि इन मध्यवर्ती संस्तरों की हमदर्दी और पक्षधरता कौन जीतेगा। स्तालिन इस विशिष्ट सन्दर्भ में बात करते हुए राष्ट्रीयताओं के प्रश्न की चर्चा कर रहे हैं और बता रहे हैं कि दमित राष्ट्रीयताओं का 90 फीसदी इन मध्यवर्ती संस्तरों से आता है जो कि बुर्जुआजी के समान कौमी दमन झेलते हैं, लेकिन बुर्जुआजी से अलग वर्गीय दमन भी झेलते हैं। लेकिन सुखविन्दर को किसी भी उद्धरण या चर्चा के सन्दर्भ से क्या मतलब? उन्हें तो अनुक्रमणिका देखकर ऐसा लगा कि इस उद्धरण से वह अपनी इस बात को साबित कर सकते हैं कि बुर्जुआजी के दमन के बिना भी कौमी दमन सम्भव है! तो बस उठाकर चेंप दिया! **हम फिर से याद दिलाना चाहेंगे कि पाठक खुद देखें कि हमने इन्हें बार-बार अनपढ़ "मार्क्सवादी" क्यों कहा है।**

अपनी उपरोक्त प्रस्थापनाओं को जल्दी से जल्दी सही साबित करने के चक्कर में हम देख सकते हैं कि सुखविन्दर और बहुत सारी गलतियाँ कर बैठते हैं! **अगर आप सुखविन्दर द्वारा उद्धृत स्तालिन की परिभाषा पर गौर करेंगे तो आप पायेंगे <u>उसमें बुर्जुआ वर्ग के अलावा सर्वहारा वर्ग का भी ज़िक्र नहीं है। तब तो फिर दमित राष्ट्रीयता में सर्वहारा वर्ग भी शामिल नहीं है! ऐसे आनन-फानन में निष्कर्ष निकालने पर स्थिति कितनी हास्यास्पद बन सकती है, पाठक स्वयं देख लें।</u> हम देख चुके हैं स्तालिन यहां दमित राष्ट्रों में मध्यवर्ती वर्गों के विशिष्ट स्थान और महत्व की बात कर रहे हैं, न कि यह बता रहे हैं कि दमित राष्ट्रों में बुर्जुआजी शामिल है या नहीं। वह मार्क्सवादियों-लेनिनवादियों के लिए सहज स्पष्ट प्रमेय के समान है क्योंकि कौमी दमन की अवधारणा में ही यह तत्व संघटक तत्व के रूप में शामिल है, जिसके बिना कौमी दमन की अवधारणा ही अर्थहीन हो जाती है।**

अब सुखविन्दर द्वारा पेश उस दूसरे उद्धरण पर आते हैं जिससे वह सिद्ध करना चाहते हैं कि कोई कौम बुर्जुआजी के दमित हुए बगैर भी दमित हो सकती है। यहां सुखविन्दर अपनी इस प्रस्थापना को, कि 'दमित राष्ट्र की बुर्जुआज़ी दमित नहीं भी हो सकती है' पोलैंड के उदाहरण से साबित करने की कोशिश करते हैं जो कि काफी हास्यास्पद नतीजों तक उन्हें पहुंचा देता है, *इस हद तक कि सुखविन्दर सीधे त्रॉत्स्कीपंथ के गड्डे में ही गिर जाते हैं।* लेकिन सुखविन्दर के त्रॉत्स्कीपंथ के तरफ गमन पर हम तफसील से लेख के अगले हिस्से में चर्चा करेंगे। फिलहाल यहाँ उनकी इस नायाब प्रस्थापना की थोड़ी चीर-फाड़ करते हैं कि ऐसा कोई दमित राष्ट्र हो सकता है जिसका बुर्जुआ वर्ग या उसका कोई भी हिस्सा दमित न हो। साथ ही, हम यह भी दिखलायेंगे कि किस तरह पोलैंड के विषय में ऐसा कुछ भी नहीं था जैसा कि सुखविन्दर दावा कर रहे हैं। इस विषय में हम ऊपर भी एक छोटे उपशीर्षक में लेनिन के सन्दर्भों से दिखा चुके हैं कि पोलिश बुर्जुआजी एक दमित बुर्जुआजी ही थी।

इसके अलावा हम यह भी दिखलायेंगे कि सुखविन्दर किस तरह मेहरिंग से लेकर लेनिन तक को 'मिसरिप्रेसेन्ट' करते हैं, बेहद आत्मगत और मनमाने ढंग से उनके उद्धरणों की व्याख्या करते हैं और अपने

मूर्खतापूर्ण सिद्धांतों को मेहरिंग और लेनिन के मुंह से बुलवाने की कोशिश करते हैं। आइये देखते हैं कि सुखविन्दर इन कारनामों को किस प्रकार अंजाम देते हैं।

सुखविन्दर लेनिन द्वारा उद्धृत मेहरिंग का यह उद्धरण देते हैं-

> "वह समय गुज़र गया जब कि कोई बुर्जुआ क्रान्ति एक आजाद पोलैण्ड का निर्माण कर सकती थी: आज पोलैण्ड का पुनर्जागरण केवल एक सामाजिक क्रान्ति द्वारा ही सम्भव है, जिसकी प्रक्रिया में आधुनिक सर्वहारा वर्ग अपनी बेडियां तोड़ेगा।" (देखें, लेनिन द्वारा अपने लेख 'हमारे कार्यक्रम में राष्ट्रीय प्रश्न', में दिया मेहरिंग का उद्धरण, संपूर्ण रचनाओं, भाग 6, पेज 457, अंग्रेज़ी से अनुवाद हमारा)

इसके बाद सुखविन्दर लिखते है कि "लेनिन मेहरिंग के इन विचारों से सहमति प्रकट करते हुए लिखते हैं" और फिर लेनिन का यह उद्धरण पेश करते हैं-

> "हम मेहरिंग के नतीजे से पूर्णत: सहमत हैं। हम केवल यह टिप्पणी करेंगे कि यह नतीजा तब भी प्रश्नेतर रहता है यदि हम अपनी दलीलों में मेहरिंग जितना भी आगे न जाएं। बिना किसी शक के पोलिश प्रश्न की वर्तमान स्थिति आज से पचास वर्षों पहले मौजूद स्थिति से भिन्न है। **लेकिन, मौजूदा स्थिति को स्थायी नहीं माना जा सकता है। वर्ग शत्रुता ने निश्चित तौर पर अभी राष्ट्रीय प्रश्नों को नेपथ्य में धकेल दिया है, लेकिन, बिना सिद्धान्तवाद में पतित होने के खतरे के, यह स्पष्ट रूप से दावा नहीं किया जा सकता है कि कोई विशेष राष्ट्रीय प्रश्न राजनीतिक नाटक के अग्रभूमि में अस्थायी तौर पर फिर से प्रकट नहीं होगा। निस्सन्देह पोलैण्ड की स्थापना पूंजीवाद के पतन के पहले होने की सम्भावना बेहद कम है, लेकिन यह भी दावा नहीं किया जा सकता है कि यह बिल्कुल असम्भव है, या कि स्थितियां फिर नहीं पैदा होंगी जिनमें कि पोलिश पूंजीपति वर्ग स्वतन्त्रता का पक्ष लेगा, आदि। और रूसी सामाजिक जनवाद का अपने हाथ बांधने का ज़रा भी कोई इरादा नहीं है। अपने कार्यक्रम में राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के अधिकार को मान्यता देने को शामिल करने में, यह सभी सम्भव, या कल्पनीय सम्भावनाओं को ध्यान में रखता है। यह कार्यक्रम किसी भी रूप में पोलिश सर्वहारा वर्ग द्वारा एक स्वतंत्र और मुक्त पोलिश गणराज्य के नारे को शामिल करने से इंकार नहीं करता है, हालांकि समाजवाद आने से पहले इसकी सम्भावना नगण्य है।**" (उपरोक्त, पेज 457-458)

इसके बाद सुखविन्दर यह लिखते हैं,

> "ऊपर दिये मेहरिंग के उद्धरण, जिसके साथ कॉमरेड लेनिन ने सहमति प्रकट की उससे स्पष्ट है कि एक बहुराष्ट्रीय देश में ज़रूरी नहीं है कि उस राष्ट्र की मुक्ति किसी भी तरह की जनवादी क्रान्ति के ज़रिये ही हो। यह दमित राष्ट्र के सर्वहारा द्वारा दमनकारी राष्ट्र के सर्वहारा के साथ मिलकर 'सामाजिक क्रान्ति' *(सुखविन्दर के अनुसार, जिसका मतलब समाजवादी क्रान्ति ही हो सकता है)* के ज़रिये भी हो सकती है। अपने देश या राष्ट्र की आज़ादी के संघर्ष में ज़रूरी नहीं कि सर्वहारा बुर्जुआज़ी के साथ गठजोड़ बनाये ही। उपरोक्त उद्धरण से यह भी स्पष्ट है कि अगर किसी ख़ास समय में किसी ख़ास राष्ट्र की बुर्जुआज़ी ने आज़ादी का झण्डा नहीं उठाया हुआ है तो इसका यह भी मतलब नहीं कि वह कभी नहीं उठायेगी।" (सुखविन्दर, 'राष्ट्रीय प्रश्न और मार्क्सवाद', प्रतिबद्ध-33)

फिर सुखविन्दर हम जैसे "अयोग्य मार्क्सवादियों" के लिए "पैदा हुई समस्या" को इस प्रकार बयान करते हैं,

> "मेहरिंग का उपरोक्त उद्धरण, और इस बारे में लेनिन की चर्चा उन मार्क्सवादियों के लिए समस्या पैदा कर देती है जो दावा करते हैं कि कोई राष्ट्र सिर्फ़ तभी दमित हो सकता है अगर उसकी बुर्जुआज़ी भी दमित हो (जबकि मार्क्सवाद सिखाता है कि ऐसा हो भी सकता है और नहीं भी)। इनके अनुसार स्थिति कुछ इस तरह की बनेगी कि जब मार्क्स-एंगेल्स और काउत्स्की ने पोलैंड के restoration का समर्थन किया तो पोलैंड एक दमित राष्ट्र (बुर्जुआज़ी समेत) था, जब मेहरिंग ने कहा कि अब सर्वहारा ही पोलैंड की गुलामी की ज़ंजीरें तोड़ेगा, तब पोलैंड बुर्जुआज़ी समेत दमित राष्ट्र नहीं रहा और जब लेनिन ने कहा कि भविष्य में फिर ऐसी परिस्थितियाँ पैदा हो सकती हैं कि फिर से पोलिश बुर्जुआज़ी पोलैंड की आज़ादी का पक्ष ले और ऐसा ही हुआ भी, तब पोलैंड की बुर्जुआज़ी फिर से दमित राष्ट्र बन गयी। राष्ट्रीय प्रश्न को समझ सकने में अयोग्य मार्क्सवादियों का ऐसा ही हास्यास्पद हश्र होता है।"

यह है सुखविन्दर की तर्क-पद्धति! **ऐसी व्याख्या करने वाले को राजनीतिक रूप से अपढ़ न कहा जाय तो क्या कहा जाय**? **अब आइये देखते हैं कि लेनिन उपरोक्त रचना में मेहरिंग के उद्धरण के हवाले से वास्तव में क्या कह रहे हैं।**

अव्वलन तो जो मेहरिंग का उद्धरण लेनिन ने पेश किया है उसमें समाजवादी क्रांति का कोई ज़िक्र ही नहीं है; मेहरिंग 'सामाजिक क्रांति' की बात कर रहे हैं और बता रहे हैं कि पोलैण्ड की राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के प्रश्न को हल करने में वहां की बुर्जुआजी समर्थ नहीं है और अब यह कार्यभार भी सर्वहारा वर्ग को अपनी अगुवाई में पूरा करना होगा। जब भी यह बुर्जुआजी सर्वहारा वर्ग के क्रान्तिकारी आन्दोलन से खतरा महसूस करती है, जो कि राष्ट्रीय जनवादी प्रश्न का ज्यादा रैडिकल व सुसंगत समाधान कर सकता है, तो वह दमनकारी राष्ट्र की बुर्जुआजी से मोलभाव और समझौता करने लगती है। **इसका यह अर्थ नहीं है कि पोलैण्ड की बुर्जुआजी राष्ट्रीय दमन का शिकार नहीं थी।** हम पहले भी बता चुके हैं कि लेनिन ने स्वयं ही स्पष्ट किया था कि राष्ट्रीय दमन का शिकार होने का यह अर्थ नहीं है कि बुर्जुआजी अनिवार्यत: रैडिकल तरीके से ही इस प्रश्न का समाधान करेगी, रैडिकल तरीके से राष्ट्रीय आन्दोलन में हिस्सेदारी करेगी। बल्कि लेनिन, स्तालिन और माओ ने बार-बार बताया कि साम्राज्यवाद के दौर में राष्ट्रीय बुर्जुआजी दमित होने के बावजूद चूंकि सर्वहारा वर्ग के क्रान्तिकारी आन्दोलन से भी डरती है, इसलिए वह राष्ट्रीय मुक्ति के कार्यभार में भी ढुलमुल रवैया दिखलाएगी। इसका यह अर्थ नहीं है कि वह राष्ट्रीय दमन का शिकार नहीं है, जैसा कि सुखविन्दर को लगता है। देखिये कि 1916 में लेनिन ने पोलिश और गैलीशिया, आर्मेनिया आदि जैसे देशों की बुर्जुआजी के बारे में क्या लिखा है:

> **"प्रकटत: पोलिश साथी इस प्रकार के विद्रोह का इस आधार पर** विरोध करते हैं **कि इन कब्ज़ा किये गये देशों में** भी **बुर्जुआ वर्ग है और वह** भी **विदेशी जनता को उत्पीड़ित करता है या ज्यादा ठीक कहा जाय, तो उत्पीडित कर सकता है, क्योंकि प्रश्न केवल "उत्पीडित करने के** अधिकार**" का है। फलत: किसी युद्ध विशेष अथवा विद्रोह विशेष के मूल्यांकन के लिए जो कसौटी चुनी जाती है, वह उस युद्ध अथवा विद्रोह की** वास्तविक **सामाजिक अन्तर्वस्तु (उत्पीड़क राष्ट्र से मुक्ति के लिए उत्पीडित राष्ट्र का संघर्ष) नहीं, बल्कि इस समय स्वयं <u>उत्पीड़ित बुर्जुआ वर्ग</u> द्वारा "उत्पीडित करने के" अपने** "अधिकार" **की सम्भाव्य सिद्धि है।"** (लेनिन, **आत्मनिर्णय सम्बन्धी बहस के परिणाम**)

लेनिन यहां स्पष्ट शब्दों में बता रहे हैं कि हर कब्जा किये गये राष्ट्र की बुर्जुआजी दमित बुर्जुआजी है जिसमें कि पोलिश बुर्जुआजी भी शामिल है। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता है कि पोलैण्ड की राष्ट्रीय मुक्ति के कार्यभार को वह पूरा कर सकती है या नहीं। यदि इस कार्य को सर्वहारा वर्ग भी पूरा करता है, तो वह कोई समाजवादी क्रान्ति नहीं होगी। सुखविन्दर अपने

कौमी जज्बातों में बहकर लेनिनवाद के बुनियादी सिद्धान्तों को भी भूल गये हैं और नतीजतन त्रॉत्स्कीपंथ की ओर गमन कर गये हैं, जिस पर हम आगे आएंगे।

1916 से पहले 1914 में भी लेनिन ने अपने लेख 'राजनीतिक सबक' में स्पष्ट शब्दों में बताया था कि पोलिश बुर्जुआ वर्ग राष्ट्रीय दमन का शिकार है। देखें लेनिन क्या लिखते हैं:

> ''खबर के अनुसार स्तोलिपिन ने स्वयं मिलकर ये वार्ताएं पोलिश कुलीन वर्ग के साथ कीं, जो कि पोलैण्ड के बड़े भूस्वामी हैं। स्तोलिपिन ने वायदे किये। बिल पेश किये गये। लेकिन...होम क्षेत्र को पोलैण्ड से अलग कर दिया गया और स्वशासन करने वाले पोलैण्ड में पोलिश भाषा को राज्य परिषद् द्वारा खारिज कर दिया गया...
>
> ''एक और समझौते के बारे में सुनिये जिसे ''फाड़'' दिया गया, हालांकि वह मामूली था। हाल ही में सर्व-रूसी बुर्जुआजी की ओर से गुचकोव ने कहा कि इस बुर्जुआजी ने प्रतिक्रान्तिकारी सरकार के साथ ''इन सभी सुधारों को लागू करने के बदले उसे समर्थन देने'' का गुप्त समझौता किया है। समर्थन तो दिया गया लेकिन कोई सुधार नहीं किये गये।
>
> ''हमने जो उदाहरण उद्धृत किये हैं उसमें यह बुर्जुआजी, यानी विपक्ष नहीं है, जिसने कि वह गुप्त समझौता किया, बल्कि राजसी भूस्वामी हैं जिन्होंने ये गुप्त समझौते किये हैं, यानी, यह कि हम स्तोलिपिन की ओर एक कदम बढ़ाएंगे और हमें पोलिश भाषा के साथ स्वशासन मिलेगा। उन्होंने कदम तो बढ़ाए लेकिन उन्हें कोई पोलिश भाषा नहीं मिली।'' (वही, पृ. 170-171)

आगे लेनिन बताते हैं कि पोलिश भूस्वामी वर्ग जो कि शासक वर्ग की स्थिति में था, किस प्रकार शासक रूसी भूस्वामी वर्ग के साथ यहूदियों के विरुद्ध दमन करने के लिए समझौते कर रहा था। लेकिन ये सारे समझौते पोलिश भूस्वामी वर्ग और रूसी भूस्वामी वर्ग कर रहे थे। इसमें पोलिश बुर्जुआजी का कोई स्वर नहीं था, हालांकि वह भी अपने यहां अल्पसंख्यक राष्ट्रीयताओं के दमन का अधिकार प्राप्त करने में दिलचस्पी रखती थी और साथ ही जब भी पोलिश सर्वहारा वर्ग के रैडिकल तेवरों से घबराती थी, तो रूसी शासक वर्ग से समझौते करने को भी तैयार रहती थी। लेकिन इन सबके बावजूद उसका चरित्र राजनीतिक रूप से स्वतंत्र बुर्जुआजी का नहीं बल्कि एक दमित बुर्जुआजी का ही था। पोलिश बुर्जुआजी वास्तव में दमित थी और लेनिन का भी ऐसा ही मानना था, इसके अन्य तमाम सन्दर्भों को देखने के लिए ऊपर दिये गये उपशीर्षक 'पोलैण्ड में बुर्जुआजी के दमित होने का प्रश्न' देखें।

इसलिए सुखविन्दर जो पोलिश बुर्जुआजी के बर्ताव के तीन अलग दौर गिनवा रहे हैं, उन तीनों ही दौरों में वहाँ का पूंजीपति वर्ग दमित ही था। वह इस राष्ट्रीय दमन के खिलाफ लड़ रहा था या नहीं, इससे उसके दमित होने का कोई रिश्ता नहीं है। इसलिए वास्तव में हास्यास्पद स्थिति सुखविन्दर के लिए बन गयी है, जिनके अनुसार, पहले दौर में पोलिश बुर्जुआजी राष्ट्रीय मुक्ति के लिए लड़ रही थी और इसलिए वह दमित थी, फिर दूसरे दौर में वह राष्ट्रीय मुक्ति के लिए नहीं लड़ रही थी, इसलिए वह दमित नहीं थी, और तीसरे दौर में वह फिर से राष्ट्रीय मुक्ति के लिए लड़ रही थी, यानी कि वह फिर से दमित हो गयी! इन्होंने राष्ट्रीय दमन को अक्कड़-बक्कड़ बम्बे बो का खेल बना दिया है। इसी से पता चलता है कि सुखविन्दर कैसे गड़बड़झाले में फंस गये हैं।

हमारे अनुसार तो इन तीनों ही दौरों में पोलिश राष्ट्र के दमन के मूल में पोलिश बुर्जुआजी का दमन ही है, चाहे वह किसी दौर में इसके खिलाफ राष्ट्रीय मुक्ति के आन्दोलन में सक्रिय भागीदारी करे या न करे या ढुलमुल तरीके से करे। लुब्बेलुबाब यह कि कोई बुर्जुआजी दमित है या नहीं इसका इस बात से कोई सीधा

समानुपातिक सम्बन्ध नहीं होता है कि वह राष्ट्रीय आन्दोलन में रैडिकल तरीके से हिस्सेदारी करती है या नहीं। यह बहुत ही सामान्य बात है जो सुखविन्दर के पल्ले नहीं पड़ रही है और इसलिए अचंभित होकर ऐसा बचकाना सवाल पूछ बैठे है और अनजाने अपना ही मज़ाक उड़ा रहे हैं!

दूसरी बात, यहां 1902 में मेहरिंग पोलैंड के विषय में अपना मूल्यांकन पेश कर रहे हैं, जिसे सुखविन्दर ने इन शब्दों में रखा है,

> "उनका (मेहरिंग का) कहना था कि अब स्थितियाँ बदल चुकी हैं। अब पोलैंड के सर्वहारा को पोलैंड को गुलाम बनाने वाले तीन देशों के सर्वहारा के साथ मिलकर क्रान्ति के लिए संघर्ष करना चाहिए। उसके हित स्पष्ट तौर पर यह माँग करते हैं कि उन तीन राज्यों में जिन्होंने पोलैंड को बाँटा हुआ है, पोलिश मज़दूरों को अपने वर्ग साथियों के साथ बिना शर्त मिलकर लड़ना चाहिए।" (सुखविन्दर, 'राष्ट्रीय प्रश्न और मार्क्सवाद', प्रतिबद्ध-33)

लेकिन इस दौर में भी वहाँ क्रांति की मंजिल जनवादी क्रांति की ही थी। 1795 से लेकर 1918 तक पोलैंड जर्मनी, ऑस्ट्रिया और रूस के बीच विभाजित था। पोलैंड के एकीकरण और राष्ट्रीय स्वतंत्रता का कार्यक्रम, राजनीतिक अर्थों में, जनवादी क्रांति के कार्यक्रम के कार्यभार का ही हिस्सा था, भले आर्थिक रूप से पोलैंड कितना ही विकसित क्यों न रहा हो या पूँजीवाद का विकास कितना ही क्यों न हुआ हो। लेनिन ने खुद बताया है कि आर्थिक रूप से पोलैण्ड में पूंजीवाद का विकास हुआ है**,** लेकिन तत्कालीन समूचे पूर्वी यूरोप में पहला कार्यभार है बुर्जुआ जनवादी कार्यभारों को पूरा करना जिसके दो कारण थे, या तो राष्ट्रीय प्रश्न हल नहीं हुआ था या फिर राज्य का चरित्र बुर्जुआ नहीं बल्कि प्राक्-पूंजीवादी बना हुआ था। देखिये कि लेनिन 1916 में पूरे पूर्वी यूरोप के बारे में क्या कहते हैं:

> "दूसरी, पूर्वी यूरोप: ऑस्ट्रिया, बाल्कन और खास तौर पर रूस। यहां ठीक बीसवीं शताब्दी ने बुर्जुआ-जनवादी राष्ट्रीय आन्दोलनों को विशेष रूप से विकसित किया तथा राष्ट्रीय संघर्ष को तीक्ष्ण बनाया। इन देशों में उनके दोनों कामों में, बुर्जुआ-जनवादी सुधारों को पूर्ण करने तथा अन्य देशों में समाजवादी क्रान्ति को सहायता देने में सर्वहारा वर्ग के कार्यभार राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के अधिकार की पैरवी किये बिना पूर्ण नहीं हो सकते।" (लेनिन, 1988, *समाजवादी क्रान्ति तथा राष्ट्रों के आत्मनिर्णय का अधिकार*, **संकलित रचनाएं (चार खण्डों में) खण्ड 1**, प्रगति प्रकाशन, मॉस्को, पृ. 234-35)

लेनिन 1916 में बता रहे हैं कि पूर्वी यूरोप में कम्युनिस्टों का काम है कि राष्ट्रीय प्रश्न और/या राज्य के प्राक्-पूंजीवादी/सामन्ती चरित्र के सवाल का हल करके बुर्जुआ जनवादी कार्यभारों को पूरा करना और *दूसरे देशों में (यानी जिन देशों में समाजवादी क्रान्ति की मंजिल है)* समाजवादी क्रान्ति का समर्थन करना और इसके लिए राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के अधिकार का समर्थन करना अनिवार्य है। **लेकिन सुखविन्दर को 1903 में ही पोलैण्ड में समाजवादी क्रान्ति की मंजिल दिखाई दे रही है क्योंकि उन्होंने उस उद्धरण को भी नहीं समझा है जो उन्होंने खुद पेश किया है।** सुखविन्दर किस प्रकार पोलैंड के इस उदाहरण को देने के चक्कर में सीधे त्रॉत्स्कीपंथ की खाई में कूद पड़े हैं और क्रांति के चरणों को लांघने की त्रॉत्स्कीपंथी थीसिस दे रहे हैं इस पर हम आगे आयेंगे।

लेकिन यहाँ सबसे ज़रूरी बात यह है कि आप देख सकते हैं कि "कोई राष्ट्र सिर्फ़ तभी दमित हो सकता है अगर उसकी बुर्जुआज़ी भी दमित हो, जबकि मार्क्सवाद सिखाता है कि ऐसा हो भी सकता है और नहीं भी" का यह 'सुखविन्दरीय' सिद्धांत देकर सुखविन्दर कहाँ चले गए? **अरे भाई! यही तो आपको बताना था कि मार्क्सवाद में ऐसा कहाँ लिखा है? 107 पन्नों के अपने लेख में आपने एक बार भी नहीं बताया की मार्क्सवाद ऐसा कहाँ कहता है? यह कोई स्वत:सिद्ध सत्य (**axiom**) तो है नहीं, जैसा कि आप पेश कर रहे हैं। तो लेखक महोदय, कृपया राष्ट्रीय प्रश्न पर**

अपने अगले लेख में इसे उद्धरणों, सन्दर्भों और ऐतिहासिक तथ्यों समेत सिद्ध करें और हमारे ज्ञानचक्षु खोलें और मार्क्सवाद की हमारी व पाठकों की समझदारी इस प्रक्रिया में विकसित करके हमारा ज्ञानवर्धन करें! आपने हमें राष्ट्रीय प्रश्न समझने के "अयोग्य मार्क्सवादी" तो कह ही दिया है! तो इस योग्यता को विकसित करने में अपनी ज्ञान वर्षा जारी रखने में ज़रा भी कंजूसी न करें!

आप यहां यह भी देख सकते हैं कि सुखविन्दर ने किस प्रकार लेनिन और साथ ही मेहरिंग को एक साधारण लक्जेमबर्गवादी बना दिया है। रोज़ा लक्जेमबर्ग का मानना था कि पोलैण्ड में कम्युनिस्टों को पोलैण्ड के आत्मनिर्णय के अधिकार का समर्थन करने की बजाय, पोलैण्ड पर कब्ज़ा करने वाले देशों, विशेष तौर पर, रूस और जर्मनी में क्रान्ति के लिए जर्मन व रूसी सर्वहारा के साथ मिलकर संघर्ष करना चाहिए। लेनिन का कहना था कि ये दोनों कार्यभार एक दूसरे का बहिष्कार नहीं करते हैं, हमें ये दोनों ही कार्य करने चाहिए: यानी पोलिश सामाजिक-जनवादियों को पोलैण्ड समेत सभी दमित राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के अधिकार का समर्थन करना चाहिए (हालांकि वे राष्ट्रीय व अन्तरराष्ट्रीय परिस्थितियों के मूल्यांकन के आधार पर किसी देश के विशिष्ट मामले में किसी विशिष्ट दौर में अलग होने का समर्थन नहीं भी कर सकते हैं) और साथ ही उन्हें रूसी व जर्मन सर्वहारा वर्ग के साथ एकता स्थापित करके रूस और जर्मनी में क्रान्ति के लिए भी संघर्ष करना चाहिए और वास्तव में इन दोनों कार्यभारों में कोई अन्तरविरोध होने के विपरीत ये दोनों एक-दूसरे से नाभिनालबद्ध तरीके से जुड़े हुए हैं क्योंकि ये ही इन देशों के सर्वहारा वर्ग के बीच सभी राष्ट्रीय पूर्वाग्रहों को खत्म करके एक सही मायने में अन्तरराष्ट्रीयतावादी एकता स्थापित कर सकता था।

दूसरी बात, सुखविन्दर यह भी भूल गये हैं कि 1903 में पोलैण्ड तो दूर रूस तक में समाजवादी क्रान्ति की मंजिल नहीं थी, बल्कि जनता की जनवादी क्रान्ति की मंजिल थी। तो फिर पोलिश सर्वहारा चाहे समाजवाद तुरन्त लाने के लिए कितना ही आकुल क्यों न होता (हालांकि वह आकुल था नहीं, सुखविन्दर की देर से आंख खुली है, और वह अभी आकुल हो गये हैं!), वह रूसी सर्वहारा के साथ मिलकर भी रूस तक में जनता की जनवादी क्रान्ति ही कर सकता था, समाजवादी क्रान्ति नहीं। पोलैण्ड में समाजवादी क्रान्ति का प्रश्न तो अभी बहुत दूर की बात है। **जैसा कि पाठक देख सकते हैं, न सिर्फ पोलैण्ड के सन्दर्भ में बल्कि रूस के सन्दर्भ में भी सुखविन्दर त्रात्स्कीपंथी अवस्थिति अपना चुके हैं। कायदे से उन्हें लेनिन के 'जनवादी क्रान्ति की मंजिल में सामाजिक-जनवाद की दो कार्यनीतियां' की आलोचना लिखनी चाहिए। क्या पता 1905 में जो त्रॉत्स्की नहीं कर पाया था, वह सुखविन्दर 2020 में कर डालें!**

अब आप ही बताएं, ऐसे लोगों को अनपढ़ ''मार्क्सवादी'' न कहा जाय तो क्या कहा जाय?

ख. पंजाब की स्थिति पर सुखविन्दर के कौमी दमन के सिद्धान्त को लागू करने से निकलने वाले विचित्र हास्यास्पद नतीजे

अब आइये सुखविन्दर के कौमी दमन के सिद्धान्त को पंजाब के मामले पर लागू करके देखते हैं। **याद रहे, यह काम हम सिर्फ मनोरंजन के लिए नहीं कर रहे हैं, हालांकि इस प्रक्रिया में काफी मनोरंजन हो सकता है!**

उन्हें पंजाबी कौम के दमन को सिद्ध करना है। लेकिन पंजाबी बुर्जुआजी को न तो वह दमित मानते हैं और न ही दलाल, बल्कि एक राजनीतिक रूप से स्वतन्त्र बुर्जुआजी मानते हैं। यही कारण है कि सुखविन्दर दो उद्धरण ढूंढ कर लाए ताकि यह साबित कर सकें कि पंजाबी बुर्जुआजी के दमित (या दलाल) न होने की सूरत में भी, पंजाब को दमित कौम माना जा

सकता है। हमने ऊपर देखा कि स्तालिन व लेनिन ऐसा कुछ नहीं कह रहे हैं और *उनके उद्धरणों की व्याख्या करने में सुखविन्दर ने बुद्धि विवेक पर कम ज़ोर दिया है और अपने कल्पना के घोड़े ज्यादा दौड़ा दिये हैं।*

आइये, अब ज़रा सुखविन्दर के सिद्धान्त को पंजाब पर लागू करते हैं।

अगर पंजाब में राष्ट्रीय प्रश्न मौजूद है, तो इसका पंजाब के सन्दर्भ में एक ही मतलब है कि वहाँ राष्ट्रीय दमन है और वहाँ स्वतंत्र राष्ट्र-राज्य बनाने के हक़ की हिमायत करके और इस हक़ के लिए लड़कर ही एक सही कम्युनिस्ट अवस्थिति अपनाई जा सकती है। वजह यह है कि पंजाब एक राष्ट्र है, कोई अल्पसंख्यक राष्ट्रीयता नहीं जिसकी कोई *टेरीटोरियैलिटी* न हो। और कोई दूसरा रास्ता मार्क्सवादी अवस्थिति के अनुसार सम्भव ही नहीं है। जैसा कि यह शब्द "राष्ट्र" खुद ही बताता है कि इसमें बुर्जुआ वर्ग (दलाल पूंजीपति वर्ग को छोड़कर) शामिल है, क्योंकि कोई राष्ट्र बिना बुर्जुआज़ी के अस्तित्व में आ ही नहीं सकता है और राष्ट्र-राज्य निर्माण की परियोजना और कुछ नहीं बल्कि एक बुर्जुआ परियोजना है। यह परियोजना साम्राज्यवाद के युग में बुर्जुआ वर्ग निभाने का पुंसत्व व शक्ति रखता है या नहीं, उससे इस कार्यभार की वर्ग अन्तर्वस्तु पर कोई फर्क नहीं पड़ता है। तो फिर इन अर्थों में, पंजाबी दमित राष्ट्र में या तो पूरी बुर्जुआज़ी या फिर बुर्जुआज़ी का वह हिस्सा दमित है जो कि राष्ट्रीय है और दलाल नहीं है। **पंजाब में यह दमित बुर्जुआ वर्ग कौन है?** सुखविन्दर साफ़ जवाब देने से बच निकलते हैं और आम सिद्धांत प्रतिपादन करने लगते हैं और दावा करते हैं कि बुर्जुआजी के दमन के बिना भी राष्ट्रीय दमन सम्भव है। **एक पल को यह मान लेते हैं कि पंजाबी कौम का दमन पंजाबी बुर्जुआजी के दमन के बिना सम्भव है और इस मज़ाकिया सिद्धान्त को वास्तविकता पर लगाकर उसके मजाकिया नतीजों को देखते हैं।**

अगर पंजाबी बुर्जुआजी का कोई हिस्सा दमित नहीं है और वह बुर्जुआजी दलाल भी नहीं है, बल्कि राजनीतिक रूप से स्वतन्त्र है, और पंजाबी कौम का भारतीय शासक वर्ग यानी भारत के बड़े पूंजीपति वर्ग द्वारा दमन हो रहा है, जैसा कि सुखविन्दर कह रहे हैं, तो कई सवाल उठते हैं।

पहला सवाल, इस राष्ट्रीय दमन पर राजनीतिक रूप से स्वतंत्र पंजाबी बुर्जुआ वर्ग का क्या रवैया है? क्या वह इसमें शामिल है? क्या वह इसका विरोधी है?

अगर शामिल है तो तीन ही *सम्भव नतीजे* हो सकते हैं:

पहला यह कि पंजाबी बुर्जुआजी एक दलाल बुर्जुआजी है जो कि भारतीय राज्यसत्ता द्वारा पंजाबी कौम के कौमी दमन में शामिल है और भारतीय राज्यसत्ता की दलाल है। लेकिन इस सम्भावना को हम व सुखविन्दर दोनों ही पहले ही नकार चुके हैं। यह वैसे भी सम्भव नहीं है क्योंकि पंजाबी बुर्जुआजी मूलत: एक औद्योगिक-वित्तीय व खेती में भी उत्पादक सेक्टर में लगी हुई बुर्जुआजी है, जोकि दलाल हो ही नहीं सकती है। यह मूलत: और मुख्यत: कोई नौकरशाह या वाणिज्यिक बुर्जुआजी नहीं है। अब दूसरी सम्भावना पर आते हैं।

दूसरा सम्भव नतीजा यह है कि सुखविन्दर कह रहे हैं कि पंजाबी बुर्जुआजी पंजाबी कौम के भारतीय शासक वर्ग द्वारा दमन पर कुछ नहीं बोल रही है, चुप बैठी है और उसकी इस पर कोई अवस्थिति ही नहीं है! हम जानते हैं कि यह बेतुकी बात है क्योंकि पंजाबी बुर्जुआजी अपने वर्ग हितों को संगठित कर चुकी *राजनीतिक रूप से सचेत* बुर्जुआजी है, मार्क्स के शब्दों में महज़ एक **सामाजिक वर्ग (social class)** नहीं है, बल्कि एक **राजनीतिक वर्ग (political class)** है और एक राजनीतिक वर्ग हर प्रश्न पर एक अवस्थिति या चार्टर रखता है, जो कि उसके हितों की

नुमाइन्दगी करता है। यदि ऐसा नहीं है तो मानना होगा कि वह एक राजनीतिक वर्ग के रूप में अभी संगठित ही नहीं हुआ है। ज़ाहिर है कि पंजाबी बुर्जुआजी की ऐसी स्थिति नहीं है।

तीसरा सम्भव नतीजा यह हो सकता है कि पंजाबी बुर्जुआजी को खुद भारतीय शासक वर्ग में हिस्सेदारी हासिल है। लेकिन उस सूरत में सुखविन्दर फिर से एक मज़ाकिया नतीजे पर पहुंच जाएंगे और वह यह कि *पंजाबी बुर्जुआजी पंजाबी कौम का कौमी दमन कर रही है, दूसरे शब्दों में पंजाबी कौम अपना स्वदमन कर रही है!* क्योंकि कौमी दमन का मतलब ही यह होता है कि एक कौम का *दूसरी दमनकारी कौम या कौमों* द्वारा दमन। यदि पंजाबी बुर्जुआजी ही पंजाबी जनता का दमन कर रही है, तो कौमी दमन की अवधारणा ही बेकार हो जाती है। आप देख सकते हैं कि सुखविन्दर के कौमी दमन के सिद्धान्त को अगर वास्तविकता में लागू किया जाय, तो उसके कैसे हास्यास्पद नतीजे सामने आते हैं।

सुखविन्दर जब भारत के सौ सबसे अमीर लोगों में 80 के गुजराती होने के बारे में बात करते हैं, तो ऐसा ध्वनित होता है कि भारत की बड़ी बुर्जुआजी में पंजाबी बुर्जुआजी का हिस्सा नहीं है। *यदि ऐसा है* तो इसका अर्थ है कि पंजाबी बुर्जुआजी दमित है! सुखविन्दर को बिना शर्म यह स्वीकार कर लेना चाहिए और पंजाबी बुर्जुआजी से मोर्चा बना लेना चाहिए राष्ट्रीय मुक्ति के लिए! क्योंकि दमित बुर्जुआजी की परिभाषा ही यही होती है कि उसे राजनीतिक सत्ता में हिस्सेदारी प्राप्त नहीं होती है, जो कि उसे अपना अलग घरेलू बाज़ार स्थापित करने और कायम रखने का अधिकार नहीं देती है। वह अन्य बुर्जुआ वर्गों द्वारा राजनीतिक तौर पर दमित होती है जो कि उसके आर्थिक विकास को भी स्वतंत्र नहीं होने देता और निर्भर बनाए रखता है। हमें पता नहीं किया सुखविन्दर आगे ऐसा नतीजा निकालेंगे या नहीं, लेकिन उनके द्वारा कही जा रही बातों में इसका स्पष्ट संकेत है। आगे बढ़ते हैं।

अब दूसरे सवाल पर आते हैं, जोकि सुखविन्दर के कौमी दमन के सिद्धान्त को पंजाब के ऊपर लागू करने से निकलता है।

दूसरा सवाल यह उठता है कि भारतीय शासक वर्ग यानी भारत की बड़ी बुर्जुआजी का राष्ट्रीय चरित्र क्या है? इसका इस सवाल से कोई रिश्ता नहीं है कि उसमें एक ही दमनकारी राष्ट्र शामिल है या कि वह कई दमनकारी राष्ट्रों के समझौते पर आधारित है, यानी उसका एक सम्मिश्रित बहुराष्ट्रीय चरित्र है, जैसा कि लेनिन ने ऑस्ट्रिया के मामले में बताया था। इस सवाल का सुखविन्दर कोई जवाब नहीं देते और ऐसा प्रतीत होता है कि वह एक ऐसे शासक वर्ग की कल्पना करते हैं कि जिसका कोई राष्ट्रीय चरित्र ही नहीं है। ऐसा *अराष्ट्रीय* शासक वर्ग कोई नहीं होता, जो कि मंगल ग्रह से आया हो! शासक वर्ग का एकराष्ट्रीय चरित्र हो सकता है, या बहुराष्ट्रीय चरित्र। **ऐसा सुखविन्दर इसलिए करने को मजबूर हैं क्योंकि अगर वे मानेंगे कि भारतीय शासक वर्ग का बहुराष्ट्रीय चरित्र है और उसमें गुजराती बुर्जुआजी के बाद कौमी मूल के तौर पर सम्भवत: सबसे शक्तिशाली बुर्जुआजी पंजाबी ही है, तो वह अन्तरविरोध में फंस जाएंगे।** क्योंकि फिर यह सिद्ध नहीं किया जा सकेगा कि पंजाब का कौमी दमन हो रहा है।

यानी सुखविन्दर पंजाब के कौमी दमन को साबित करने के लिए पहले तो यह दावा करते हैं कि बिना बुर्जुआजी के दमित हुए भी कोई कौम दमित हो सकती है; फिर दावा करते हैं कि राष्ट्रीय दमन करने वाला एक भारतीय शासक वर्ग है जिसका कोई राष्ट्रीय चरित्र नहीं है क्योंकि उन्हें पंजाबी बुर्जुआजी की उसमें हिस्सेदारी और भागीदारी को छिपाना है; और फिर कहते हैं कि केवल भाषाई दमन के आधार पर पंजाब एक दमित कौम है! **यानी कि पंजाबी कौम का दमन पूरी तरह से एक *इम्प्रेशनिस्टिक* मामला बन जाता है, यानी कि, चूंकि पंजाब में पंजाबी भाषा के साथ गैर-बराबरी हो रही है, इसलिए पंजाबी कौम दमित कौम है। आगे एक भिन्न उपशीर्षक में हम आपको विस्तार से दिखलाएंगे कि पंजाब में पंजाबी भाषा के साथ जो अन्याय हो रहा है वह क्यों हो रहा है और कौन कर रहा है।**

हमने अब तक की अपनी चर्चा में देखा कि सुखविन्दर द्वारा प्रतिपादित ये चारों प्रस्थापनाएं कितनी कमज़ोर बुनियाद पर खड़ी हैं कि (1) राष्ट्रीय प्रश्न औपनिवेशिक प्रश्न के बगैर अस्तित्व में आ सकता है**;** (2) राष्ट्रीय प्रश्न अग्रेरियन प्रश्न/भूमि संबंधी प्रश्न के बगैर अस्तित्व में आ सकता है (जिसे अलग से साबित करने की कोई आवश्यकता ही नहीं थी)**;** (3) राष्ट्रीय प्रश्न बिना किसी एक राष्ट्र के दबदबे/प्रभुत्व के (**dominant nation)** के अस्तित्व में आ सकता है**;** और (4) बुर्जुआजी के दमन के बिना भी राष्ट्रों का दमन हो सकता है और साथ ही हमने यह भी देखा कि पंजाब के राष्ट्रीय दमन को साबित करने के मक़सद से सुखविन्दर जो राजनीतिक व विचारधारात्मक धूम्रावरण खड़ा करने की कोशिश कर रहे हैं**,** वह उन्हें इस प्रश्न पर मार्क्सवादी चिन्तक नहीं बल्कि बुण्डवादी मसखरे में तब्दील कर दे रहा है।

ग. राष्ट्रीय प्रश्न की अलग-अलग किस्में? सुखविन्दर की नयी खोज!

इसके बाद सुखविन्दर "राष्ट्रीय प्रश्न की अलग-अलग किस्मों" का हवाला देते हुए यह कहते हैं,

> "राष्ट्रीय दमन और राष्ट्रीय आन्दोलन को समझने के लिए ज़रूरी है कि पहले राष्ट्रीय प्रश्न के अलग-अलग दौरों और *क़िस्मों* को समझा जाये। विशेष ऐतिहासिक दौर में क्रान्ति के कार्यों और चरित्र के सम्बन्ध में राष्ट्रीय प्रश्न की *क़िस्मों* का सवाल राष्ट्रीय प्रश्न के उद्देश्यों और चरित्रों की क़िस्मों का सवाल है। राष्ट्रीय प्रश्न के दौरों और क़िस्मों को समझने का सवाल दरअसल राष्ट्रीय प्रश्न में शामिल वर्ग अंतरविरोधों, वर्ग शक्तियों, शामिल राष्ट्रों, राष्ट्रीयताओं और देशों की क़िस्मों को समझना है। यह समझना है कि ये अलग-अलग पक्ष कैसे राष्ट्रीय प्रश्न के कार्यों को प्रभावित करते हैं। राष्ट्रीय प्रश्न के अलग-अलग दौरों को mixup करने के गलत परिणाम निकलते हैं। इन्हें mixup करने से राष्ट्रीय प्रश्न की confusing/blurry समझ ही पैदा होती है। यह भी एक कारण है कि अक्सर लोग राष्ट्रीय प्रश्न के अलग-अलग पक्षों पर बन्दर कुद्दियाँ मारते रहते हैं।" (सुखविन्दर, 'राष्ट्रीय प्रश्न और मार्क्सवाद', प्रतिबद्ध-33)

राष्ट्रीय प्रश्न के अलग-अलग दौर तो होते हैं और अलग-अलग दौरों में उनका अलग-अलग चरित्र बनता है (जिस पर हम आगे बात करेंगे), लेकिन सुखविन्दर ने जो इसकी अलग-अलग किस्में निकाली हैं वे क्या होती हैं? **यह भी सुखविन्दर का नया आविष्कार है! या फिर उन्होंने इसे इण्टरनेट पर यहाँ से पढ़कर उठा लिया है -** https://www.marxists.org/history/erol/ncm-8/wvo-nat-question.htm#:~:text=The%20basic%20main%20types%20of,context%20of%20new%20democratic%20revolution. **यानी चौर्यलेखन**! आप अगर गौर करेंगे तो पाएंगे कि राष्ट्रीय प्रश्न पर उपलब्ध पूरे मार्क्सवादी लेखन में कहीं भी *राष्ट्रीय प्रश्न की किस्मों* की बात नहीं की गयी है, राष्ट्रीय आन्दोलन के अलग–अलग दौरों की बात की गई है, जिनमें उसके चरित्र में परिवर्तन आते हैं, जैसे कि राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन में वर्गों के मोर्चे में नेतृत्व व मुख्य सामाजिक शक्ति का बदलना। स्तालिन इन तीन दौरों की बात करते हैं:

> "ऐसे तीन दौर रहे हैं।
>
> "पहला दौर था पश्चिम में सामन्तवाद के खात्मे और पूंजीवाद की विजय का दौर। यह वह दौर था जिसमें जनता एक राष्ट्र के रूप में संघटित हुई। मेरे दिमाग में यहां (आयरलैण्ड को छोड़कर) इंग्लैण्ड, फ्रांस और इटली हैं। पश्चिम में--ब्रिटेन, फ्रांस, इटली और आंशिक तौर पर जर्मनी में--सामन्तवाद का खत्म होना और जनता का राष्ट्रों में संघटित होना उस दौर के कुल मिलाकर साथ ही हुआ जिसमें केन्द्रीकृत राज्यसत्ताएं प्रकट हुईं; इसके नतीजे

के तौर पर अपने विकास की प्रक्रिया में राष्ट्रों ने राज्यों का स्वरूप ग्रहण किया। और चूंकि इन राज्यों में विचारणीय आकार के कोई राष्ट्रीय समूह नहीं थे, इसलिए यहां कोई राष्ट्रीय दमन नहीं था।

"पूर्वी यूरोप में, इसके विपरीत, राष्ट्रों के बनने और सामन्ती विसंगठन के खात्मे की प्रक्रिया केन्द्रीकृत राज्यों के गठन की प्रक्रिया के साथ घटित नहीं हुई। मेरे दिमाग में हंगरी, ऑस्ट्रिया और रूस हैं। इन देशों में पूंजीवाद अभी विकसित नहीं हुआ था; यह शायद अभी केवल विकसित होना शुरू हुआ था; लेकिन तुर्क, मंगोल व अन्य पूर्वी लोगों द्वारा हमलों के समक्ष रक्षा की आवश्यकताओं ने हमलावरों को रोकने हेतु तत्काल केन्द्रीकृत राज्यों के निर्माण को एक अनिवार्यता बना दिया। चूंकि पूर्वी यूरोप में केन्द्रीकृत राज्यों के गठन की प्रक्रिया लोगों के राष्ट्रों में संघटन की प्रक्रिया से तेज़ गति से हुई, इसलिए वहां मिश्रित राज्य पैदा हुए, जिसमें कई जनगण थे जिन्होंने अभी अपने आपको राष्ट्र के रूप में संघटित नहीं किया था, लेकिन वे पहले ही एक राज्य के मातहत एकीकृत हो गये थे।

"इस प्रकार, पहले दौर की पहचान उन राष्ट्रों से होती है जो कि पूंजीवाद के आरंभ में ही प्रकट होते हैं; पश्चिमी यूरोप में शुद्धत: राष्ट्रीय राज्य पैदा हुए जहां कोई राष्ट्रीय दमन नहीं था, जबकि पूर्वी यूरोप में बहुराष्ट्रीय राज्य पैदा हुए जिनकी अगुवाई, एक, अधिक विकसित राष्ट्र एक प्रभुत्वशाली राष्ट्र के रूप में करता था, अन्य कम विकसित राष्ट्र राजनीतिक और आर्थिक तौर पर जिसके अधीन थे। पूर्व में ये बहुराष्ट्रीय राज्य राष्ट्रीय दमन का मूल स्थान बने जिन्होंने राष्ट्रीय टकरावों, राष्ट्रीय आन्दोलन और राष्ट्रीय प्रश्न को जन्म दिया, और साथ ही इस प्रश्न के समाधान के विभिन्न तरीकों को जन्म दिया।

"राष्ट्रीय दमन और उससे लड़ने के तरीकों के विकास का दूसरा दौर पश्चिम में साम्राज्यवाद के उदय के दौर के साथ मिलता है, जब बाज़ार, कच्चे माल, ईंधन और सस्ती श्रम शक्ति की तलाश में और पूंजी के निर्यात के लिए अपने संघर्ष में और महत्वपूर्ण रेलवे व समुद्री मार्ग पर कब्ज़ा करने के लिए पूंजीवाद राष्ट्रीय राज्यों की सीमाओं का अतिक्रमण कर गया और अपने पड़ोसियों, **करीब और दूरवर्ती**, के क्षेत्रों की कीमत पर अपने क्षेत्र का विस्तार किया। इस दूसरे दौर में पश्चिम के पुराने राष्ट्रीय राज्य--ब्रिटेन, इटली और फ्रांस--अब राष्ट्रीय राज्य नहीं रह गये, यानी, नये क्षेत्रों पर कब्ज़ा करने के कारण, वे बहुराष्ट्रीय, औपनिवेशिक राज्यों में तब्दील हो गये और इस प्रकार उसी प्रकार के राष्ट्रीय व औपनिवेशिक दमन के स्थान बन गये जैसे कि पूर्वी यूरोप में पहले से मौजूद थे। पूर्वी यूरोप में इस दौर की विशिष्टता थी अधीनस्थ राष्ट्रों की जागृति और उनका सशक्त बनना (चेक, पोल व यूक्रेनियंस) जो, साम्राज्यवादी युद्ध के कारण, पुराने, बुर्जुआ बहुराष्ट्रीय राज्यों के टूटने और नये राष्ट्रीय राज्यों के निर्माण की ओर गया, जिन्हें तथाकथित महान शक्तियों ने बंधक बना रखा था।

"तीसरा दौर है सोवियत दौर, यानी पूंजीवाद के उन्मूलन का और राष्ट्रीय दमन के खात्मे का दौर...

"ये हैं राष्ट्रीय प्रश्न के विकास के तीन दौर जो हमारी आंखों के सामने से गुज़रे हैं।" (स्तालिन, **रूस की कम्युनिस्ट पार्टी की कांग्रेस में पेश रिपोर्ट**, 10 मार्च 1921)

लेनिन, 'समाजवादी क्रांति और राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के अधिकार' लेख में राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के सम्बन्ध में तीन प्रकार के देशों की बात करते हैं।

"इस सिलसिले में देशों को तीन मुख्य किस्मों में बांटना ज़रूरी है।

"पहली, पश्चिमी यूरोप के उन्नत देश तथा संयुक्त राज्य अमेरिका। यहां बुर्जुआ-प्रगतिशील राष्ट्रीय आन्दोलन बहुत पहले समाप्त हो चुके थे। इन "महान" राष्ट्रों में से प्रत्येक उपनिवेशों तथा स्वदेश में पराये राष्ट्रों का उत्पीड़न करता है। यहां इन शासक राष्ट्रों के सर्वहारा वर्ग के कार्यभार वहीं हैं जो उन्नीसवीं शताब्दी में आयरलैण्ड के सिलसिले में इंग्लैण्ड में सर्वहारा वर्ग के थे।

"दूसरी, पूर्वी यूरोप: ऑस्ट्रिया, बाल्कन और खास तौर पर रूस। यहां ठीक बीसवीं शताब्दी ने बुर्जुआ-जनवादी राष्ट्रीय आन्दोलनों को विशेष रूप से विकसित किया तथा राष्ट्रीय संघर्ष को तीक्ष्ण बनाया। इन देशों में उनके दोनों कामों में, बुर्जुआ-जनवादी सुधारों को पूर्ण करने तथा अन्य देशों में समाजवादी क्रान्ति को सहायता देने में, सर्वहारा वर्ग के कार्यभार राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के अधिकार की पैरवी किये बिना पूर्ण नहीं हो सकते। यहां सबसे कठिन व विशेष रूप से महत्वपूर्ण कार्यभार है उत्पीड़क राष्ट्रों के मज़दूरों के वर्ग संघर्ष तथा उत्पीडित राष्ट्रों के मज़दूरों के वर्ग संघर्ष को सूत्रबद्ध करना।

"तीसरी, चीन, फारस तथा तुर्की जैसे अर्द्धऔपनिवेशिक देश तथा वे तमाम उपनिवेश, जिनकी कुल मिलाकर आबादी एक अरब है। यहां बुर्जुआ जनवादी आन्दोलन या तो मुश्किल से ही शुरू हुए हैं अथवा उन्हें अभी बहुत लम्बा सफर तय करना है। समाजवादियों को न केवल बिना मुआवज़ा दिये उपनिवेशों की बिना शर्त तथा तत्काल मुक्ति की ही मांग करनी चाहिए -- और यह मांग अपनी राजनीतिक अभिव्यक्ति में सिवाय आत्मनिर्णय के अधिकार के और किसी चीज़ की द्योतक नहीं है; समाजवादियों को इन देशों में बुर्जुआ-जनवादी राष्ट्रीय-मुक्ति आन्दोलनों में अधिक क्रान्तिकारी तत्वों का स्वयं संकल्पपूर्वक समर्थन करना चाहिए और उन्हें उत्पीडित करने वाली साम्राज्यवादी शक्तियों के विरुद्ध इन तत्वों के विप्लव को -- और क्रान्तिकारी युद्ध होने की सूरत में उसको -- सहायता देनी चाहिए।"

(लेनिन, 1988, *समाजवादी क्रान्ति और राष्ट्रों के आत्मनिर्णय का अधिकार*, **संकलित रचनाएं (चार खण्डों में) खण्ड-1**, प्रगति प्रकाशन, मॉस्को, पृ 234-35)

लेकिन सुखविन्दर उपरोक्त अपने द्वारा उद्धृत स्तालिन के उद्धरण को इस तरह व्याख्यायित करते हैं,

"राष्ट्रीय प्रश्न के उपरोक्त तीन दौरों में से पहले दौर की दो क़िस्में रही हैं जिनमें से आख़िरी में (बहुराष्ट्रीय राज्यों में) राष्ट्रीय दमन पैदा हुआ। इन तीन दौरों में से पहला (दूसरी क़िस्म) और दूसरा दौर राष्ट्रीय दमन और राष्ट्रीय आन्दोलनों के साक्षी बने जबकि तीसरा दौर (समाजवादी क्रान्तियों का दौर) राष्ट्रीय दमन के ख़ात्मे का साक्षी बना।… कहा जा सकता है कि राष्ट्रीय दमन का दूसरा रूप आज मुख्य तौर पर ख़त्म हो चुका है पर पहला रूप अभी बचा हुआ है। यूरोप में भी और उत्तर औपनिवेशिक देशों, जहाँ द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद सामन्ती उत्पादन संबंधों में कायापलट हुई, इनमें से कई बहुराष्ट्रीय राज्यों के रूप में उभरे, यहाँ जारी राष्ट्रीय दमन, ऊपर चर्चा की गई राष्ट्रीय दमन की पहली क़िस्म से मिलता-जुलता है।" (सुखविन्दर, 'राष्ट्रीय प्रश्न और मार्क्सवाद', प्रतिबद्ध-33)

वैसे तो सुखविन्दर की उपरोक्त बात में बहुत सी मूर्खताएं हैं (जैसे कि राष्ट्रीय प्रश्न के सन्दर्भ में उपनिवेशों और बहुराष्ट्रीय देशों के दमित कौमों में फर्क करना, जिसकी लेनिन ने बार-बार विशेष ज़ोर देकर मनाही की है, क्योंकि यह इन बहुराष्ट्रीय देशों में दमित कौमों की समस्या पर एक सुधारवादी समाधान की ओर ले जाता है), लेकिन अभी हम "किस्मों" पर केन्द्रित करेंगे। जिसे सुखविन्दर राष्ट्रीय प्रश्न की अलग किस्में बता रहे हैं, वे कोई अलग किस्में नहीं हैं बल्कि राष्ट्रीय आन्दोलन के अलग-अलग दौरों की विशिष्टताएँ हैं। अलग-अलग ऐतिहासिक दौरों में राष्ट्रीय प्रश्न का *अलग-अलग*

चरित्र होता है, जैसा कि स्तालिन ने अपने 1929 के लेख 'राष्ट्रीय प्रश्न और लेनिनवाद' में बताया है। लेकिन उनकी *वर्ग अन्तर्वस्तु* एक ही होती है: **यह दमित कौम की बुर्जुआजी और दमनकारी कौम या कौमों की बुर्जुआजी अथवा शासक वर्गों के बीच के अन्तरविरोध की बुनियाद से ही शुरू होता है, और अनिवार्यत: पूरे कौम के दमन का स्वरूप ले लेता है क्योंकि इसका रिश्ता राजनीतिक जनवाद** (political democracy) **के क्षेत्र से है।**

दौरों में आने वाले परिवर्तन की वजह से राष्ट्रीय मुक्ति के संघर्ष में शामिल कौम के विभिन्न संघटक अंगों, यानी विभिन्न वर्गों की सापेक्षिक भूमिका बदल जाती है। मिसाल के तौर पर, पहले दौर में बुर्जुआ वर्ग की भूमिका नेतृत्वकारी थी, जिसे लेनिन व स्तालिन ने बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति का दौर कहा है, दूसरे दौर में यानी साम्राज्यवाद के दौर में यह कार्यभार बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति के फ्रेमवर्क से *आम तौर पर* बाहर हो गया, हालांकि अपवादस्वरूप बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति के दायरे में भी यह पूरा हो सकता था (जैसे कि स्विट्ज़रलैण्ड, नॉर्वे, आदि में हुआ और जैसा कि तमाम भूतपूर्व उपनिवेशों में भी हुआ), और यह सर्वहारा समाजवादी क्रान्ति का एक संघटक अंग बन गया। **सर्वहारा समाजवादी क्रान्ति का संघटक अंग बनने का अर्थ क्या है? इसका यह अर्थ नहीं है कि अब दमित कौमों में सीधे समाजवादी क्रान्ति की मंजिल आ गयी! ट्रॉत्स्कीपंथी कचरे से सड़ा हुआ दिमाग़ ही ऐसा मज़ाकिया नतीजा निकाल सकता है।** इसका यह अर्थ है कि अब दमित कौमों की आज़ादी की लड़ाई में भी सर्वहारा वर्ग नेतृत्वकारी भूमिका निभाएगा और किसानों, मध्यम वर्ग और पूंजीपति वर्ग के सबसे जनवादी व क्रान्तिकारी तत्वों के साथ मोर्चा बनाकर इस कार्यभार को पूरा करेगा और *स्थितियों के अनुकूल होने पर* इस चरण को पूराकर तुरन्त समाजवादी क्रान्ति की ओर आगे बढ़ेगा, जिसमें वह गरीब किसानों व मध्यम वर्ग के साथ मोर्चा बनाएगा। इसका दूसरा अर्थ यह है कि इस दौर में विश्व समाजवादी क्रान्ति के दुश्मन साम्राज्यवाद को ऐसी जनता की जनवादी क्रान्तियां कमज़ोर करेंगी और इसलिए इनका दुश्मन साझा है और लड़ाई भी अलग-अलग स्तरों पर जुड़ी हुई है। इसका यह अर्थ नहीं है कि अब उपनिवेशों, दमित राष्ट्रों व कब्जा किये गये देशों में सीधे समाजवादी क्रान्ति होगी।

बहरहाल, इन सभी परिवर्तनों से इन दौरों में राष्ट्रीय प्रश्न की कोई *नयी किस्म* नहीं पैदा हो जाती है। उसकी *सामाजिक अन्तर्वस्तु* (यानी कौन वर्ग अगुवाई करेगा और कौन से वर्ग प्रमुख शक्ति होंगे, कौन से वर्ग इस कार्यभार के प्रति ढुलमुल हो जाएंगे) बदलती है, उसकी *वर्ग अन्तर्वस्तु* नहीं। ऐतिहासिक तौर पर अभी भी यह एक बुर्जुआ जनवादी कार्यभार ही है, जिसे पूरा करने की शक्ति स्वयं बुर्जुआजी साम्राज्यवाद के युग में आम तौर पर खो चुकी है, हालांकि वह दमित कौमों में अभी भी दमित है।

राष्ट्रीय प्रश्न और कुछ नहीं है बस राष्ट्रों के आत्मनिर्णय का अधिकार है, जिसका एक ही मतलब है, राजनीतिक आत्मनिर्णय यानी अलग होने का अधिकार, अलग राष्ट्र-राज्य बनाने का अधिकार। सुखविन्दर जानबूझकर यहाँ पूरा मामला गड्ड-मड्ड कर रहे हैं। यह गड्डमड्ड वह इसलिए कर रहे हैं कि यह साबित कर सकें कि आज के दौर में बहुराष्ट्रीय देशों में राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के लिए अलग राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति का संघर्ष अप्रासंगिक बन गया है और सीधे समाजवादी क्रान्ति करनी होगी, जो कि राष्ट्रीय प्रश्न का भी समाधान कर देगी। **लेनिन और स्तालिन ने कहीं भी ऐसा नहीं कहा है।** उल्टे लेनिन ने बार-बार याद दिलाया है कि जहां तक दमित राष्ट्रों का यानी कि राष्ट्रीय प्रश्न के समाधान का सवाल है हम यूरोप के बहुराष्ट्रीय देशों और उपनिवेशों के बीच कोई अन्तर नहीं कर सकते हैं। दोनों ही जगह दमित राष्ट्रों के लिए कार्यक्रम राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के अधिकार पर केन्द्रित होगा और उसका चरित्र राष्ट्रीय जनवादी होगा। यह तथ्य, कि साम्राज्यवाद के युग में यह राष्ट्रीय जनवादी क्रान्तियां बुर्जुआ जनवादी दायरे में नहीं होंगी और एक साझे दुश्मन यानी साम्राज्यवाद को कमज़ोर करते हुए विश्व समाजवादी क्रान्ति की प्रक्रिया का संघटक अंक बन जाएंगी, इन क्रान्तियों को ही समाजवादी नहीं बना देता है, जैसा कि सुखविन्दर को लगता है।

यह "किस्मों" का गड़बड़झाला सुखविन्दर ने क्यों पैदा किया है, अब आपको समझ में आ गया होगा। **यह त्रात्स्कीपंथ को चोर दरवाजे से घुसाने के लिए की गई चार सौ बीसी है।** आपको याद होगा कि ऊपर इन्होंने बहुराष्ट्रीय भारत की तुलना बहुराष्ट्रीय ऑस्ट्रिया से की थी और हमने तब कहा था कि ऐसा सादृश्य निरूपण बस इसी हद तक सही है कि दोनों बहुराष्ट्रीय हैं। इससे इतर किसी और समानता की कोई बात ही नहीं है। वैसे ऑस्ट्रिया भी उस समय जनवादी क्रान्ति की प्रक्रिया को पूर्ण करने की मंजिल में ही था।

घ. पूंजीवाद के दौर में बहुराष्ट्रीय राज्यों की 'अनिवार्य नियति' के बारे में सुखविन्दर की "थीसिस" और स्तालिन के उद्धरण की दुर्व्याख्या

असल में सुखविन्दर की एक दूसरी थीसिस यह है,

> "आज भी दुनिया में जिन बहुराष्ट्रीय बुर्जुआ राज्यों का अस्तित्व है, इनके सामने दो ही मार्ग हैं। या तो समाजवादी क्रान्ति के ज़रिये यहाँ राष्ट्रों की स्वैच्छिक यूनियन अस्तित्व में आये नहीं तो दूसरा रास्ता इनके बिखराव का ही है।" (सुखविन्दर, 'राष्ट्रीय प्रश्न और मार्क्सवाद', प्रतिबद्ध-33)

इस विषय में वह एक बार फिर स्तालिन के विचारों को बेहद अवसरवादी तरीके से 'मिसरिप्रेसेन्ट' करने का काम करते हैं। सुखविन्दर लिखते हैं कि

> "बहुराष्ट्रीय राज्यों की नियति के बारे में कॉमरेड स्तालिन लिखते हैं,
>
> " "फ्रांस और इटली जैसे राष्ट्रीय राज्यों में, जो कि पहले-पहल केवल अपनी राष्ट्रीय शक्तियों पर निर्भर रहे, आम तौर पर कहें तो कोई राष्ट्रीय दमन नहीं था।
>
> "इसके विपरीत, बहुराष्ट्रीय राज्य जो कि एक राष्ट्र के--अधिक सटीकता से कहें तो उस राष्ट्र के शासक वर्ग के--प्रभुत्व पर आधारित थे, जो कि अन्य राष्ट्रों पर कायम किया जाता था, वे राष्ट्रीय दमन और राष्ट्रीय आन्दोलन के मूल और प्रमुख स्थान बने। **प्रभुत्वशाली राष्ट्र और अधीनस्थ राष्ट्रों के अन्तरविरोध वे अन्तरविरोध हैं, जो यदि हल नहीं हुए तो वे बहुराष्ट्रीय राज्यों के स्थिर अस्तित्व को असम्भव बना देते हैं। बहुराष्ट्रीय राज्यों की त्रासदी इस बात में निहित है कि इसके द्वारा राष्ट्रों को "समान बनाने" और राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों को "सुरक्षित" करने के सारे प्रयास, वह भी निजी सम्पत्ति और वर्ग असमानता को बचाते हुए, आम तौर पर एक और असफलता में समाप्त होते हैं, राष्ट्रीय टकरावों के और तीखे होने में समाप्त होते हैं।"**
>
> "इतिहास ने बहुराष्ट्रीय बुर्जुआ राज्यों की नियति के बारे में स्तालिन के इस मूल्यांकन को सही सिद्ध किया। ऑस्ट्रो-हंगरी सल्तनत का बिखराव, सामाजिक साम्राज्यवादी सोवियत यूनियन का बिखराव इस रुझान के प्रातिनिधिक उदाहरण हैं।" (सुखविन्दर, 'राष्ट्रीय प्रश्न और मार्क्सवाद')

तो इस तरह सुखविन्दर स्तालिन का 'सुखविन्दरीय' हस्तगतीकरण करते हैं! हम यहाँ नीचे इस लेख का वह पूरा हिस्सा ही उद्धृत कर रहे हैं जिसका एक अंश सुखविन्दर ने बड़ी चालाकी से जानबूझकर पूरे सन्दर्भ से काटकर अपनी उपरोक्त थीसिस के साथ चस्पां कर दिया ताकि वह स्तालिन के मत्थे इस 'पाप' को मढ़ सकें जबकि स्तालिन यहाँ एकदम दूसरी बात कह रहे हैं। इस लेख का नाम है- 'The Immediate task of the Party in the National Question'। यह 10

फरवरी, 1921 को बोल्शेविक पार्टी की दसवीं कांग्रेस में स्तालिन द्वारा पेश की गयी थीसिस है। पाठकों से अनुरोध है कि वह इस नीचे दिए गए उद्धरण को ध्यान से पढ़ें और देखें कि स्तालिन खुद क्या कह रहे हैं और सुखविन्दर उनसे क्या बुलवा रहे हैं-

"1. आधुनिक राष्ट्र एक निश्चित युग के उत्पाद हैं--उभरते हुए पूंजीवाद के युग के। सामन्तवाद के खत्म होने और पूंजीवाद के विकास की प्रक्रिया उसी समय जनगणों के राष्ट्रों में संघटन की प्रक्रिया भी थी। ब्रिटिश, फ्रेंच, जर्मन व इतालवी लोग पूंजीवाद के विजयी विकास और सामन्ती विसंगठन पर विजय के दौर में भी एक राष्ट्र में तब्दील हो गये थे।

"2. जहां राष्ट्रों का गठन केन्द्रीकृत राज्यों के गठन के साथ घटित हुआ, वहां राष्ट्रों ने स्वाभाविक रूप से राज्यों का रूप ले लिया, वे स्वतंत्र बुर्जुआ राष्ट्रीय राज्य के रूप में विकसित हो गये। यही (आयरलैण्ड को छोड़कर) ब्रिटेन में हुआ, फ्रांस और इटली में हुआ। पूर्वी यूरोप में, इसके विपरीत, केन्द्रीकृत राज्यों का गठन आत्मरक्षा की आवश्यकताओं के कारण (तुर्क, मंगोल, आदि के आक्रमण, आदि) त्वरित हो गया और सामन्तवाद के खत्म होने से पहले ही हो गया; इस प्रकार, राष्ट्रों के गठन के पहले ही हो गया। परिणामत:, यहां राष्ट्र राष्ट्रीय राज्य के रूप में विकसित नहीं हुए, नहीं हो पाए; उनके स्थान पर, कई मिश्रित, बहुराष्ट्रीय बुर्जुआ राज्य अस्तित्व में आये, जिसमें आम तौर पर एक शक्तिशाली प्रभुत्वशाली राष्ट्र था और कई कमज़ोर, अधीनस्थ राष्ट्र। उदाहरण: ऑस्ट्रिया, हंगरी, रूस।

"3. फ्रांस और इटली जैसे राष्ट्रीय राज्यों में, जो पहले-पहल अपनी राष्ट्रीय शक्तियों पर निर्भर करते थे, आम तौर पर कहें तो कोई राष्ट्रीय दमन नहीं था। इसके विपरीत, बहुराष्ट्रीय राज्य जो कि एक राष्ट्र के--अधिक सटीकता से कहें तो उस राष्ट्र के शासक वर्ग के--प्रभुत्व पर आधारित थे, जो कि अन्य राष्ट्रों पर कायम किया जाता था, वे राष्ट्रीय दमन और राष्ट्रीय आन्दोलन के मूल और प्रमुख स्थान बने। प्रभुत्वशाली राष्ट्र और अधीनस्थ राष्ट्रों के अन्तरविरोध वे अन्तरविरोध हैं, जो यदि हल नहीं हुए तो वे बहुराष्ट्रीय राज्यों के ***स्थिर अस्तित्व*** *को* असम्भव बना देते हैं। बहुराष्ट्रीय राज्यों की त्रासदी इस बात में निहित है कि इसके द्वारा राष्ट्रों को "समान बनाने" और राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों को "सुरक्षित" करने के सारे प्रयास, वह भी निजी सम्पत्ति और वर्ग असमानता को बचाते हुए, आम तौर पर एक और असफलता में समाप्त होते हैं, राष्ट्रीय टकरावों के और तीखे होने में समाप्त होते हैं।

"4. यूरोप में पूंजीवाद के उत्तरोत्तर विकास ने नये बाज़ारों, कच्चे माल व ईंधन की तलाश और अन्तत: साम्राज्यवाद के विकास और पूंजी के निर्यात और अहम समुद्री व रेलवे मार्गों की आवश्यकता को सुरक्षित करने के लिए एक ओर तो पुराने राष्ट्रीय राज्यों द्वारा नये क्षेत्रों पर कब्ज़ा करने और इस प्रकार उनके बहुराष्ट्रीय (औपनिवेशिक) राज्यों में तब्दील होने की ओर गया, जिसमें राष्ट्रीय दमन और राष्ट्रीय टकराव अन्तर्निहित थे (ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, इटली); दूसरी ओर, ये पुराने बहुराष्ट्रीय राज्यों में प्रभुत्वशाली राष्ट्रों के बीच उनकी पुरानी राज्य सीमाओं को न सिर्फ बनाये रखने, बल्कि उन्हें विस्तारित करने, नयी (कमज़ोर) राष्ट्रीयताओं को पड़ोसी राज्यों की कीमत पर अधीन बनाने के संघर्षों को सघन करने की ओर ले गये। इसने राष्ट्रीय प्रश्न को विस्तारित कर दिया और, **अन्तत:**, **विकास क्रम के पथ ने ही इसे उपनिवेशों के सामान्य प्रश्न से जोड़ दिया**; और राष्ट्रीय दमन एक राज्य के आन्तरिक प्रश्न से राज्यों के बीच का एक प्रश्न बन गया, "महान" साम्राज्यवादी शक्तियों के बीच कमज़ोर, असमान राष्ट्रीयताओं को अधीन बनाने के लिए संघर्ष (और युद्ध) का प्रश्न बन गया।

"5. साम्राज्यवादी युद्ध, जिसने असमाधेय राष्ट्रीय अन्तरविरोधों व बुर्जुआ बहुराष्ट्रीय राज्यों के आन्तरिक दिवालियापन को उजागर कर दिया, ने विजेता औपनिवेशिक राज्यों (ब्रिटेन, फ्रांस, इटली) के अन्दर राष्ट्रीय टकरावों को बेहद तीव्र कर दिया, **हारने वाले पुराने बहुराष्ट्रीय राज्यों (**1917 **में ऑस्ट्रिया**, **हंगरी**, **रूस) को विघटित कर दिया**, नये बुर्जुआ राष्ट्रीय राज्यों का निर्माण किया (पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, यूगोस्लाविया, फिनलैण्ड, जॉर्जिया, आर्मेनिया, आदि)। **लेकिन नये स्वतन्त्र राष्ट्रीय राज्यों के निर्माण ने राष्ट्रीयताओं के शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व को नहीं जन्म दिया और न ही दे सकता था**; **यह राष्ट्रीय असमानता या राष्ट्रीय दमन को न तो समाप्त कर सकता था और न ही इसने किया**, **क्योंकि नये राष्ट्रीय राज्य जो कि निजी सम्पत्ति और वर्ग असमानता पर आधारित थे**, **अस्तित्वमान नहीं रह सकते थे बशर्ते कि:**

"क) वे अपने राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों (पोलैण्ड जो कि बाइलोरूसी, यहूदी, लिथुआनियंस व यूक्रेनियंस, का दमन करता है; जॉर्जिया, जोकि ओसेतियाई, अबखाजियाई व आर्मेनियाई लोगों का दमन करता है; यूगोस्लाविया जो कि क्रोएत्स, बोस्नियाई, आदि का दमन करता है) का दमन करें;

"ख) अपने पड़ोसियों के क्षेत्रों की कीमत पर अपनी सीमाओं को विस्तारित करे, जोकि टकरावों और युद्ध को जन्म देता है (लिथुआनिया, यूक्रेन व रूस के विरुद्ध पोलैण्ड; बुल्गारिया के विरुद्ध यूगोस्लाविया; आर्मेनिया व तुर्की के खिलाफ जॉर्जिया, आदि)

"ग) "महान" साम्राज्यवादी शक्तियों के वित्तीय, आर्थिक व सैन्य प्रभुत्व के समक्ष झुके।

"6. इस प्रकार, युद्धोत्तर काल राष्ट्रीय शत्रुता, असमानता, दमन, टकरावों, युद्ध व साम्राज्यवादी बर्बरता की एक निराशाजनक तस्वीर पेश करता है, जोकि सभ्य देशों के राष्ट्रों द्वारा एक दूसरे के प्रति और साथ ही असमान राष्ट्रों के प्रति की जाती है। एक ओर, कुछ "महान" शक्तियां हैं, जो सभी निर्भर व "स्वतंत्र" (वास्तव में पूरी तरह निर्भर) राष्ट्रीय राज्यों का दमन और शोषण करती हैं, और स्वयं इन शक्तियों के बीच भी राष्ट्रीय राज्यों के शोषण पर इजारेदारी कायम करने के लिए एक संघर्ष मौजूद है। दूसरी ओर, निर्भर व "स्वतंत्र" राष्ट्रीय राज्यों का "महान" शक्तियों द्वारा असह्य दमन के लिए संघर्ष है। अपनी-अपनी राष्ट्रीय सीमाओं को विस्तारित करने के लिए स्वयं राष्ट्रीय राज्यों के बीच एक संघर्ष है। हर राष्ट्रीय राज्य का उन राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों के विरुद्ध भी संघर्ष है, जिनका वे दमन करते हैं। अन्त में उपनिवेशों में "महान" शक्तियों के विरुद्ध मुक्ति आन्दोलन का तीव्र होना है और इन शक्तियों के भीतर और राष्ट्रीय राज्यों के भीतर भी राष्ट्रीय टकरावों का बढ़ना है, **जोकि लगभग हमेशा एक नियम के तौर पर अपने भीतर बहुत से राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों को समेटे होते हैं।**

"ऐसी है "शान्ति की वह तस्वीर" जो साम्राज्यवादी युद्ध ने हमें विरासत में दी है।

"बुर्जुआ समाज राष्ट्रीय प्रश्न का समाधान करने में बुरी तरह से अक्षम सिद्ध हुआ है।"

तो यह है वह पूरा सन्दर्भ जिसे पूरा देने कि बजाय सुखविन्दर बौद्धिक बईमानी करके अपने मूर्खतापूर्ण नतीजों का वैधीकरण स्तालिन से हासिल करके उन्हें सही साबित करने की कोशिश कर रहे हैं जबकि स्तालिन महज़ बहुराष्ट्रीय राज्यों के *बिखर जाने की अनिवार्य नियति* के बारे में दूर-दूर तक कोई चर्चा नहीं कर रहे हैं। यहाँ स्तालिन पूंजीवादी राज्यों के अंतर्गत, चाहे वह एकल राष्ट्रीय-राज्य हों या बहुराष्ट्रीय राज्य, दोनों ही सन्दर्भों में किसी क़िस्म की "राष्ट्रीय शांति" के भ्रामक होने की बात कर रहे हैं। स्तालिन द्वारा पेश इस रिपोर्ट का शीर्षक ही है -- '**पूंजीवादी राज्य और राष्ट्रीय दमन**'। यानी हर प्रकार के पूंजीवादी राष्ट्र में राष्ट्रों या राष्ट्रीयताओं की वास्तविक

बराबरी असंभव है, ***चाहे वे राष्ट्र-राज्य हों या फिर बहुराष्ट्रीय राज्य***; यह केवल समाजवादी राज्य व्यवस्था के अंतर्गत ही मुक्कमल तौर पर संभव है। इतनी बात को सुखविन्दर स्वीकार करते हैं, लेकिन उनकी बातों में यह भी अन्तर्निहित है कि बहुराष्ट्रीय राज्यों के बिखर जाने पर अस्तित्व में आने वाले राज्यों में राष्ट्रीय दमन नहीं होगा, जो कि स्तालिन कह ही नहीं रहे हैं, उल्टे स्तालिन इसके ठीक विपरीत बात कह रहे हैं।

याद रखें, यहां राष्ट्रीय अशान्ति के मूल में दमित राष्ट्रों या राष्ट्रीयताओं की मौजूदगी का सवाल अहम है। यह कतई सम्भव है कि किसी देश में एक ऐसी बुर्जुआजी अस्तित्व में आए जिसका बहुराष्ट्रीय चरित्र हो और जिन राष्ट्रों की बुर्जुआजी को शासक वर्ग में हिस्सेदारी मिल चुकी हो, उन राष्ट्रों का कोई राष्ट्रीय दमन न हो। मुख्यभूमि भारत के बारे में यही बात सच है।

बहरहाल, एकल राष्ट्र-राज्यों के भीतर भी राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों के साथ दमन होता है, जिसकी चर्चा स्तालिन ऊपर करते हैं। सुखविन्दर की कल्पना का राष्ट्रीय शान्ति से ओत-प्रोत राष्ट्रीय राज्य पूंजीवाद के दायरे में कभी अस्तित्व में ही नहीं आया। इसके अलावा, सुखविन्दर पूंजीवाद के प्रारंभिक दौर में अस्तित्व में आये जिन बहुराष्ट्रीय राज्यों जैसे कि ऑस्ट्रिया आदि की तुलना भारत जैसे देशों से कर रहे हैं, वह तुलना ही अर्थहीन है, जैसा कि हमने पहले भी बताया था। पूंजीवाद के उस दौर में अस्तित्व में आये बहुराष्ट्रीय राज्यों की खासियत यह थी कि विशिष्ट ऐतिहासिक कारणों से इन देशों में एक केंद्रीकृत राज्य पहले अस्तित्व में आ गया और इसके अंतर्गत अलग-अलग राष्ट्रों का विकास, जोकि उनकी बुर्जुआजी के पैदा होने के साथ ही संभव था, बाद में हुआ था। इसके बाद वहां तमाम राष्ट्रीयताओं व राष्ट्रों ने अपनी-अपनी मुक्ति के संघर्ष की शुरुआत की। भारत में यूं तो भारत के पूरे भूभाग का एक सांस्कृतिक व राजनीतिक विचार पहले से मौजूद था, लेकिन एक स्पष्ट राष्ट्रीय चेतना का जन्म अंग्रेजों के आने के बाद हुआ, जब कि अंग्रेजों ने एक सीमित पूंजीवादी विकास किया और राष्ट्रीय चेतना पैदा हुई। **लेकिन फर्क यह है कि भारत में जो राष्ट्रीय चेतना थी, वह दो स्तरों पर पैदा हुई: पहला एक सर्वभारतीय राष्ट्रीय चेतना और दूसरा अलग-अलग क्षेत्रों में रहने वाले राष्ट्रों की अपनी क्षेत्रीय राष्ट्रीय चेतना।** एक साझा दुश्मन (ब्रिटिश साम्राज्यवाद) के होने के कारण उसके विरुद्ध एक साझा राष्ट्रीय चेतना भी पैदा हुई। सभी राष्ट्रों ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध *एक साझा राष्ट्रीय आन्दोलन* लड़ा। इसे तथ्यों के साथ दिखलाया जा सकता है कि इस राष्ट्रीय आन्दोलन के नेतृत्व में इन सभी राष्ट्रों की बुर्जुआजी का प्रतिनिधित्व था। यहां हम इस पर विस्तार से चर्चा नहीं कर सकते हैं लेकिन आगे इस पर विस्तार से लिखेंगे। जो पाठक दिलचस्पी रखते हैं वे **अमलेन्दु गुहा** का लेख **'नेशनल क्वेश्चन इन इण्डिया: ए कंसेप्चुअल फ्रेमवर्क'** पढ़ सकते हैं। आज़ादी के बाद के दौर में मुख्यभूमि भारत में राष्ट्रीय प्रश्न मूलत: और मुख्यत: हल हो चुका है और आज यह केवल कश्मीर और उत्तर-पूर्व के सन्दर्भ में मौजूद है।

खैर, इतना स्पष्ट है कि स्तालिन की अवस्थिति को सुखविन्दर विकृत करके पेश कर रहे हैं। स्तालिन ने जिस सन्दर्भ में बात कही है, वह ऊपर के लम्बे उद्धरण में आप देख सकते हैं और आप यह भी देख सकते हैं सुखविन्दर ने उसे किस तरह से तोड़ा-मरोड़ा है। लेकिन हमारे लेखक महोदय को यह सब बताना ज़रूरी नहीं लगा। 'साम-दाम-दंड-भेद' से वह अपनी बेवकूफी-भरी प्रस्थापनाएं और थीसिसों को सही साबित करने के लिए मचल उठे हैं!

ड. सुखविन्दर की अवस्थिति: राष्ट्रीय दमन के विरुद्ध या राष्ट्रवादी?

इसके बाद लेख में एक जगह सुखविन्दर वर्ग और राष्ट्र में फर्क बताते हुए अचानक यह बोल पड़ते हैं-

"एक राष्ट्र का विरोधी वर्गों में तीखा विभाजन और उनके मध्य तीखे टकराव का मतलब यह नहीं है कि एक राष्ट्र का अस्तित्व ही नहीं रहा। एक राष्ट्र के भीतर सख़्त टकराव में व्यस्त परस्पर-विरोधी वर्गों के अस्तित्व का मतलब यह नहीं होता कि एक राष्ट्र के लोगों का एक स्थिर समुदाय के तौर पर कोई अस्तित्व नहीं रहा। **वर्गों के मध्य विरोध भले ही कितने भी तीखे क्यों न हों, राष्ट्र विलुप्त नहीं हो जाता।**" (सुखविन्दर, 'राष्ट्रीय प्रश्न और मार्क्सवाद', प्रतिबद्ध-33, *ज़ोर हमारा*)

सवाल यह है कि एक मार्क्सवादी को अलग से यह जोड़ने की ज़रूरत क्यों पड़ रही है? राष्ट्रीय चेतना (national consciousness) मजदूर वर्ग में *अपने बुर्जुआ वर्ग द्वारा* पहले ही भरी हुई होती है, चाहे वह एक दमित राष्ट्र का ही मजदूर वर्ग क्यों न हो (हम पहले ही स्पष्ट कर दें हम यहाँ पंजाब की बात नहीं कर रहे हैं)। उस पूंजीपति वर्ग द्वारा इस कौमी भावना को हर-हमेशा मजदूर आन्दोलन के बरक्स बटखरे की तरह रखा जाता है। लेनिन राष्ट्रवाद के प्रति, चाहे वह दमनकारी कौम का हो या फिर दमित कौम का हो, मजदूर-वर्गीय नज़रिए को बेहद द्वंद्वात्मक तरीके से इस प्रकार समझाते हैं:

"मज़दूरों के लिए महत्वपूर्ण बात दोनों प्रवृत्तियों के ***सिद्धान्तों*** के बीच अन्तर करना है। **जहां तक उत्पीडित राष्ट्र का पूंजीपति वर्ग उत्पीड़क राष्ट्र के पूंजीपति वर्ग के खिलाफ लड़ता है, वहां तक हम हमेशा, हर सूरत में, और किसी की भी अपेक्षा अधिक दृढ़ता के साथ उसके पक्ष में हैं, क्योंकि हम उत्पीड़न के सबसे कट्टर और सबसे पक्के दुश्मन हैं। परन्तु जहां उत्पीडित राष्ट्र का पूंजीपति वर्ग अपने ही पूंजीवादी राष्ट्रवाद के लिए लड़ता है, वहां हम उसके खिलाफ हैं। हम उत्पीड़क राष्ट्र के विशेषाधिकारों तथा उसकी हिंसा के खिलाफ लड़ते हैं और उत्पीड़ित राष्ट्र द्वारा विशेषाधिकार प्राप्त करने की कोशिशों को किसी भी प्रकार क्षम्य नहीं समझते।**" (लेनिन, 1981, 'जातियों का आत्मनिर्णय का अधिकार' प्रगति प्रकाशन, मॉस्को, पृ. 25)

एक अन्य स्थान पर लेनिन डच सामाजिक जनवादी हरमन गॉर्टर की अंतर्राष्ट्रीयतावादी स्पिरिट की प्रशंसा करते हुए यह लिखते हैं:

"गॉर्टर **स्वयं अपने** देश के आत्मनिर्णय के खिलाफ है, परन्तु "अपने" राष्ट्र द्वारा उत्पीडित डच इण्डीज़ के आत्मनिर्णय **के हक में** हैं। यह क्या कोई ताज्जुब की बात है कि हमारी नज़र में वह उन लोगों के मुकाबले ज्यादा ईमानदार अन्तरराष्ट्रीयतावादी हैं और हमारे ज्यादा नज़दीकी सहचिन्तक हैं, जो आत्मनिर्णय को **उस प्रकार**--कोरे शब्दों में, पाखण्डपूर्ण रूप से--मानते हैं जैसे जर्मनी में काउत्स्की और रूस में त्रॉत्स्की तथा मार्तोव मानते हैं?" (लेनिन, 1983, *आत्मनिर्णय सम्बन्धी बहस के परिणाम*, **संकलित रचनाएं (दस खण्डों में) खण्ड-6**, प्रगति प्रकाशन, मॉस्को, पृ. 117)

यह है सही लेनिनवादी दृष्टिकोण। और एक है इस प्रश्न पर सुखविन्दर का नजरिया! जब आप अलग से कोई बात रेखांकित करते हैं तो ज़ाहिरा तौर पर उसके कुछ निहितार्थ होते है। कोई यूँ ही कुछ भी नहीं बोलता है। किसी ने भी पंजाबी कौम के वजूद पर कोई सवाल खड़ा नहीं किया था, जो आप अश्रुपूरित नयनों के साथ हमें याद दिला रहे हैं कि 'कौम का वजूद जिन्दा है।' सवाल यह था कि जिस कौम पर बहस को रही है, वह दमित है या नहीं, और यदि है तो किन पैमानों पर दमित है। इसमें इतना जज्बाती होने की क्या जरूरत है?

अगर आप पंजाबी मजदूर वर्ग के बीच कौमी भावनाएं जगाना चाह रहे हैं तो बेवजह तकलीफ उठा रहे हैं, यह काम पंजाबी बुर्जुआजी आपसे बहुत पहले से ही और आपसे बेहतर तरीके से अंजाम दे रही है! इस प्रतिस्पर्धा

में आप उससे जीत नहीं पायेंगे बस होगा यह कि आप फुदकते-फुदकते जाकर उसकी गोद में बैठ जाएंगे। और अगर पंजाबी मजदूर वर्ग में यह भावना विलुप्त हो चुकी है तो आप इस प्रगतिशील क़दम का स्वागत करने की बजाय उसे राष्ट्रवादी बनाने पर क्यों तुले हुए हैं? राष्ट्रीय दमन के विरुद्ध लड़ने के लिए मज़दूर वर्ग को राष्ट्रवादी बनाना या उसमें कौमी जज्बात पैदा करना आवश्यक नहीं होता है। सर्वहारा वर्ग राष्ट्रीय दमन के विरुद्ध भी अन्तरराष्ट्रीयतावादी अप्रोच के साथ लड़ता है। पाठक खुद देख लें कि लेखक की यह अवस्थिति मार्क्सवादी-लेनिनवादी दृष्टिकोण के कितनी अनुकूल है।

सुखविन्दर का राजनीतिक निर्वाण यही है: **बुर्जुआ कौमवाद के गड्ढे में गिरना। यह 'प्रतिबद्ध' के नये अंक के इस लेख से निस्सन्देह स्पष्ट हो गया है।**

(iii) तो फिर राष्ट्रीय दमन होता क्या है?

राष्ट्रीय दमन की परिभाषा वास्तव में राष्ट्र और जनता के बीच के फर्क से ही स्पष्ट हो जाती है। राष्ट्र का अर्थ ही होता है एक ऐसी आबादी जिसमें पूंजीवादी विकास हो चुका है और बुर्जुआजी पैदा हो चुकी है। यदि जनता का ही दमन हो रहा है, लेकिन बुर्जुआजी का नहीं, तो सीधा प्रश्न यह बनता है कि उसकी बुर्जुआजी की इस दमन पर अवस्थिति क्या है? या तो वह दलाल बुर्जुआजी है, जो कि राष्ट्रीय दमन करने वाले दमनकारी कौम या कौमों के शासक वर्ग के मातहत हो चुकी है, राजनीतिक रूप से स्वतन्त्र नहीं है और इसलिए 'राष्ट्रीय' नहीं है। या फिर वह बुर्जुआजी स्वयं दमित है।

वह इस दमन का कितनी आमूलगामिता से विरोध कर सकती है और राष्ट्रीय मुक्ति की लड़ाई को लड़ सकती है, इससे उसके दमित होने या न होने के तथ्य का कोई रिश्ता नहीं है। दरअसल, आम तौर पर भी और विशेष तौर पर साम्राज्यवाद के युग में राष्ट्रीय बुर्जुआजी किसी भी दमित राष्ट्र की राष्ट्रीय मुक्ति की लड़ाई में हमेशा ढुलमुल रवैया रखती है। यही वजह है कि लेनिन ने राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति और मुक्ति की लड़ाई के नेतृत्व को भी अपने हाथ में लेने के लिए सर्वहारा वर्ग का आह्वान किया और कहा कि *सामान्य जनवादी प्रक्रिया (general democratic process)* को पूरा करना साम्राज्यवाद के युग में *बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति* के फ्रेमवर्क के भीतर आम तौर पर सम्भव नहीं रह गया है और इस कार्यभार को बुर्जुआ वर्ग के नेतृत्व में पूरा करना अब मुश्किल है। इसी के आधार पर लेनिन ने जनता की जनवादी क्रान्ति का सिद्धान्त दिया जो कि मज़दूर वर्ग, किसान वर्ग, छोटे पूंजीपति वर्ग और राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग के सबसे आमूलगामी व क्रान्तिकारी तत्वों के साथ मोर्चा बनाकर सम्पन्न की जायेगी।

यानी, यदि कोई कौम दमित है तो उसकी बुर्जुआजी के दमन के बिना यह कौमी दमन सम्भव ही नहीं है। ऐसा नहीं हो सकता है कि किसी दमित कौम की बुर्जुआजी राजनीतिक रूप से स्वतन्त्र हो, न तो उसका कोई हिस्सा दलाल हो और न ही वह दमित हो। तीसरा विकल्प यह है कि वह बुर्जुआजी स्वयं शासक वर्ग का हिस्सा बन चुकी है। लेकिन ऐसी स्थिति में वह कौम दमित नहीं रह जाती है क्योंकि फिर आपको कहना पड़ेगा कि वह कौम स्वयं अपना दमन कर रही है! जो कि किसी भी पैमाने से एक बेतुकी बात होगी। सारी दुनिया के माओवादी इस बुनियादी मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धान्त को समझते हैं। आइये कुछ प्रातिनिधिक उदाहरण देखते हैं।

ठीक ऐसी ही एक बहस कनाडा में क्यूबेक के दमित राष्ट्र होने या न होने को लेकर वहां के माओवादी संगठनों में चली जो इसी नतीजे पर पहुंची की चूंकि क्यूबेक की बुर्जुआजी दमित नहीं है और उसे कनाडा के शासक वर्ग में हिस्सेदारी प्राप्त हो

चुकी है, इसलिए क्यूबेक की कौम भी दमित कौम नहीं है। उस बहस के एक दस्तावेज़ के एक अंश पर पर निगाह डालते हैं:

> "क्यूबेक राष्ट्रीय प्रश्न पर एक से ज्यादा अवस्थितियां हैं। साथ ही हितों के भी कई समुच्चय हैं जिनकी हिफाजत की जानी है। क्यूबेक बुर्जुआजी अपने हितों की स्वयं रक्षा करती है; कनाडा की बुर्जुआजी के अलग-अलग हिस्से भी ऐसा करते हैं। हम आम तौर पर यह सुनते हैं कि क्यूबेक राष्ट्रीय प्रश्न इन्हीं हितों से सम्बन्ध रखता है। यही वह चीज़ है जो यहां बहसतलब है और पिछले 30 वर्षों से इस विषय पर हो रहे विवाद की प्रकृति की व्याख्या करता है।
>
> **"अपने राजनीतिक व आर्थिक विकास को अपने ही उपकरणों से निर्धारित करने वाली क्यूबेक बुर्जुआजी का अस्तित्व--जो एक "शक्तिशाली" राज्य को भी अपने में शामिल करती है--साफ तौर पर दिखलाता है कि एक राष्ट्र के तौर पर क्यूबेक ऐसे किसी भी दमन का शिकार नहीं है, जोकि इसके अपने विकास को रोकता हो और फिर इस बात को वैध ठहराता हो--जैसा कि कुछ लोग अभी भी हमें भरोसा दिलाना चाहते हैं--कि इस प्रान्त में राजनीतिक स्वतंत्रता हासिल करने के लिए कोई *राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष* हो जिसमें सभी वर्ग शामिल हों।"**

कनाडा की माओवादी पार्टी 'रिवोल्यूशनरी कम्युनिस्ट पार्टी, कनाडा' यह पूरा दस्तावेज़ निम्न लिंक पर पढ़ा जा सकता है:

(http://www.pcr-rcp.ca/en/archives/114)

और ऐसी ही बहस स्कॉटिश बुर्जुआजी को लेकर भी मार्क्सवादियों-लेनिनवादियों में ब्रिटेन में चल चुकी है, जो कि इसी नतीजे पर पहुंची कि **स्काटलैण्ड कोई दमित राष्ट्र नहीं है, *क्योंकि* उसकी बुर्जुआजी दमित नहीं है और उसे सत्ता में हिस्सेदारी प्राप्त हो चुकी है।** इनके दस्तावेज़ को इस लिंक पर पढ़ा जा सकता है:

(https://archive.cpgb-ml.org/index.php?secName=proletarian&subName=display&art=1079)

उपरोक्त दोनों ही मामलों में क्रमश: कनाडा व ब्रिटेन के मार्क्सवादी-लेनिनवादी कॉमरेडों ने बिल्कुल सही अवस्थिति अपनाई है। बिना बुर्जुआ वर्ग के दमन के कौमी दमन की अवधारणा ही अनावश्यक हो जाती है। ये तो सिर्फ दो मिसालें हैं। पूरी दुनिया में ही मार्क्सवादी-लेनिनवादी और माओवादी संगठन व पार्टियां मार्क्सवाद के इस बुनियादी सिद्धान्त को मानते हैं।

यह सुखविन्दर ही हैं जो अपनी ही जगहंसाई करने के दृढ़संकल्प के साथ नये सिद्धान्त-प्रतिपादन पर पिल पड़े हैं। इस जिद के पीछे दरअसल एक कौमवादी सोच है जिसे हम इस लेख में और आगे भी विस्तार से दिखलाएंगे।

राष्ट्रीय दमन का अर्थ है जब किसी राष्ट्र को उसकी इच्छा के विपरीत, यानी ज़बरन, किसी राज्य की सीमा में रखा जाय। जाहिर है, यह कौम की बुर्जुआजी के दमन के बगैर मुमकिन नहीं है। यह किसी ऐसी कौम के साथ हो सकता है, जिसकी क्षेत्रीय सीमा दमनकारी कौम/कौमों के राज्य के साथ लगी हुई (जैसे कि आयरलैण्ड, या हमारे देश में कश्मीर और उत्तर-पूर्व के राज्य) या फिर सात समन्दर दूर हों, जैसा कि हमारे द्वारा ऊपर पेश उद्धरणों में लेनिन व स्तालिन दोनों ने ही दिखलाया है। लेनिन ने 'आत्मनिर्णय सम्बन्धी बहस के परिणाम' लेख में एक अलग उपशीर्षक इसी बात को समझाने के लिए लिखा है, जिसमें उन्होंने बताया है कि इस मामले में हम यूरोप और एशिया, अफ्रीका आदि में कोई अन्तर नहीं कर सकते, जिस पर हम ऊपर बात कर चुके हैं। **उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध और बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में आयरलैण्ड हो, पोलैण्ड हो, चेक राष्ट्र हो, या फिर एशिया व अफ्रीका के ब्रिटिश या फ्रेंच उपनिवेश हों, वे**

उपनिवेश/कब्ज़ा ही माने जाएंगे और *जहां तक राष्ट्रीय दमन का सवाल है*, वे दमित राष्ट्र ही हैं और उनके राष्ट्रीय प्रश्न के समाधान का केवल एक ही रास्ता है: राष्ट्रीय आत्मनिर्णय का अधिकार। और राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के अधिकार का एक ही अर्थ है: राजनीतिक आत्मनिर्णय, यानी अलग होने का अधिकार। इस अधिकार पर अमल करते हुए यदि कई राष्ट्र मिलकर कोई संघ बनाना चाहें, यूनियन बनाना चाहें, राष्ट्रीय स्वायत्तता की व्यवस्था चाहें, अलग होना चाहें, तो यह उनकी मर्जी है। कम्युनिस्टों का पहला काम है कि वे बिना किसी शर्त राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के अधिकार का समर्थन करें, चाहें वे उन राष्ट्रों को दमित मानते हों या नहीं। फिर याद दिला दें, हम यहां राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों की बात नहीं कर रहे हैं, जिनकी कोई टेरिटोरियैलिटी नहीं होती है। उनके लिए कम्युनिस्ट कार्यक्रम एक सुसंगत जनवाद के लिए संघर्ष का कार्यक्रम होता है। जो साथी इस बात को समझना चाहते हैं वे लेनिन द्वारा तैयार 'बिल ऑन दि इक्वालिटी ऑफ नेशंस' (1914) तथा 'नेशनल इक्वालिटी बिल' (1914) के मसौदा पढ़ लें, जिससे कि आपको यह फर्क स्पष्ट हो जायेगा।

दूसरी बात यह कि *अलग होने के अधिकार का समर्थन* करना और *अलग होने का समर्थन* करना दो अलग चीज़ें हैं। हम अलग होने के अधिकार का समर्थन करते हुए, अलग होने के विरोध में जनता के बीच प्रचार कर सकते हैं। लेनिन ने इस अन्तर को बार-बार और बहुत-सी जगह स्पष्ट किया है।

> "राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के अधिकार का अर्थ अनन्य रूप से राजनीतिक अर्थ में स्वतन्त्रता का, उत्पीड़नकारी राष्ट्र से मुक्त राजनीतिक पृथकता का अधिकार है। **ठोस रूप में, राजनीतिक जनवाद की इस मांग का अर्थ है पृथकता के लिए आन्दोलन करने की पूर्ण स्वतन्त्रता तथा पृथक होने वाले राष्ट्र के जनमत संग्रह द्वारा पृथकता के प्रश्न का निर्णय। इसलिए यह मांग पृथकता की, राज्य के टुकड़े-टुकड़े करने की तथा छोटे राज्यों के गठन की मांग के बराबर कदापि नहीं है। वह सब तरह के राष्ट्रीय उत्पीड़न के विरुद्ध संघर्ष की मात्र सुसंगत अभिव्यक्ति है।** कोई जनवादी राज्य प्रणाली पृथकता की पूर्ण स्वतंत्रता के जितने समीप होगी, पृथक होने की कामना व्यवहार में उतनी ही विरल और उतनी ही क्षीण होगी, इसलिए कि बड़े राज्यों के लाभ आर्थिक प्रगति के दृष्टिकोण से तथा जनसाधारण के हितों के दृष्टिकोण से अकाट्य होते हैं, इसके अलावा, वे पूंजीवाद के साथ बढ़ते जाते हैं। आत्मनिर्णय की मान्यता सिद्धान्त के रूप में संघ की मान्यता का पर्याय नहीं है। कोई इस सिद्धान्त का कट्टर विरोधी और जनवादी केन्द्रीयतावाद का पक्षधर हो सकता है, परन्तु इसके बावजूद वह पूर्ण जनवादी केन्द्रीयतावाद की ओर एकमात्र मार्ग के रूप में संघ को राष्ट्रों की असमानता पर तरजीह दे सकता है। ठीक इसी दृष्टिकोण से मार्क्स ने जो केन्द्रीयतावादी थे, आयरलैण्ड तथा इंग्लैण्ड के संघ तक को आयरलैण्ड को अंग्रेजों के ज़बरन मातहत रखे जाने पर तरजीह दी।" (लेनिन, 1983, *समाजवादी क्रान्ति और जातियों के आत्मनिर्णय का अधिकार*, **संकलित रचनाएं (दस खण्डों में) खण्ड-6**, प्रगति प्रकाशन, मॉस्को, पृ. 40-41)

और देखें लेनिन क्या कहते हैं:

> "हर राष्ट्र के सिलसिले में उसके अलग हो जाने के प्रश्न का उत्तर "हां" या "नहीं" में देने की मांग बहुत "व्यावहारिक" प्रतीत हो सकती है। वास्तव में यह बिल्कुल बेतुकी मांग है, सिद्धान्त की दृष्टि से यह अधिभूतवादी है और व्यवहार में यह सर्वहारा वर्ग को पूंजीपति वर्ग की नीति के अधीनस्थ करती है। पूंजीपति वर्ग अपनी राष्ट्रीय मांगों को सर्वदा सर्वोपरि स्थान देता है और ऐसा बिना किसी शर्त के करता है। परन्तु सर्वहारा वर्ग के लिए ये मांगें वर्ग संघर्ष के हितों के अधीन होती हैं। सिद्धान्तत: पहले से यह बात दावे के साथ कहना असम्भव होता है

कि किसी राष्ट्र के दूसरे राष्ट्र से अलग हो जाने से या उसके बराबर अधिकार प्राप्त कर लेने से पूंजीवादी जनवादी क्रान्ति पूरी हो जायेगी; **दोनों ही सूरतों में**, सर्वहारा वर्ग के लिए महत्वपूर्ण बात यह है कि वह अपने वर्ग के विकास को सुनिश्चित बनाए। पूंजीपति वर्ग के लिए महत्वपूर्ण बात यह है कि वह "अपने" राष्ट्र के उद्देश्यों को सर्वहारा के उद्देश्यों से आगे ठेलकर इस विकास में बाधा डाले। यही कारण है कि किसी राष्ट्र को कोई गारण्टी दिये बिना, किसी अन्य राष्ट्र के **हितों की कीमत पर** कुछ देने की हामी भरे बिना, सर्वहारा वर्ग, कहना चाहिए, अपने आपको आत्मनिर्णय के **अधिकार** को स्वीकार करने की नकारात्मक मांग तक ही सीमित रखता है।" (लेनिन, 1981, **जातियों का आत्मनिर्णय का अधिकार**, प्रगति प्रकाशन, मॉस्को, पृ-23)

लेनिन आगे लिखते हैं:

"सर्वहारा वर्ग इस प्रकार की व्यावहारिकता के खिलाफ है। राष्ट्रों की बराबरी तथा राष्ट्रीय राज्य को स्थापित करने के उनके समान अधिकारों को स्वीकार करते हुए भी वह सभी राष्ट्रों के सर्वहारा गण की एकता को सबसे मूल्यवान समझता है, उसे सबसे ऊंचा स्थान देता है और हर राष्ट्रीय मांग का, हर राष्ट्रीय सम्बन्ध-विच्छेद का मूल्यांकन मज़दूरों के वर्ग संघर्ष **दृष्टिकोण से** करता है। व्यावहारिकता का यह आह्वान पूंजीवादी आकांक्षाओं को बिना सोचे-समझे मान लेने के आह्वान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।" (वही, पृ. 24)

लेनिन एक अन्य रचना में लिखते हैं:

"जिन लोगों ने इस प्रश्न पर अच्छी तरह विचार नहीं किया है, वे सोचते हैं कि उत्पीड़क राष्ट्रों के सामाजिक-जनवादियों के लिए "**अलगाव** की स्वतंत्रता" का आग्रह करना और साथ ही उत्पीडित राष्ट्रों के सामाजिक-जनवादियों के लिए "**एकीकरण** की स्वतन्त्रता" का आग्रह करना "अन्तरविरोधपूर्ण" है। मगर मामूली तौर से भी ग़ौर किया जाय, तो यह ज़ाहिर हो जायेगा कि परिस्थिति **विशेष** से अन्तरराष्ट्रीयतावाद तथा राष्ट्रों के एकीकरण की दिशा में **अन्य कोई** मार्ग इस लक्ष्य की दिशा में न है और न ही हो सकता है।"

(लेनिन, 1983, *आत्मनिर्णय सम्बन्धी बहस के परिणाम*, **संकलित रचनाएं (दस खण्डों में) खण्ड-6**, प्रगति प्रकाशन, मॉस्को, पृ. 115)

इसलिए लेनिन ने 1916 में पोलैण्ड के कम्युनिस्टों को सलाह दी कि वे पोलैण्ड के अलग न होने के पक्ष में प्रचार करें, लेकिन इसका यह अर्थ निकालने की उन्होंने मनाही की कि पोलैण्ड के *अलग होने के अधिकार* का समर्थन न किया जाय। इसी प्रकार हाल ही में कैटालोनिया के तमाम माओवादियों ने कैटालोनिया के अलग न होने का समर्थन करते हुए भी उसके अलग होने के अधिकार के समर्थन के तौर पर अलग होने या न होने के प्रश्न पर रेफरेण्डम का समर्थन किया, हालांकि उसने स्पष्ट बताया कि वह अलग होने के पक्ष में नहीं है और वह इस रेफरेण्डम में 'नो' वोट करेगा। यही बात स्कॉटलैण्ड पर भी लागू होती है। **हम किसी भी कौम के अलग होने के *अधिकार* का समर्थन करने को एक सार्वभौमिक सिद्धान्त मानते हैं, लेकिन किन मामलों में अलग होने का समर्थन करना है और किन मामलों में विरोध, यह देश के अन्दर की और साथ ही अन्तरराष्ट्रीय परिस्थितियों के मूल्यांकन पर निर्भर करता है।** सुखविन्दर इन दोनों के बीच के अन्तर को नहीं समझते हैं। इसलिए यह देखना दिलचस्प होगा कि पंजाब को वह किस प्रकार दमित राष्ट्र दिखलाते हैं और फिर उसके लिए क्या कार्यक्रम पेश करते हैं।

क्योंकि यदि पंजाब दमित राष्ट्र है, तो सुखविन्दर को न सिर्फ उसके आत्मनिर्णय के अधिकार का समर्थन करना चाहिए, बल्कि उन्हें उसके अलग होने का भी समर्थन करना चाहिए, क्योंकि आज राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय दोनों ही

परिस्थितियों पर निगाह डालें, तो इससे सर्वहारा वर्ग का कोई नुकसान नहीं है। पोलैण्ड के अलग होने का समर्थन न करने का प्रचार करने का सुझाव लेनिन ने पोलिश सामाजिक-जनवादियों को इसलिए दिया था, क्योंकि वह राष्ट्रीय मुक्ति युद्ध (जिसका लेनिन समर्थन करते हैं) की बजाय साम्राज्यवादी युद्ध (जिसका लेनिन समर्थन नहीं करते) की ओर ले जाता और इसमें जर्मन, रूसी, पोलिश तीनों ही सर्वहारा वर्गों की हानि होती, और इसीलिए ***फिलहाल*** लेनिन ने अलग न होने का प्रचार करने की हिमायत की, हालांकि तब भी वह *अलग होने के अधिकार* का बिना शर्त समर्थन कर रहे थे और ऐसा न करने के लिए पोलिश सामाजिक-जनवादियों की आलोचना कर रहे थे।

लेकिन *पंजाब अगर दमित कौम है* और वह अलग होता है, तो इससे कोई साम्राज्यवादी युद्ध नहीं छिड़ने वाला है और आन्तरिक तौर पर भी पंजाब के दमन को खत्म करने की लड़ाई का समर्थन करके ही पंजाबी व बाकी कौमों के सर्वहारा वर्ग के बीच एकता कायम की जा सकती है और भारतीय राज्यसत्ता के विरुद्ध समाजवादी क्रान्ति की लड़ाई को भी आगे बढ़ाया जा सकता है, क्योंकि कौमी दमन ही इस एकता को कमज़ोर करता है। तो *यदि पंजाब दमित राष्ट्र है, तो सुखविन्दर को इसके अलग होने के अधिकार का ही नहीं बल्कि मौजूदा परिस्थिति में उसके अलग होने का भी समर्थन व प्रचार करना चाहिए, न कि फेडरेशन मांगने का, जो कि वैसे भी गलत है और पूंजीवाद के तहत ऐसी मांग भी करना कम्युनिस्टों के लिए ऑस्ट्रो-मार्क्सवादी सुधारवाद के गड्ढे में गिरने के समान है। साथ ही, मूल राजनीतिक मांग क्षेत्रीय स्वायत्तता की भी नहीं हो सकती है। वह मांग तब जायज़ हो सकती है, जब सभी कौमें जो कि एक साझे राज्य के अन्तर्गत बिना राष्ट्रीय दमन के किसी भी रूप के, एक साथ रहने का निर्णय करती हैं। उस सूरत में हमारी राजनीतिक मांग क्षेत्रीय स्वायत्तता (अक्षेत्रीय सांस्कृतिक स्वायत्तता के विपरीत) होती है। इसलिए यदि पंजाबी कौम दमित है तो एक ही मांग राजनीतिक तौर पर सही है: अलग होने का अधिकार और इस मामले में तो कम्युनिस्ट अलग होने के अधिकार का ही नहीं बल्कि अलग होने का भी समर्थन करेंगे, क्योंकि राष्ट्रीय व अन्तरराष्ट्रीय परिस्थितियां इसके लिए बिल्कुल अनुकूल हैं। यह सारी बातें हम एक क्षण के लिए यह मानकर कर रहे हैं कि पंजाबी कौम दमित है, जैसा कि सुखविन्दर कह रहे हैं। वास्तव में, हम पंजाबी कौम को दमित कौम नहीं मानते हैं।* इसलिए हम बेसब्री से इन्तज़ार कर रहे हैं कि पंजाब में राष्ट्रीय दमन और उसके समाधान के प्रश्न पर सुखविन्दर कब और क्या लिखते हैं।

- **तो सुखविन्दर के अनुसार पंजाब की बुर्जुआजी दलाल भी नहीं है और दमित भी नहीं; लेकिन पंजाबी कौम दमित कौम है; तो यह पंजाबी बुर्जुआजी इस कौमी दमन पर क्या रागिणी गा रही है? वह कर क्या रही है? उसकी अवस्थिति क्या है? क्या वह इस दमन की भागीदार है? लेकिन तब तो मतलब यह निकला कि पंजाबी कौम अपना दमन स्वयं कर रही है! भारतीय शासक वर्ग है कौन, इसका कम्पोजीशन क्या है, उसमें पंजाबी बुर्जुआजी का क्या स्थान है? ये वे सवाल हैं, जो सुखविन्दर कभी पूछते ही नहीं क्योंकि उनके मूर्खतापूर्ण तर्कों का झोपड़ा, ये सवाल पूछते ही भरभरा कर गिर जाता है।**

लुब्बेलुबाब यह कि सुखविन्दर ने राष्ट्रीय प्रश्न, राष्ट्रीय दमन पर लेख लिखने का काम तो कर दिया, लेकिन उन्होंने इस प्रक्रिया में यह दिखलाया कि उन्हें मार्क्सवाद और राष्ट्रीय प्रश्न पर बुनियादी रचनाओं का गम्भीरता से अध्ययन करने की सख्त ज़रूरत है। 107 पेज में 85 पेज उद्धरण भरकर वह अपनी बात को सही दिखलाने की कोशिश कर रहे हैं, लेकिन हम दिखला चुके हैं कि किस प्रकार वह अपने ही द्वारा पेश उद्धरणों के सन्दर्भों को नहीं समझते, उनके मतलब को नहीं समझते या फिर अपने राष्ट्रवादी भटकाव को छिपाने के लिए जानबूझकर उन्हें सन्दर्भों से काटते हैं और उनकी गलत व्याख्या करते हैं।

3. सुखविन्दर का त्रॉत्स्कीपंथ में पतन

हमने ऊपर इस बात की चर्चा की थी कि किस तरह सुखविन्दर अपनी इस प्रस्थापना कि "बिना दमित बुर्जुआज़ी के दमित राष्ट्र हो सकता है" को साबित करने के लिए एड़ी-चोटी का जोर लगाते हैं और इसके लिए बौद्धिक बेईमानी तक पर उतर आते हैं; फ्रान्ज़ मेहरिंग से लेकर लेनिन तक को 'मिसरिप्रेसेन्ट' करते हैं, उनके उद्धरणों की गलत व्याख्या करते हैं और अपने द्वारा निकाले गए मूर्खतापूर्ण निष्कर्षों को उनके मुंह में डालने का बेजा प्रयास करते हैं। सुखविन्दर पोलैंड का उदाहरण देते वक़्त फिर अपनी एक अन्य नव-आविष्कृत प्रस्थापना पेश करते हैं और इसके लिए एक बार फिर वह लेनिन से लेकर स्तालिन तक के उद्धरणों की सन्दर्भों से काटकर व्याख्या करते हैं और अब इस बार उनका त्रॉत्स्कीपंथी हस्तगतीकरण (appropriation) करते हैं।

आइये अब देखते हैं कि सुखविन्दर इस बार किस तरह के बौद्धिक करतब दिखा रहे हैं। *सुखविन्दर दरअसल लेनिन और स्तालिन से प्राधिकार हासिल करके अपनी इस नयी प्रस्थापना को सही साबित करना चाहते है कि किसी दमित राष्ट्र में भी मजदूर वर्ग के नेतृत्त्व में सीधे समाजवादी क्रांति करके भी राष्ट्रीय प्रश्न को हल किया जा सकता है और किसी तरह की जनवादी क्रांति के चक्कर में पड़ने की कोई ज़रुरत ही नहीं है।*

पाठक सोच रहा होगा कि हमारे लेखक महोदय भला ऐसा क्यों कर रहे हैं? वह इसलिए कि पिछले लम्बे समय से सुखविन्दर पंजाब के भीतर तमाम क्रांतिकारी ग्रुपों से इस चीज़ को लेकर बहस चला रहे थे कि पंजाब में सामन्ती सम्बन्ध ख़त्म हो चुके हैं, पूँजीवादी विकास हो चुका है और इसलिए अब वहाँ किसी प्रकार की जनवादी क्रांति की नहीं बल्कि समाजवादी क्रांति की मंजिल है। लेकिन अब सुखविन्दर ने पंजाब को दमित राष्ट्र घोषित कर दिया है! अब अगर वह बोलेंगे कि पंजाब में राष्ट्रीय प्रश्न हल नहीं है और पंजाब राष्ट्रीय तौर पर दमित है, तो क्लासिकीय मार्क्सवादी-लेनिनवादी-माओवादी थीसिस के अनुसार उन्हें यह मानना होगा कि तात्कालिक कार्यभार राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति है, चाहें इसके सम्पन्न होने के तुरन्त बाद ही समाजवादी क्रान्ति की मंजिल आ जाय (क्योंकि सामन्ती उत्पादन सम्बन्ध समाप्त हो चुके हैं)। लेकिन दशक भर से ज्यादा समय से पंजाब में इस सवाल पर बहस चलाने वाले सुखविन्दर यह कैसे कहें कि पंजाब राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति की मंजिल में है? पंजाबी दमित राष्ट्र में, उनके पूंजीवादी विकास की पुरानी थीसिस के कारण, उन्हें कोई दमित बुर्जुआ वर्ग मिल नहीं पा रहा है (क्योंकि वह है ही नहीं)! न ही वह यह कह सकते हैं कि पंजाब राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति की मंजिल में है। लेकिन साथ ही उन्होंने पंजाब के राष्ट्रीय दमन के खात्मे का बीड़ा भी अपने कन्धों पर उठा लिया है! तो अब सुखविन्दर क्या करें? इस राजनीतिक संकट से निपटने के लिए उन्होंने एक नायाब तरीका निकाला है: उन्होंने सीधे त्रॉत्स्कीपंथ के गड्ढे में छलांग लगा दी है। लेकिन वह ऐसा बोल भी नहीं सकते कि वह त्रात्स्कीपंथी कार्यदिशा यानी 'स्थायी क्रान्ति' के सिद्धान्त पर चले गये हैं! तो अब सुखविन्दर क्या करें? इस उलझती जा रही समस्या के लिए उन्होंने यह रास्ता निकाला है कि लेनिन और स्तालिन को ही त्रॉत्स्कीपंथी बना दिया जाय! इसलिए 'कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा, सुखविन्दर जी ने कुनबा जोड़ा' पर शब्दशः अनुसरण करते हुए उन्होंने अपनी 'समाजवादी क्रांति द्वारा राष्ट्रीय प्रश्न के समाधान' की त्रॉत्स्कीपंथी थीसिस से इस अंतरविरोध को हल करने का नुस्खा ढूंढ निकाला है और इसके लिए वह लेनिन व स्तालिन का त्रॉत्स्कीपंथी हस्तगतीकरण करने से भी नहीं हिचकिचाए हैं!

यह 'सुखविन्दरीय' सिद्धांत-प्रतिपादन कितना बेतुका और मजाकिया है, यह तो हम आगे दिखलायेंगे ही, साथ ही हम सन्दर्भों और उद्धरणों सहित यह भी दिखलायेंगे कि कैसे सुखविन्दर लेनिन और स्तालिन को एक बार फिर 'मिसरिप्रेसेन्ट' करने से बाज़ नहीं आते हैं और इस बार विशेषकर लेनिन को सन्दर्भों से काटकर उन्हें एक अकर्मक-निठल्ले त्रॉत्स्कीपंथी में तब्दील करने पर उतारू हैं। **वैसे सुखविन्दर अपने लेख में हम पर आरोप लगा रहे थे कि हम समाजवादी क्रांति तक राष्ट्रीय प्रश्न को टालने की वकालत करते हैं। लेकिन यहाँ तो मामला ही उल्टा निकला! वह स्वयं राष्ट्रीय प्रश्न को सीधे समाजवादी क्रान्ति द्वारा हल करने का रास्ता सुझा रहे हैं! इस मुद्दे पर बाद में आयेंगे, पहले सुखविन्दर के ही मुंह से सुन लेते हैं कि उनकी यह नयी थीसिस है क्या।**

सुखविन्दर लिखते हैं-

> "एक बहुराष्ट्रीय देश में ज़रूरी नहीं है कि उस राष्ट्र की मुक्ति किसी भी तरह की जनवादी क्रान्ति के ज़रिये ही हो। यह दमित राष्ट्र के सर्वहारा द्वारा दमनकारी राष्ट्र के सर्वहारा के साथ मिलकर सामाजिक क्रान्ति (जिसका मतलब समाजवादी क्रान्ति ही हो सकती है) के ज़रिये भी हो सकती है। अपने देश या राष्ट्र की आज़ादी के संघर्ष में ज़रूरी नहीं कि सर्वहारा बुर्जुआज़ी के साथ गँठजोड़ बनाये ही। उपरोक्त उद्धरण (*सुखविन्दर यहाँ लेनिन द्वारा उद्धृत मेहरिंग के उसी उद्धरण की बात कर रहे हैं जो हमने पिछले शीर्षक के अंतर्गत दिया था*) से यह भी स्पष्ट है कि अगर किसी ख़ास समय में किसी ख़ास राष्ट्र की बुर्जुआज़ी ने आज़ादी का झण्डा नहीं उठाया हुआ है तो इसका यह भी मतलब नहीं कि वह कभी नहीं उठायेगी।" (सुखविन्दर, 'राष्ट्रीय प्रश्न और मार्क्सवाद', प्रतिबद्ध-33)

इसके बाद सुखविन्दर लिखते हैं कि

> "लेनिन का यह कथन उन लोगों के लिए भी सबक़ है जो इस बात पर ज़ोर देते हैं कि बहुराष्ट्रीय भारत में किसी राष्ट्र को दमित मानने से लाज़िमी ही बुर्जुआज़ी के किसी धड़े के साथ मिलकर राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति के ज़रिये राष्ट्रीय मुक्ति का कार्यभार निकलता है। किसी स्थिति में ऐसा हो भी सकता है। पर कम्युनिस्टों के लिए यह कोई निरपेक्ष उसूल नहीं है। किसी दमित राष्ट्र की बुर्जुआज़ी क्रान्तिकारी सर्वहारा से ज़्यादा भय महसूस करती है। इसलिए सर्वहारा के लिए हर हाल में यह लाज़िमी नहीं है कि इसके साथ एकता का ही झण्डा उठाये। वर्ग अपचयनवादी मार्क्सवादी दरअसल यह ज़िद करते हैं कि दमित राष्ट्र लाज़िमी ही राष्ट्रीय आज़ादी का झण्डा उठाये, लाज़िमी ही बुर्जुआज़ी के किसी धड़े के साथ गँठजोड़ बनाये। इस तरह करते हुए दरअसल वे 20वीं सदी में उपनिवेश-अर्द्ध-उपनिवेश का फ्रेमवर्क, बहुराष्ट्रीय देशों के राष्ट्रीय प्रश्न पर थोप देते हैं।" (सुखविन्दर, 'राष्ट्रीय प्रश्न और मार्क्सवाद', प्रतिबद्ध-33)

फिर सुखविन्दर बताते हैं कि

> "प्रथम विश्वयुद्ध के समय और उसके बाद बोल्शेविक पार्टी और फिर कम्युनिस्ट (तीसरा) इंटरनेशनल ने बदलती हुई स्थितियों में राष्ट्रीय प्रश्न के संबंध में अपनी पोज़ीशनें बदलीं। अब राष्ट्रीय प्रश्न के समाधान को समाजवादी क्रान्ति से जोड़कर देखा जाने लगा।" (सुखविन्दर, 'राष्ट्रीय प्रश्न और मार्क्सवाद', प्रतिबद्ध-33)

इसके बाद वह स्तालिन का यह उद्धरण पेश करते हैं जोकि 'राष्ट्रीय प्रश्न और लेनिनवाद' से लिया गया है-

> "रूसी मार्क्सवादियों ने हमेशा ही इस प्रस्थापना से प्रस्थान किया है कि राष्ट्रीय प्रश्न क्रान्ति के विकास के आम सवाल का एक अंग है, कि क्रान्ति के अलग-अलग चरणों में राष्ट्रीय प्रश्न के अलग लक्ष्य होते हैं, जो हर दिये

गये ऐतिहासिक क्षण पर क्रान्ति के चरित्र के अनुसार होते हैं, और यह कि राष्ट्रीय प्रश्न पर पार्टी की नीति इसके साथ बदलती है।

"पहले विश्व युद्ध के पहले के दौर में, जब इतिहास ने *किसी बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति* को रूस में उस क्षण का कार्यभार बना दिया, तो रूसी मार्क्सवादियों ने राष्ट्रीय प्रश्न के समाधान को रूस में जनवादी क्रान्ति से जोड़ा। हमारी पार्टी ने यह माना कि ज़ारशाही को उखाड़ फेंकने, सामन्तवाद के अवशेषों के खात्मे और देश के पूर्ण जनवादीकरण के ज़रिये पूंजीवादी दायरे के भीतर राष्ट्रीय प्रश्न का सर्वश्रेष्ठ समाधान मिलता है।

"उस दौर में पार्टी की नीति ऐसी थी।

"यही वह दौर था जिसमें लेनिन के राष्ट्रीय प्रश्न पर प्रसिद्ध लेख लिखे गये थे, जिनमें "राष्ट्रीय प्रश्न पर आलोचनात्मक टिप्पणियां" भी शामिल है, जिसमें लेनिन लिखते हैं:

" "...मैं यह ज़ोर देकर कहता हूं कि जिस हद तक पूंजीवादी दुनिया का सवाल है, राष्ट्रीय प्रश्न का एकमात्र समाधान सम्भव है--और वह है पूर्ण जनवाद। प्रमाण के तौर पर, मैं अन्यों के अलावा, स्विट्जरलैण्ड का उदाहरण दूंगा।" (खण्ड 17, पृ. 150)

"इसी दौर में स्तालिन की पुस्तिका *मार्क्सवाद और राष्ट्रीय प्रश्न* भी लिखी गयी...

''अगले दौर में, पहले विश्व युद्ध के दौर में, जब दो साम्राज्यवादी गठजोड़ों के बीच लम्बे युद्ध ने विश्व साम्राज्यवाद की ताकत को कम कर दिया, जब विश्व पूंजीवादी व्यवस्था का संकट एक अतिरेकपूर्ण स्तर पर पहुंच गया, जब, ''मेट्रोपोलिटन देशों'' के सर्वहारा वर्ग के साथ, उपनिवेशों व निर्भर देशों ने भी मुक्ति के आन्दोलन में शामिल होने का निर्णय कर लिया, जब राष्ट्रीय प्रश्न राष्ट्रीय व औपनिवेशिक प्रश्न बन गया, जब उन्नत पूंजीवादी देशों के मज़दूर वर्ग और उपनिवेशों व निर्भर देशों के दमित लोगों के बीच संयुक्त मोर्चा एक वास्तविक शक्ति बनने लगा, और नतजीतन, समाजवादी क्रान्ति उस क्षण का सवाल बन गया, तो रूसी मार्क्सवादी पिछले दौर की नीति से सन्तुष्ट नहीं हो सकते थे, और उन्होंने राष्ट्रीय व औपनिवेशिक प्रश्न के समाधान की नियति को समाजवादी क्रा ान्ति से जोड़ना अनिवार्य पाया।"

फिर सुखविन्दर लेनिन द्वारा 5 जून 1920 को कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की दूसरी कांग्रेस के लिए 'राष्ट्रीय और औपनिवेशिक प्रश्नों' के संबंध में लिखी गयी ड्राफ्ट थीसिस का यह अंश देते हैं-

"मौजूदा अन्तरराष्ट्रीय स्थितियों के मातहत निर्भर और कमज़ोर राष्ट्रों के पास सोवियत गणराज्यों के यूनियन में शामिल होने के अलावा कोई विकल्प नहीं है...

"राष्ट्रीय और औपनिवेशिक प्रश्नों पर कम्युनिस्ट इण्टरननेशनल की पूरी नीति सभी राष्ट्रों व देशों के सर्वहाराओं और मेहनतकश जनसमुदायों के बीच भूस्वामियों व बुर्जुआजी को उखाड़ फेंकने के लिए संयुक्त क्रान्तिकारी संघर्ष के वास्ते करीबी एकता पर आधारित है। केवल यह एकता ही पूंजीवाद पर विजय को सुनिश्चित कर सकती है, जिसके बिना राष्ट्रीय दमन और असमानता को खत्म करना असम्भव है।"

इन उद्धरणों को पेश करने के बाद सुखविन्दर उपदेशक की मुद्रा में आते हैं और कह उठते हैं-

> *“उपरोक्त उद्धरण में जिन स्थितियों का वर्णन किया गया है, उससे स्पष्ट है कि बोल्शेविकों की यह नीति भी कोई सदाबहार नीति नहीं थी, बल्कि, ख़ास स्थितियों से पैदा हुई थी। इसलिए सिर्फ़ कठमुल्ले ही सोच सकते हैं कि राष्ट्रीय प्रश्न पर मार्क्सवादी नीति स्थायी रहती है। मार्क्सवाद हमें ठोस स्थितियों के ठोस विश्लेषण की शिक्षा देता है। राष्ट्रीय प्रश्न के प्रति भी मार्क्सवादी नीति इस विश्लेषण पर निर्भर करती है। बदलती स्थितियों के लिए, कम्युनिस्ट अलग नीति बनाते हैं।”* (सुखविन्दर, 'राष्ट्रीय प्रश्न और मार्क्सवाद', प्रतिबद्ध-33)

या तो सुखविन्दर की समझ में ही नहीं आया कि लेनिन और स्तालिन उपरोक्त लेखों में क्या कह रहे हैं, या उन्होंने पूरे लेख पढ़े नहीं हैं, या वह जानबूझकर इन उद्धरणों को सन्दर्भों से काटकर उनकी दुर्व्याख्या कर रहे हैं। यह हम पाठकों पर छोड़ देते हैं कि यह बौद्धिक बेईमानी की मिसाल है या मूर्खता की।

पहले हम उपनिवेशों, अर्द्धउपनिवेशों व अर्द्धसामन्ती-अर्द्धऔपनिवेशिक देशों के सन्दर्भ में सुखविन्दर की त्रॉत्स्कीपंथी लाइन की समीक्षा करेंगे और फिर अन्त में एक समकालीन उदाहरण के ज़रिये यह दिखलाएंगे कि किसी ऐसे देश में भी क्रान्ति की मंजिल सीधे समाजवादी नहीं हो सकती जो कि उपनिवेश हो, या किसी अन्य देश के कब्जे में हो, और वहां सामन्ती उत्पादन सम्बन्ध न बचे हों। ऐसे देश में भी क्रान्ति की मंजिल तात्कालिक तौर पर राष्ट्रीय जनवादी ही होगी, भले ही उसका नेतृत्व बुर्जुआजी न करे बल्कि सर्वहारा वर्ग करे और भले ही उसके सम्पन्न होने के बाद तत्काल ही समाजवादी क्रान्ति की ओर बढ़ना सम्भव हो। लेकिन सबसे पहले आइये देखते हैं कि लेनिन व स्तालिन वास्तव में इन लेखों में क्या कह रहे हैं, जिनके उद्धरणों को सुखविन्दर ने पहले तो सन्दर्भों से काटकर और सेलेक्टिव तरीके से रखा और फिर उनकी गलत व्याख्या पेश की है।

सुखविन्दर द्वारा लेनिन के उद्धरणों की सन्दर्भों से कांट-छांट, उनकी दुर्व्याख्या और अपने हित-साधन के लिए की गयी बौद्धिक बेईमानी का मुज़ाहिरा

आप समझ ही गए होंगे कि ये “वर्ग-अपचयनवादी” और “कठमुल्ले” हम ही हैं, जिनकी सुखविन्दर ऊपर बात कर रहे हैं। हालांकि सुखविन्दर ने इस लेख में जिस तरह से एक के बाद एक बेजोड़ प्रस्थापनाएं देकर अपनी कल्पनाशक्ति का इस्तेमाल किया है, मानना पड़ेगा कि कुछ और न सही "मुक्त-चिन्तन" के क्षेत्र में उन्होंने नयी मिसाल तो कायम कर ही दी है!

खैर, जैसा कि आप देख सकते हैं सुखविन्दर ने अपनी इस नयी प्रस्थापना के लिए लेनिन और स्तालिन के उद्धरणों का सहारा लिया है। **लेकिन इसके बाद उन्होंने इन उद्धरणों की जो व्याख्या प्रस्तुत की है वह और कुछ नहीं बल्कि लेनिन और स्तालिन के राष्ट्रीय प्रश्न पर विचारों के साथ भद्दा मजाक है। इसके अलावा सुखविन्दर इतनी भी बौद्धिक ईमानदारी नहीं दिखाते हैं कि उद्धरणों को पूरे सन्दर्भों के साथ प्रस्तुत करें।** लेनिन का ऊपर दिया गया उद्धरण सुखविन्दर द्वारा जानबूझ कर आधा-अधूरा पेश किया गया है क्योंकि इसके आगे लेनिन जो बात कह रहे हैं वह सुखविन्दर की उपरोक्त प्रस्थापना की बुनियाद को ही नेस्तनाबूद कर देता है। लेनिन के ऊपर दिए गए उद्धरण का सन्दर्भ निम्नलिखित है। लेनिन लिखते हैं:

> "परिणामत: इस वक्त कोई भी अपने को भिन्न-भिन्न राष्ट्रों की श्रमिक जनता के बीच एकता की कोरी मान्यता अथवा घोषणा तक ही सीमित नहीं रख सकता। एक ऐसी नीति का अनुसरण करना ज़रूरी है, जिससे सोवियत

रूस के साथ राष्ट्रों और उपनिवेशों के सभी स्वतंत्रता-आन्दोलनों का घनिष्ठतम सहबंध सुलभ हो सके। प्रत्येक देश के सर्वहाराओं में कम्युनिस्ट आन्दोलन, पिछड़े हुए राष्ट्रों में अथवा पिछड़े हुए देशों में मज़दूरों और किसानों के बुर्जुआ जनवादी स्वतंत्रता-आन्दोलन के विकास-स्तरों के अनुसार ही इस सहबंध के रूप निर्धारित किये जाएंगे।...

"11. उन राज्यों और राष्ट्रों के सम्बन्ध में, जो अधिक पिछड़े हुए हैं, जहां सामन्तवादी अथवा पितृसत्तात्मक और पितृसत्तात्मक-कृषक सम्बन्धों की प्रधानता है, नीचे लिखी कुछ बातों पर ध्यान देना विशेष रूप से ज़रूरी है:

एक, सभी कम्युनिस्ट पार्टियों को **इन देशों के बुर्जुआ जनवादी स्वतंत्रता-आन्दोलनों** में सहायता करनी चाहिए और सबसे अधिक सक्रिय सहायता देने का कर्तव्य मुख्यतया उस देश के मज़दूरों का होना चाहिए, जिस पर वह पिछड़ा हुआ राष्ट्र औपनिवेशिक अथवा वित्तीय रूप से निर्भर है;

दो, पिछड़े हुए देशों में पादरियों और दूसरे प्रभावशाली प्रतिक्रियावादी तथा मध्ययुगीन तत्वों से मोर्चा लेने की ज़रूरत है;

"तीन, सर्वइस्लामवाद और इस प्रकार की अन्य प्रवृत्तियों का मुकाबला करने की आवश्यकता है, जो खानों, जमींदारों, मुल्लाओं इत्यादि की स्थितियों को सुदृढ़ बनाने के अपने प्रयत्नों को यूरोपीय और अमेरिकी साम्राज्यवाद के विरुद्ध चलने वाले स्वतंत्रता आन्दोलन के साथ मिलाने की कोशिश करती हैं;

"चार, ज़रूरत इस बात की है कि पिछड़े हुए देशों में जमींदारों के विरुद्ध, बड़े-बड़े भूस्वामियों के विरुद्ध और सामन्तवाद के समस्त रूपों और अवशेषों के विरुद्ध चलने वाले कृषक आन्दोलन की विशेष रूप से मदद की जाय, कृषक आन्दोलन को सबसे अधिक क्रान्तिकारी स्वरूप देने की कोशिश की जाय और पश्चिमी यूरोप के कम्युनिस्ट सर्वहाराओं और पूर्व के उपनिवेशों के और सामान्यतया पिछड़े हुए देशों के क्रान्तिकारी कृषक आन्दोलनों के बीच यथासम्भव अधिक सहबंध कायम किया जाय। यह विशेष रूप से आवश्यक है कि उन देशों में सोवियत व्यवस्था के मूल सिद्धान्तों को लागू करने की हर कोशिश की जाय, जहां प्राक्-पूंजीवादी सम्बन्धों की प्रधानता है और यह "मेहनतकश जनता की सोवियतों" की स्थापना करके किया जाय, आदि;

"पांच, जरूरत इस बात है कि पिछड़े हुए देशों में **बुर्जुआ जनवादी स्वातंत्र्य प्रवृत्तियों को कम्युनिस्ट रंगरूप देने की कोशिश के विरुद्ध निश्चित रूप से संघर्ष किया जाय। कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल को चाहिए कि वह उपनिवेशों और पिछड़े हुए देशों के बुर्जुआ जनवादी आन्दोलनों का सिर्फ इसी शर्त पर समर्थन करे कि सभी पिछड़े हुए देशों में भावी सर्वहारा पार्टियों के, जो नाम से ही कम्युनिस्ट नहीं होंगी, तत्वों को इस सिद्धान्त के आधार पर एकजुट किया जाय और उन्हें प्रशिक्षण प्रदान किया जाय कि वे अपने विशेष लक्ष्यों को, अर्थात अपने ही राष्ट्रों में बुर्जुआ जनवादी आन्दोलनों से संघर्ष के लक्ष्यों को समझें। कम्युनिस्ट इण्टरनेशन को उपनिवेशों और पिछड़े हुए देशों के बुर्जुआ जनवाद के साथ स्थायी रूप से सहबंध कायम करना चाहिए परन्तु उसमें विलीन नहीं होना चाहिए और हर स्थिति में सर्वहारा वर्ग के आन्दोलन की स्वाधीनता का समर्थन करना चाहिए, चाहे आन्दोलन अपरिपक्व ही क्यों न हो;**

"छह, इस बात की ज़रूरत है कि सभी देशों की और खास तौर से पिछड़े हुए देशों की अधिक से अधिक व्यापक श्रमिक जनता को उस छल-कपट के बारे में बराबर बताया जाय जिसे साम्राज्यवादी शक्तियां बाकायदा

व्यवहार में ला रही हैं। ये शक्तियां बाह्यत: राजनीतिक रूप से स्वाधीन राज्यों के रूप में वस्तुत: ऐसे राज्यों की स्थापना करती है, जो आर्थिक, वित्तीय और सैनिक दृष्टि से पूर्णत: उन पर आश्रित रहते हैं। आधुनिक अन्तरराष्ट्रीय स्थितियों में सोवियत जनतंत्रों के संघ को छोड़कर अधीन और कमजोर राष्ट्रों के लिए उद्धार का अन्य कोई भी रास्ता नहीं है।

"12. साम्राज्यवादी शक्तियां युग-युग से उपनिवेशों और कमज़ोर राष्ट्रों का दमन करती चली आई हैं, जिसके परिणास्वरूप उत्पीडित देशों की श्रमिक जनता में उत्पीड़क देशों के प्रति शत्रुता की ही भावना का विकास नहीं हुआ है, अपितु वह जनता सामान्यतया उन राष्ट्रों में, और उनके सर्वहाराओं तक में अविश्वास करने लगी है। 1914 से 1919 में इस सर्वहारा के अधिकांश आधिकारिक नेताओं ने समाजवाद के साथ शर्मनाक गद्दारी की थी। उस समय "पितृदेश की प्रतिरक्षा" का नारा लगाकर उसके सामाजिक-अंधराष्ट्रवादी आवरण के पीछे उन्होंने "अपने" बुर्जुआ वर्ग के "अधिकार" की रक्षा की थी, ताकि वह उपनिवेशों का उत्पीड़न कर सके और वित्तीय दृष्टि से अधीन देशों को लूट सके। इस ग़द्दारी के कारण यह पूर्णोचित अविश्वास और भी गहरा हो गया। दूसरी ओर, देश जितना ही अधिक पिछड़ा हुआ होगा, लघु कृषि उत्पादन, पितृसत्तात्मकता और कूपमण्डूकता का उतना ही अधिक बोलबाला होगा, जिनके परिणामस्वरूप गहनतम टटपुंजिया अंधविश्वासों, अर्थात, राष्ट्रीय अहंभाव और राष्ट्रीय संकीर्णता को विशेष बल और स्थिरता मिलेगी। ये अंधविश्वास बहुत धीरे-धीरे ही समाप्त होते हैं, क्योंकि उनका लोप समुन्नत देशों में साम्राज्यवाद और पूंजीवाद के विनाश और पिछड़े हुए देशों के आर्थिक जीवन में आमूल परिवर्तन हो जाने के बाद ही होगा। अतएव समस्त देशों के सचेत कम्युनिस्ट सर्वहाराओं का कर्तव्य है कि वे उन देशों और कौमों की राष्ट्रीय भावनाओं के पूर्वाग्रहों के प्रति खास सावधानी और लिहाज बरतें, जिनका बहुत ज़माने से दमन किया गया है। यह भी उतना ही जरूरी है कि इन अविश्वास और पूर्वाग्रहों को जल्दी से जल्दी दूर करने के लिए कुछ विशेष रियायतें दी जाएं। जब तक सभी देशों और राष्ट्रों के सर्वहारा और उसके बाद सभी श्रमिक जनगण सहबंध और एकता के लिए स्वेच्छापूर्वक प्रयास नहीं करते, तब तक पूंजीवाद पर विजय प्राप्त नहीं हो सकती।" (लेनिन, **1983, सर्वहारा अन्तरराष्ट्रीयतावाद,** प्रगति प्रकाशन, मॉस्को, पृ. 204-210)

लेनिन यहाँ पर और ऊपर स्तालिन भी वास्तव में जो बता रहे हैं वह यह है - साम्राज्यवाद के दौर में तमाम राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों को समाजवादी क्रांति का हिस्सा इस रूप में बनना चाहिए कि साम्राज्यवाद के विरुद्ध अंतरराष्ट्रीय संघर्ष में उन्नत पूंजीवादी देशों में समाजवादी क्रांति दमित राष्ट्रों के राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलनों का समर्थन करे और दमित राष्ट्रों का राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन उन्नत देशों में समाजवादी क्रांति के साथ गठजोड़ कायम करे जिसके बिना उसका विजयी होना मुश्किल होगा। दोनों का साझा दुश्मन चूँकि साम्राज्यवाद हैं, इसलिए इन दोनों ही संघर्षों को एक-दूसरे से एकता क़ायम करने की आवश्यकता है।

यह समझना यहां बेहद ज़रूरी है कि जब लेनिन और स्तालिन ने कहा कि साम्राज्यवाद के युग में, विशेष तौर पर प्रथम विश्वयुद्ध के बाद, राष्ट्रीय मुक्ति के कार्यभार को बुर्जुआजी नहीं पूरा कर सकती है तो इसका *पहला अर्थ* यह था कि दमनकारी राष्ट्रों की बुर्जुआजी के राजनीतिक चरित्र का पतन हो चुका है और वह यह अधिकार अब अपवाद के अलावा नहीं दे सकती है। इन अपवादों के तौर पर लेनिन स्वीडन और स्विट्ज़रलैण्ड का नाम लेते हैं, जिन्होंने अपने-अपने देश में दमित राष्ट्रों व राष्ट्रीयताओं को आत्मनिर्णय व समानता का अधिकार दिया। इसका *दूसरा अर्थ* यह है कि साम्राज्यवाद के युग में दमित राष्ट्रों की बुर्जुआजी का चरित्र अधिक से अधिक ढुलमुल होता गया है, जिसके कारण राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलनों में भी उसका

दोहरा चरित्र सामने आ रहा है। जब भी वह सर्वहारा वर्ग के आन्दोलन से घबराती है, तो दमित होने के बावजूद, दमनकारी राष्ट्र की बुर्जुआजी और शासक वर्ग से समझौते और मोलभाव करने लगती है और जब भी सर्वहारा वर्ग अपनी स्वतन्त्र राजनीतिक अवस्थिति को राष्ट्रीय आन्दोलन में सुदृढ़ नहीं कर पाता है और एक स्वतन्त्र राजनीतिक शक्ति नहीं बन पाता है, तो वह राष्ट्रीय आन्दोलन पर अपना वर्ग वर्चस्व स्थापित करती है और राष्ट्रीय मुक्ति के संघर्ष को अपने वर्ग हितों के दायरों के भीतर चलाती है। ये वर्ग हित हैं: स्वयं दमन करने व शोषण करने का अधिकार। **इसके एक प्रातिनिधिक उदाहरण के लिए कहीं दूर जाने की भी जरूरत नहीं है, स्वयं भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास पर एक निगाह डालने की जरूरत है।**

इसलिए इन निश्चित अर्थों में साम्राज्यवाद के युग में राष्ट्रीय प्रश्न का समाधान बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति के फ्रेमवर्क का अतिक्रमण कर गया है और विश्व सर्वहारा क्रान्ति का एक संघटक अंग बन गया है। **इसका क्या अर्थ है? इसका अर्थ यह है कि अब सर्वहारा वर्ग को राष्ट्रीय प्रश्न का रैडिकल तरीके से समाधान करने के लिए राष्ट्रीय आन्दोलन पर अपने वर्ग वर्चस्व को कायम करने का प्रयास करना चाहिए। इसका यह अर्थ नहीं है कि *दमित राष्ट्र के लिए* क्रान्ति की मंजिल समाजवादी हो गयी। यही तो त्रॉत्स्की का तर्क था। उसका कहना था कि किसी भी प्रकार की जनवादी क्रान्ति का नेतृत्व अगर सर्वहारा वर्ग के हाथ में होगा तो वह जनवादी क्रान्ति क्यों करेगा, बल्कि वह "एक ही चोट में" समाजवादी क्रान्ति करके मज़दूर वर्ग की तानाशाही को स्थापित करेगा, जो कि राष्ट्रीय दमन का भी समाधान कर देगी, और/या सामन्ती उत्पीड़न का भी समाधान कर देगी। लेनिन ने ठीक इसी बात की मुखालफत करते हुए कहा कि जनवादी क्रान्ति का नेतृत्व यदि सर्वहारा वर्ग के हाथों में होगा, तो भी क्रान्ति का वर्ग चरित्र, उसकी वर्ग सारवस्तु राष्ट्रीय जनवादी ही होगी।** इसके ज़रिये तत्काल मज़दूर वर्ग की तानाशाही अस्तित्व में नहीं आयेगी, बल्कि मज़दूर व किसान वर्ग की संयुक्त जनवादी तानाशाही अस्तित्व में आयेगी।

यह सही है कि क्रान्ति के चरणों के बीच हर-हमेशा कोई चीन की दीवार नहीं होती है और परिस्थितियां अनुकूल हो, तो मज़दूर वर्ग जनता की जनवादी क्रान्ति को सम्पन्न कर और मज़दूरों व किसानों की जनवादी तानाशाही को स्थापित करने के बाद बिना रुके समाजवादी क्रान्ति की ओर भी बढ़ सकता है। **लेकिन फिर भी इन दोनो चरणों के बीच अन्तर रहेगा, क्योंकि इनका वर्ग सारतत्व और इनके कार्यभारों को पूरा करने के लिए बनाये जाने वाले वर्ग मोर्चे में अन्तर होता है।** जिन दमित कौमों में बुर्जुआजी सर्वहारा उभार से घबरा कर दमनकारी कौम के शासक वर्ग से समझौते करने लगती है, या वह बेहद छोटी व अशक्त है, जिसके कारण उसमें राष्ट्रीय दमन के विरुद्ध लड़ने की क्षमता ही नहीं होती है, वहां मज़दूर वर्ग समूचे किसान वर्ग, छोटे पूंजीपति वर्ग और टटपुंजिया वर्गों के साथ मोर्चा बनाता है और साथ ही बुर्जुआजी के भी रैडिकल व क्रान्तिकारी तत्वों के साथ मोर्चा बनाता है और जनता की जनवादी क्रान्तियों को सम्पन्न करता है। चूंकि जनता की जनवादी क्रान्ति की यह प्रक्रिया समाजवादी क्रान्ति के लिए भी रास्ता खोलती है और साम्राज्यवाद को भी कमज़ोर करती है, इसलिए लेनिन कहते हैं कि साम्राज्यवाद के युग में, जो कि लेनिन के अनुसार सर्वहारा क्रान्तियों की पूर्ववेला है, जनता की जनवादी क्रान्तियों द्वारा राष्ट्रीय प्रश्न और/या सामन्तवाद-विरोधी कार्यभारों के प्रश्न का समाधान अब आम तौर पर ***बुर्जुआ जनवादी क्रान्तियों*** की ऐतिहासिक सीमाओं का अतिक्रमण कर चुका है, और विश्व समाजवादी क्रान्ति का संघटक अंग बन चुका है। लेकिन वह जनवादी क्रान्ति की ऐतिहासिक सीमा का अतिक्रमण नहीं है, सिर्फ बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति की ऐतिहासिक सीमा का अतिक्रमण है।

जब लेनिन और स्तालिन यह कहते हैं कि राष्ट्रीय प्रश्न का समाधान साम्राज्यवादी युग में *बुर्जुआ* जनवादी क्रान्तियों का नहीं बल्कि विश्व समाजवादी क्रान्ति का संघटक अंग है, तो उनका सिर्फ इतना ही अर्थ है कि आम तौर पर दमित राष्ट्रों में जनता की जनवादी क्रान्ति के रूप में ही राष्ट्रीय प्रश्न का समाधान हो सकता है

और यह साम्राज्यवाद के विरुद्ध अन्तरराष्ट्रीय संघर्ष में विश्व समाजवादी क्रान्ति का सहायक या संघटक तत्व बन चुका है। कोई बेवकूफ ही इससे यह नतीजा निकाल सकता है कि लेनिन और स्तालिन अब सीधे समाजवादी क्रान्तियों द्वारा बहुराष्ट्रीय राज्यों में दमित राष्ट्रों के राष्ट्रीय दमन को समाप्त करने का सिद्धान्त दे रहे थे। लेनिन का एक उद्धरण हम ऊपर पेश कर चुके हैं जो कि ठीक इसी बात को बता रहा है। 26 जुलाई, 1920 को 'राष्ट्रीय और औपनिवेशिक प्रश्नों पर गठित कमीशन की रिपोर्ट' में लेनिन देखिये क्या लिखते हैं-

> "तीसरे, मैं पिछड़े हुए देशों में बुर्जुआ-जनवादी आन्दोलन के प्रश्न पर विशेष रूप से ज़ोर देना चाहूंगा क्योंकि इसी प्रश्न ने कुछ मतभेद उत्पन्न कर दिये थे। हमने इस बात पर वाद-विवाद किया था कि क्या सिद्धान्त की दृष्टि से यह कहना ठीक होगा कि कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल तथा कम्युनिस्ट पार्टियों को पिछड़े हुए देशों के बुर्जुआ जनवादी आन्दोलन का समर्थन करना चाहिए। अपने विचार-विमर्श के परिणामस्वरूप हम इस सर्वसम्मत निष्कर्ष पर पहुंचे कि हम "बुर्जुआ जनवादी" आन्दोलन के स्थान पर राष्ट्रीय-क्रान्तिकारी आन्दोलन की बात करेंगे। **इस बात में ज़रा भी सन्देह नहीं होना चाहिए कि हर राष्ट्रीय आन्दोलन केवल बुर्जुआ जनवादी आन्दोलन ही हो सकता है, क्योंकि पिछड़े हुए देशों में जनता का अधिकांश भाग किसान है, जो बुर्जुआ पूंजीवादी सम्बन्धों का प्रतिनिधित्व करते हैं। यह विश्वास करना कोरी कल्पना होगा कि सर्वहारा पार्टियां--अगर वास्तव में वे इन पिछड़े हुए देशों में पनप सकती हैं--कृषक आन्दोलन के साथ बिना निश्चित सम्बन्ध स्थापित किये हुए, बिना उसका व्यवहारत: समर्थन किये हुए, इन पिछड़े हुए देशों में कम्युनिस्ट कार्यनीति और कम्युनिस्ट नीति का अनुसरण कर सकती हैं। परन्तु इस बात पर आपत्ति प्रकट की गयी थी कि अगर हम बुर्जुआ जनवादी आन्दोलन की बात करते हैं, तो हम सुधारवादी और क्रान्तिकारी आन्दोलन के बीच पाए जाने वाले सारे भेद को मिटा डालेंगे, जबकि पिछले कुछ समय से पिछड़े हुए और औपनिवेशकि देशों में यह भेद बड़ा स्पष्ट हो गया है, क्योंकि साम्राज्यवादी बुर्जुआ वर्ग उत्पीडित राष्ट्रों में भी सुधारवादी आन्दोलन चलाने के लिए यथासम्भव कोशिश कर रहा है। शोषक और औपनिवेशिक दोनों ही प्रकार के देशों के बुर्जुआ वर्गों में एक तरह के घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो चुके हैं, जिसके परिणामस्वरूप उत्पीडित देशों का बुर्जुआ वर्ग राष्ट्रीय आन्दोलन का समर्थन करता है और साथ ही प्राय:, यहां तक कि अधिकांश मामलों में, वह साम्राज्यवादी बुर्जुआ वर्ग का भी साथ देता है, अर्थात सभी क्रान्तिकारी आन्दोलनों और क्रान्तिकारी वर्गों के खिलाफ उसके साथ मिलकर संघर्ष कर रहा है। यह बात कमीशन ने निश्चित रूप से सिद्ध कर दी थी और हमने भी यह तय किया था कि सबसे सही बात यह है कि इस भेद पर ध्यान किया जाय और प्राय: हर जगह "बुर्जुआ जनवादी" के बदले "राष्ट्रीय-क्रान्तिकारी" शब्द इस्तेमाल किये जाएं। इस परिवर्तन का आशय यह है कि हमें कम्युनिस्ट होने के नाते उपनिवेशों में बुर्जुआ स्वतंत्रता आन्दोलनों का तभी समर्थन करना चाहिए और हम तभी करेंगे, जब वे वास्तव में वे क्रान्तिकारी हों और क्रान्तिकारी भावना से कृषकों और शोषित जनता को प्रशिक्षित करने के हमारे कामों में उनके प्रतिनिधि बाधा न डालें। यदि ये परिस्थितियां नहीं पाई जातीं तो इन देशों के कम्युनिस्टों को सुधारवादी बुर्जुआ वर्ग के विरुद्ध संघर्ष करना चाहिए जिसके अन्तर्गत दूसरे इण्टरनेशनल के सूरमा भी आते हैं। औपनिवेशिक देशों में सुधारवादी पार्टियां पहले ही से मौजूद हैं। कभी-कभी तो उनके प्रतिनिधि अपने को सामाजिक-जनवादी और समाजवादी भी कहते हैं। मैंने जिस भेद का उल्लेख किया है, अब वह सभी थीसिसों में देखने को मिलता है,**

जिसका परिणाम, मेरी समझ में, यह है कि हमने अपने दृष्टिकोण को अधिक स्पष्ट रूप दिया है।"
(वही, पृ. 216-218)

लेनिन यहां यह भी बताते हैं कि विशेष तौर पर पूरे किसान वर्ग की इस प्रक्रिया में भागीदारी यही दिखलाती है, कि इसका चरित्र वर्ग सारतत्व के मामले में बुर्जुआ जनवादी ही है।

स्तालिन भी जब ऊपर यह कह रहे हैं कि दो दौरों की नीतियों में बदलाव आया है तो वह पहले दौर के तौर पर उदीयमान पूँजीवाद के दौर की बात कर रहे हैं जब एक हद तक राष्ट्रीय प्रश्न एक देश की चौहद्दी के भीतर ही मौजूद था और दमित राष्ट्र के पूंजीपति वर्ग की एक सकारात्मक और प्रगतिशील भूमिका थी और इसलिए राष्ट्रीय प्रश्न का समाधान बुर्जुआ जनवादी क्रांति के फ्रेमवर्क के भीतर ही होने की ज्यादा सम्भावना-सम्पन्नता थी। दूसरे दौर के तौर पर स्तालिन साम्राज्यवाद के दौर की बात कर रहे हैं जब राष्ट्रीय प्रश्न बुर्जुआ जनवादी क्रांति के फ्रेमवर्क का अतिक्रमण करता है और राष्ट्रीय मुक्ति का प्रश्न भी साम्राज्यवाद के खिलाफ अंतरराष्ट्रीय संघर्ष और इस तरह से विश्व समाजवादी क्रांति की प्रक्रिया से अभिन्न रूप से जुड़ जाता है।

इसका यह अर्थ नहीं है कि दमित राष्ट्रों में समाजवादी क्रांति की मंजिल आ गयी है, क्रांति की मंजिल वहाँ जनवादी क्रांति की ही है क्योंकि राष्ट्रीय प्रश्न, राजनीतिक अर्थों में जनवादी कार्यभार है और राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलनों की वर्गीय अंतर्वस्तु बुर्जुआ ही है, और इससे कोई फर्क नहीं पड़ता है कि दमित राष्ट्र का बुर्जुआ वर्ग इसमें आमूलगामी तरीके से भाग लेता है या नहीं या फिर उसका बर्ताव ढुलमुल रहता है।

साम्राज्यवाद के दौर में बुर्जुआ वर्ग के जनवादी व रैडिकल चरित्र का ह्रास और क्षरण एक आम परिघटना है और इसलिए पूँजीवाद के प्रारंभिक दौर में जो नेतृत्वकारी भूमिका बुर्जुआ वर्ग की बनती थी (बुर्जुआ जनवादी क्रांति का दौर), वह इस नए दौर में उन अर्थों में नहीं बनेगी और इसलिए अब दमित राष्ट्रों के राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों को भी ज्यादा आमूलगामी तरीके से सर्वहारा वर्ग के नेतृत्त्व में अन्य वर्गों जैसे कि किसानों, मध्यम वर्ग और पूंजीपति वर्ग के सबसे जनवादी व क्रान्तिकारी तत्वों के साथ मोर्चा बनाकर इस कार्यभार को अंजाम दिया जायेगा। हम आगे माओ के उद्धरणों से दिखलायेंगे कि किस तरह राष्ट्रीय आज़ादी के लिए बने संयुक्त मोर्चे में दमित राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग की भूमिका होती है, अपने लाख ढुलमुलपन के बावजूद, और किस तरह क्रांति की मंजिल जनवादी क्रांति की ही होती है और सर्वहारा वर्ग की अगुवाई होने के बावजूद क्रांति की मज़िल बदलकर समाजवादी क्रांति की नहीं हो जाती है।

जैसा कि हमने अन्यत्र भी कहा था, राष्ट्रीय प्रश्न के समाधान की *सामाजिक अन्तर्वस्तु* (यानी कौन-सा वर्ग नेतृत्वकारी होगा, कौन-से वर्ग प्रमुख शक्ति होंगे, कौन से वर्ग इस कार्यभार के प्रति ढुलमुल रवैया अपनाएंगे) बदलती है, उसकी *वर्ग अन्तर्वस्तु* नहीं। ऐतिहासिक तौर पर अभी भी यह एक बुर्जुआ जनवादी कार्यभार है, जिसे पूरा करने की ताक़त स्वयं बुर्जुआ वर्ग साम्राज्यवाद के युग में खो चुका है, लेकिन वह दमित कौमों में अभी भी दमित है। हमने पिछले शीर्षक के तहत भी बताया था की पोलैंड में भी जब बुर्जुआ वर्ग राष्ट्रीय आज़ादी के इस कार्यभार को पूरा करने में आनाकानी कर रहा था और उस पूरे दौर में ढुलमुल बर्ताव कर रहा था तो ऐसा नहीं था कि वह उस वक़्त दमित नहीं था।

मेहरिंग द्वारा कही गयी 'सामाजिक क्रांति' वाली बात को सुखविन्दर 'मिसरिप्रेसेन्ट' करके यह अर्थ निकालते हैं कि

> "अब पोलैंड के सर्वहारा को पोलैंड को गुलाम बनाने वाले तीन देशों के सर्वहारा के साथ मिलकर क्रान्ति के लिए संघर्ष करना चाहिए। उसके हित स्पष्ट तौर पर यह माँग करते हैं कि उन तीन राज्यों में जिन्होंने पोलैंड को

> बाँटा हुआ है, पोलिश मज़दूरों को अपने वर्ग साथियों के साथ बिना शर्त मिलकर लड़ना चाहिए।" (सुखविन्दर, 'राष्ट्रीय प्रश्न और मार्क्सवाद', प्रतिबद्ध-33)

और फिर सुखविन्दर इसमें अपनी समाजवादी क्रांति की अनोखी थीसिस जोड़ देते हैं, जैसा कि हमने ऊपर देखा। लेनिन ने जो लिखा है उसका मतलब यह नहीं है कि पोलैंड के मजदूर वर्ग के लिए क्रांति की मंजिल समाजवादी हो जाएगी, पोलैंड का मजदूर वर्ग रूस, जर्मनी और ऑस्ट्रिया के अपने वर्ग साथियों के साथ मिलकर पोलैंड में समाजवादी क्रांति नहीं करेगा, वह वहाँ जनवादी क्रांति ही करेगा और रूस, जर्मनी और ऑस्ट्रिया के अपने साथियों की हर संभव मदद उन देशों में पहले जनवादी क्रान्ति और फिर समाजवादी क्रांति को आगे बढाने के लिए करेगा। **तमाम बातों को गड्डमड्ड करने से व्यक्ति ऐसे ही अनर्थक सिद्धांत-प्रतिपादन करने लगता है जैसा कि सुखविन्दर कर रहे हैं। हम ऊपर पोलैण्ड में बुर्जुआजी के दमित होने के तथ्य की विवेचना करते हुए दिखला चुके हैं कि लेनिन (या मेहरिंग) 1903 में पोलैण्ड में जनवादी क्रान्ति की बात नहीं कर रहे हैं, और आगे भी कुछ उद्धरणों से हम दिखाएंगे कि लेनिन पोलैण्ड में जनवादी क्रान्ति और उसके ज़रिये राष्ट्रीय प्रश्न के समाधान की ही बात कर रहे हैं, समाजवादी क्रान्ति की नहीं।**

पोलैंड के सन्दर्भ में मेहरिंग और बाद में लेनिन बस इतना कह रहे थे कि पोलिश बुर्जुआज़ी ***फिलहाल*** राष्ट्रीय मुक्ति के कार्यभार को सुसंगत व आमूलगामी तौर पर पूरा करने में भागीदारी नहीं कर रही थी और उस वक़्त इस कार्यभार से ग़द्दारी कर रही थी, जिसकी वजह से राष्ट्रीय मुक्ति का जनवादी कार्यभार भी अब *बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति* के फ्रेमवर्क में नहीं बल्कि सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व और मज़दूर-किसान संश्रय की सामाजिक अन्तर्वस्तु पर आधारित *जनता की जनवादी क्रान्ति* से पूरा होगा। लेकिन यह क्रान्ति भी पहले राष्ट्रीय जनवादी चरण को ही पूरा करती और नेतृत्व सर्वहारा वर्ग के हाथ में आने से क्रान्ति की वर्गीय अन्तर्वस्तु या सारवस्तु नहीं बदलती है। **क्या आपको पता है कि 1916 में भी पोलैण्ड में सीधे समाजवादी क्रान्ति करने की लाइन कौन पेश कर रहा था? यह था त्रॉत्स्की व पार्वस के 'स्थायी क्रान्ति' के सिद्धान्त से प्रभावित पोलिश समाजवादी पार्टी का वाम धड़ा।** पोलिश सोशल डेमोक्रैट्स राष्ट्रीय प्रश्न पर अलग कारणों से लेनिन से मतभेद के बावजूद इस त्रॉत्स्कीपंथी लाइन को नकार रहे थे। **यही चीज़ लेनिनवाद को त्रॉत्स्कीपंथ से अलग करती है, सुखविन्दर अब जिसकी बाहों में जा चुके हैं!**

देखें कि पोलैण्ड में 1903 में और उसके बाद भी 1918 से पहले की स्थिति में क्रान्ति की मंजिल के विषय में लेनिन क्या कह रहे हैं:

> "कॉमरेड लेनिन ने याद किया कि 1903 में पोलिश सामाजिक-जनवादी राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के विरुद्ध थे, ***जबकि इस सवाल को अभी समाजवादी क्रान्ति के सन्दर्भ में नहीं उठाया गया था।***" (लेनिन, **संग्रहीत रचनाएं, खण्ड-41,** प्रगति प्रकाशन, मॉस्को, पृ. 426)

जैसा कि आप देख सकते हैं 1903 में पोलैण्ड की राष्ट्रीय मुक्ति का सवाल लेनिन समेत किसी ने भी समाजवादी क्रान्ति के सन्दर्भ में नहीं उठाया था, हालांकि पोलैण्ड में पूंजीवादी विकास विचारणीय स्तर पर पहुंच चुका था। यहां तक कि 1903 में तो रूस और ऑस्ट्रिया में भी किसी ने समाजवादी क्रान्ति का सवाल नहीं उठाया था। लेकिन सुखविन्दर अपनी ही 'ट्रिप' पर रहते है!

निम्न उद्धरण में लेनिन बताते हैं कि 1917 के पहले रूस में और साथ ही उसके द्वारा दमित राष्ट्रों में जो प्रधान कार्यभार था वह बुर्जुआ जनवादी था, क्योंकि लक्ष्य समाजवादी गणराज्य की स्थापना नहीं था, बल्कि जनवादी गणराज्य की स्थापना था। पोलैण्ड और फिनलैण्ड के विशिष्ट सन्दर्भ में बात करते हुए लेनिन कहते हैं:

"इसलिए सामाजिक-जनवाद को सभी राष्ट्रों के सर्वहारा वर्ग और मेहनतकश जनता को "उनकी अपनी बुर्जुआजी" के राष्ट्रवादी नारों द्वारा सीधे धोखे में आने के खिलाफ पुरज़ोर तरीके से चेतावनी दे देनी चाहिए, जोकि "हमारी देशी भूमि" के बारे में अपने मीठे भावुक या जोशीले भाषणों से सर्वहारा वर्ग को बांटने की कोशिश करते हैं और अपनी बुर्जुआ साजिशों से उसका ध्यान बंटाने की कोशिश करते हैं, जबकि वे स्वयं अन्य राष्ट्रों की बुर्जुआजी और जारवादी राजतंत्र के साथ आर्थिक और राजनीतिक समझौते करते हैं। सर्वहारा वर्ग बिना अपवाद मज़दूर वर्गीय संगठनों में सभी राष्ट्रों के मज़दूरों के साथ निकटतम और पूर्णतम संबंध बनाए बगैर समाजवाद के लिए अपने संघर्ष और अपने रोज़मर्रा के आर्थिक हितों की हिफाजत के कार्य को नहीं कर सकता है। सर्वहारा वर्ग जारवादी राजतंत्र को उखाड़ फेंकने और उसकी जगह एक ***जनवादी गणराज्य*** की स्थापना करने के लिए क्रान्तिकारी संघर्ष के बिना स्वतंत्रता हासिल नहीं कर सकता है।" **(**लेनिन**, संग्रहीत रचनाएं, खण्ड-19,** प्रगति प्रकाशन**,** मॉस्को**,** पृ. 244-45)

लेनिन हमेशा इस बात को लेकर स्पष्टता रखते थे कि चाहे कोई दमित राष्ट्र सामन्ती उत्पादन सम्बन्धों की मंजिल में हो या उनसे आगे चला गया हो, वहां राष्ट्रीय मुक्ति का प्रश्न ही प्रधान है और यह वास्तव में एक जनवादी कार्यभार है, सीधे तौर पर समाजवादी नहीं। लेनिन लिखते हैं:

"रूसी सर्वहारा वर्ग जनता की अगुवाई करते हुए विजयी जनवादी क्रान्ति (जो कि तात्कालिक कार्यभार है) की ओर नहीं बढ़ सकता, या अपने भाइयों, यानी यूरोप के सर्वहाराओं के साथ समाजवादी क्रान्ति के लिए नहीं लड़ सकता, यदि वह ज़ारशाही द्वारा दमित सभी राष्ट्रों के लिए पूर्णत: और बिना किसी आपत्ति के रूस से अलग होने की मांग नहीं करता। यह हम समाजवाद के लिए अपने संघर्ष से अलग रूप में मांग नहीं करते हैं बल्कि इसलिए करते हैं कि यह संघर्ष एक खोखला जुमला बन जायेगा यदि इसे **जनवाद के सभी सवालों, राष्ट्रीय प्रश्न समेत, के साथ जोड़ा नहीं जाता है।"** (लेनिन, *क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग और राष्ट्रों का आत्मनिर्णय का अधिकार*, **कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड-21,** प्रगति प्रकाशन मॉस्को, अंग्रेजी संस्करण, पृ. 414)

सभी जनवादी कार्यभारों के ही समान इस जनवादी कार्यभार को भी कम-से-कम अपने नेतृत्व में अंजाम देने में पूंजीपति वर्ग पूरी दुनिया में साम्राज्यवाद के युग में अपनी क्षमता को खोता जा रहा था। रूस में भी उदार पूंजीपति वर्ग व उसकी पार्टी, यानी कैडेट पार्टी, राष्ट्रीय मुक्ति के कार्यभार को रैडिकल तरीके से पूरा नहीं कर रही थी क्योंकि वह सर्वहारा वर्ग के उभार से भी भयाक्रान्त रहता था और जब भी सर्वहारा वर्ग के उभार का भूत उसे सताता तो वह जारशाही से समझौते करता था। यही कारण था कि लेनिन ने **जनता की जनवादी क्रान्ति का सिद्धान्त** दिया जिसके अनुसार साम्राज्यवाद के युग में जनवादी क्रान्ति के कार्यभारों को पूर्ण करने में पूंजीपति वर्ग के ढुलमुलपन के कारण, यह कार्य सर्वहारा वर्ग अपने नेतृत्व में करता है, लेकिन इसी से वह क्रान्ति समाजवादी क्रान्ति नहीं बन जाती है, और न ही क्रान्ति की वर्ग अन्तर्वस्तु बदलती है। लेनिन 'जनवादी क्रांति में सामाजिक-जनवाद की दो कार्यनीतियां' में लिखते हैं -

"आखिरी बात, न्यूनतम कार्यक्रम की तामील का कार्यभार अस्थायी क्रान्तिकारी सरकार के जिम्मे करके प्रस्ताव अधिकतम कार्यक्रम की तत्काल तामील और समाजवादी क्रान्ति के लिए सत्ता पर कब्जा करने के बारे में बेहूदा अर्द्धअराजकतावादी विचारों को बिल्कुल खत्म कर देता है। रूस के आर्थिक विकास के स्तर (वस्तुपरक परिस्थिति) और व्यापक सर्वहारा समूहों की वर्ग चेतना तथा संगठन के स्तर के कारण (आत्मपरक परिस्थिति, जो वस्तुपरक परिस्थति से अभिन्न रूप से बंधी हुई है) मज़दूर वर्ग की पूर्ण मुक्ति फौरन असम्भव है। केवल बिल्कुल अज्ञानी लोग ही प्रस्तुत जनवादी क्रान्ति के बुर्जुआ चरित्र की उपेक्षा कर सकते हैं; केवल बिल्कुल

भोले आशावादी ही इस बात को भुला सकते हैं कि मज़दूर समूहों को समाजवाद के उद्देश्यों तथा उसे प्राप्त करने के उपायों के बारे में अभी तक कितनी कम जानकारी है। हम सबका यह दृढ़ विश्वास है कि मजदूरों की मुक्ति स्वयं मज़दूरों के ही हाथों हो सकती है; जब तक अवाम वर्ग चेतन तथा संगठित न हो जाएं, जब तक वे पूरे बुर्जुआ वर्ग के खिलाफ खुले वर्ग संघर्ष की शिक्षा प्राप्त करके उसमें अभ्यस्त न हो जाएं तब तक समाजवादी क्रान्ति का सवाल ही पैदा नहीं हो सकता। इस प्रकार की अराजकतावादी आपत्तियों के उत्तर में कि हम समाजवादी क्रान्ति को टाल रहे हैं, हम कहते हैं: हम उसे टाल नहीं रहे हैं, बल्कि हम उसकी दिशा में एकमात्र सम्भव तरीके से एकमात्र उचित मार्ग पर अर्थात जनवादी जनतंत्र के मार्ग पर पहला कदम बढ़ा रहे हैं। **जो भी राजनीतिक जनवाद के अतिरिक्त किसी दूसरे मार्ग से समाजवाद तक पहुंचना चाहता है, वह अनिवार्य रूप से ऐसे नतीजों पर पहुंचेगा, जो आर्थिक तथा राजनीतिक, दोनों ही अर्थ में बेतुके तथा प्रतिक्रियावादी होंगे।** यदि ये अथवा वे मज़दूर हमसे मुनासिब घड़ी में यह सवाल करेंगे कि हम अधिकतम कार्यक्रम की तामील क्यों न कर डालें, तो हम उन्हें उत्तर में यह बताएंगे कि जनवादी विचार रखने वाले अवाम अभी तक समाजवाद से कितने दूर हैं, वर्ग वैरभाव अभी तक कितने अविकसित हैं, सर्वहारा वर्ग के लोग अभी तक कितने असंगठित हैं। सारे रूस में लाखों मज़दूरों को ज़रा संगठित तो कीजिये, अपने कार्यक्रम के प्रति लाखों-करोड़ों लोगों की सहानुभूमि जरा प्राप्त तो कीजिये! अपने आपको गुंजायमान, पर खोखले अराजकतावादी फिकरों तक ही सीमित रखे बिना, इस काम को करने की ज़रा कोशिश तो कीजिये--फिर आप फौरन देख लेंगे कि इस संगठन की तामील इस समाजवादी शिक्षा का प्रसार **जनवादी सुधारों की यथासम्भव पूर्णतम तामील** पर निर्भर है।" (लेनिन, 1988, **संकलित रचनाएं (चार खण्डों में) खण्ड 1**, प्रगति प्रकाशन, मॉस्को, पृ. 76-77, *जोर हमारा*)

जैसा कि लेनिन यहां स्पष्ट करते हैं, क्रान्ति का प्रश्न राज्यसत्ता का प्रश्न है और यदि जनवादी गणराज्य ही बहाल नहीं है, तो पूंजीवाद का चाहे कितना ही विकास क्यों न हुआ हो, पहली मंजिल जनवादी क्रान्ति की ही होगी। रूस में भी पूंजीवादी उत्पादन सम्बन्ध प्रभुत्वशाली उत्पादन सम्बन्ध तो उन्नीसवीं सदी के अन्त में ही बन गये थे और स्तोलिपिन सुधारों के बाद तो सामन्तवाद महज़ अवशेषों के रूप में बचा रह गया था। उसके बावजूद रूस में क्रान्ति की मंजिल जारशाही के पतन से पहले जनवादी क्रान्ति की ही थी। उपनिवेशीकरण का प्रश्न राज्यसत्ता और जनवादी गणराज्य के प्रश्न से जुड़ा हुआ सवाल होता है। किसी गुलाम कौम के देश में जनवादी गणराज्य नहीं होता है और इसलिए पहले इस जनवादी कार्यभार को पूरा करना होता है। यही वजह है कि जब तक यह कार्यभार पूरा नहीं होता, पहली मंजिल साम्राज्यवाद-विरोधी राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति की ही होती है।

प्याताकोव ने फरवरी क्रान्ति के बाद रूस में यही बात कही थी कि अब रूस में पूंजीवादी जनवादी क्रान्ति मूलत: और मुख्यत: हो चुकी है और इसलिए अब राष्ट्रों के आत्मनिर्णय का प्रश्न समाजवादी क्रान्ति के साथ अपने आप ही हल हो जायेगा। इस पर लेनिन ने प्याताकोव की तीखी आलोचना की थी और कहा था राष्ट्रीय आत्मनिर्णय का कार्यभार अभी भी रहता है और राष्ट्रीय आत्मनिर्णय का अधिकार देना अनिवार्य है, जोकि मूलत: एक राजनीतिक जनवाद का प्रश्न है। यह इससे भी ज़ाहिर होता है कि क्रान्ति के बाद भी जिन गणराज्यों ने आत्मनिर्णय का अधिकार मिलने के बाद सोवियत संघ में रहना स्वीकार किया था या उसमें सम्मिलित होने का निर्णय किया था वहां भी अभी बुर्जुआ-जनवादी कार्यभार पूर्ण होने की प्रक्रिया में थे, सिर्फ सामन्ती अवशेषों की वजह से नहीं बल्कि रूसी कम्युनिस्टों द्वारा आत्मनिर्णय के अधिकार पर ईमानदारी से अमल के कारण भी। इसीलिए 1923 में स्तालिन राष्ट्रीय गणराज्यों व क्षेत्रों के जिम्मेदार मज़दूरों के साथ रूस की कम्युनिस्ट पार्टी (बोल्शेविक) की केन्द्रीय कमेटी के चौथे सम्मेलन में इन राष्ट्रीय गणराज्यों व

क्षेत्रों में पार्टी कार्यकर्ताओं के एक हिस्से द्वारा बुर्जुआ जनवादी तत्वों से एकता न बनाए जाने की "वामपंथी" प्रवृत्ति पर चोट करते हुए कहा:

> "लेकिन "वामपंथियों" के पाप इस तथ्य में निहित हैं कि **वे बुर्जुआ जनवादी व आबादी के वफादार तत्वों के प्रति लचीलापन रखने में अक्षम हैं**, वे इन तत्वों को आकर्षित करने के लिए दांवपेच करने में अक्षम व अनिच्छुक हैं, वे देश की मेहनतकश जनता को जीतने की पार्टी की कार्यदिशा को विकृत कर रहे हैं।" (स्तालिन, '**फोर्थ कॉनफरेंस ऑफ दि सी.सी. ऑफ आर.सी.पी. (बी) विद रिस्पांसबिल वर्कर्स ऑफ दि नेशनल रिपब्लिक्स एण्ड रीजंस**')

लेकिन सुखविन्दर लेनिन और स्तालिन द्वारा पेश किये गए ऐतिहासिक आकलनों को ऐसे पेश कर रहे हैं मानो कि वे वही बोल रहे हैं जोकि सुखविन्दर बोल रहे हैं। जब कि वास्तविकता यह है कि लेनिन और स्तालिन साम्राज्यवाद के युग में उन्नत देशों में समाजवादी क्रांति और दमित राष्ट्रों में राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन के बीच एकता और समन्वय स्थापित करने की ज़रुरत पर बल दे रहे हैं क्योंकि पूँजीवाद के इस दौर यानी साम्राज्यवाद के दौर में इन दोनों का दुश्मन मुश्तरका है। यहां एकराष्ट्रीय राष्ट्रराज्य है या बहुराष्ट्रीय राष्ट्रराज्य, उससे कोई फर्क पड़ता है। यह विभेदीकरण सुखविन्दर ने बिना सोचे-समझे पैदा कर दिया है, जिसका राष्ट्रीय प्रश्न के समाधान के सन्दर्भ में कोई अर्थ ही नहीं है। **सुखविन्दर यह फर्क करने में अक्षम हैं कि राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन का सर्वहारा समाजवादी क्रान्ति का एक संघटक अंग बनने का यह मतलब नहीं है कि दमित राष्ट्रों के सन्दर्भ में क्रांति की मंजिल जनवादी क्रांति से सर्वहारा समाजवादी क्रांति की हो गयी है। इसको ही हमने सुखविन्दर का त्रॉत्स्कीपंथ में पतन कहा है।**

त्रॉत्स्की का मानना था कि क्रांतिकारी आन्दोलन का चरित्र जनवादी होने के बावजूद अगर रूसी मजदूर वर्ग और समूची किसान आबादी का नेतृत्त्व सामाजिक-जनवादी पार्टी (कम्युनिस्ट पार्टी) करेगी, तो चूंकि नेतृत्त्व मजदूर वर्ग की पार्टी के हाथ में है इसलिए यह समाजवादी क्रांति ही होगी। लेनिन ने त्रॉत्स्की के इस 'स्थायी क्रांति' के सिद्धांत की तीखी आलोचना की और 'जनवादी क्रांति में सामाजिक जनवाद की दो कार्यनीतियां' में बताया कि रूस में जनवादी क्रांति के कार्यभार को रूसी उदार बुर्जुआ वर्ग क्रान्तिकारी तरीके से पूरा नहीं करेगा, यह काम भी मजदूर वर्ग समूची किसान आबादी को साथ लेकर करेगा और पहली मंजिल यानी जनवादी क्रांति की मंजिल में सामंतवाद और जारशाही के खिलाफ क्रान्तिकारी संघर्ष के तौर पर इसे अंजाम देगा। इसके बाद क्रांति के समाजवादी चरण में प्रविष्ट होने पर मजदूर वर्ग के मित्र वर्ग ग्रामीण अर्द्धसर्वहारा और गरीब और निम्न मंझोले किसान बनेंगे। **यही लेनिन के दो चरणों में सर्वहारा क्रांति के सिद्धांत की मूल अंतर्वस्तु है।** लेनिन का कहना था कि बुर्जुआ जनवादी क्रांति का चरण लांघकर सीधे समाजवादी क्रान्ति सम्पन्न करना संभव नहीं है। **अगर वर्गीय सारवस्तु से बुर्जुआ जनवादी क्रांति और सामाजिक सारवस्तु से जनता की जनवादी क्रान्ति के बिना रुके (uninterrupted revolution) समाजवादी क्रांति की मंजिल में प्रवेश करने की लिए स्थितियां अनुकूल हों और ऐसा होता भी है, तो भी इन दोनों ही चरणों के बीच वर्ग संश्रय और कार्यक्रम के स्तर पर स्पष्ट अंतर मौजूद रहते हैं।** लेकिन त्रॉत्स्की की राय इससे बिलकुल विपरीत थी जो कि वास्तव में एक निगमनवादी पद्धति (deductive method) है जिसके अनुसार किसी आन्दोलन का राजनीतिक एजेंडा, उसकी वर्गीय अंतर्वस्तु, वर्गों का मोर्चा और उसका लक्ष्य कोई भी हो, अगर नेतृत्त्व सर्वहारा वर्ग और उसकी पार्टी के हाथ में है तो वह सीधे समाजवादी क्रांति करेगा और समाजवादी सत्ता स्थापित होगी, जो राष्ट्रीय प्रश्न और/या भूमि प्रश्न, दोनों का ही समाधान कर देगी।

अगर त्रॉत्स्की की इस पद्धति को राष्ट्रीय प्रश्न पर लागू करें, तो हम सुखविन्दर के ही निष्कर्ष पर पहुंचेंगे! क्योंकि सुखविन्दर के अनुसार राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्त्व सर्वहारा और उसका हिरावल करेगा और चूँकि बुर्जुआ वर्ग ऐसा नहीं करेगा तो फिर इस प्रश्न का समाधान सीधे समाजवादी क्रांति के ज़रिये ही होगा। सुखविन्दर यहाँ असल में क्रान्ति की मंजिल को लांघने का प्रस्ताव ही दे रहे हैं, जैसा कि त्रॉत्स्कीपंथ कहता है।

यहां एक बात जोड़ना भी ज़रूरी है। 1848 की क्रान्ति के बाद एंगेल्स ने कहा था कि इतिहास ने हमें (यानी उन्हें व मार्क्स को) भी ग़लत सिद्ध किया क्योंकि वास्तविकता सबसे वैज्ञानिक सामान्यीकरणों से भी दो कदम आगे चलती है। फरवरी 1917 की क्रान्ति के बारे में लेनिन ने भी ऐसा ही कहा था कि सभी के सारे मूल्यांकनों को वास्तविक ऐतिहासिक गति ने गलत सिद्ध कर दिया है। एक दीर्घकालिक ऐतिहासिक *जजमेण्ट* के रूप में यह मूल्यांकन सही है कि साम्राज्यवाद के युग में राष्ट्रीय दमन को खत्म करने और सर्वाधिक रैडिकल तरीके से राष्ट्रीय प्रश्न का समाधान करने का काम बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति के फ्रेमवर्क के भीतर नहीं हो सकता है। लेकिन द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद तथाकथित 'तीसरी दुनिया' के अधिकांश देशों में (चीन, वियतनाम, कम्बोडिया, लाओस, कोरिया, इत्यादि को छोड़ दें तो) बुर्जुआ व पेटी-बुर्जुआ वर्ग के नेतृत्व में ही राष्ट्रीय मुक्ति हुई। कहीं पर यह प्रक्रिया काफी समझौतापरस्ती के साथ हुई (जैसे कि भारत) तो कहीं वह अधिक रैडिकल तरीके से हुई (जैसे कि अल्जीरिया, ट्यूनीशिया आदि)। चाहे प्रक्रिया कैसी भी रही हो, यह तय है कि राष्ट्रीय मुक्ति का कार्यभार यहां पूरा हुआ, हालांकि उन देशों में, जहां कि किसी रैडिकल बुर्जुआ वर्ग के नेतृत्व में बुर्जुआ सत्ता अस्तित्व में आयी, वहां भी दो-तीन दशकों के भीतर ही उसके जनवाद की कलई खुलने लगी और साम्राज्यवाद के 'जूनियर पार्टनर' के रूप में उनका दमनकारी चरित्र खुलकर सामने आने लगा, जैसे कि मिस्र की बुर्जुआ सत्ता, तमाम देशों में आयी बाथिस्ट बुर्जुआ सत्ताएं, इण्डोनेशिया की बुर्जुआ सत्ता आदि। **लेकिन इसका यह अर्थ नहीं था कि वहां राष्ट्रीय मुक्ति नहीं हुई।** जहां तक लेनिन और स्तालिन के इस मूल्यांकन का प्रश्न है कि दमनकारी बुर्जुआ वर्ग दमित राष्ट्रों को शान्तिपूर्ण रूप से आत्मनिर्णय का अधिकार नहीं देगा, मूलत: और मुख्यत: सही है। आज के समय में भी लेनिन का वह द्वन्द्वात्मक मूल्यांकन ज्यादा सटीक है कि राष्ट्रीय प्रश्न का पूंजीवादी व्यवस्था के मातहत हल होना असम्भव बात नहीं है, हालांकि साम्राज्यवाद के अधिक से अधिक मरणासन्न और परजीवी होते जाने के साथ इसकी सम्भावना सामान्यत: कम होती जाएगी। **लेकिन चूंकि राष्ट्रीय प्रश्न का समाधान सारत: राष्ट्रों की समानता के *राजनीतिक जनवादी अधिकार* की लड़ाई है, इसलिए सिद्धान्तत: हम इसके पूंजीवाद के मातहत समाधान की सम्भावना से इंकार नहीं कर सकते हैं। इसकी सबसे बड़ी मिसाल हाल ही में स्कॉटलैण्ड में हुए राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के रेफरेण्डम था, हालांकि उसमें अधिकांश आबादी ने अलग होने के विरुद्ध वोट किया।**

लुब्बेलुबाब यह कि राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के अधिकार का कम्युनिस्ट बिना शर्त समर्थन करते हैं और राष्ट्रीय प्रश्न की बुनियाद में ही दो राष्ट्रों (अक्सर दमनकारी व दमित) के हितों के बीच का अन्तरविरोध होता है। कई बार ऐसा भी होता है कि कोई कौम दमित नहीं होती, तो भी उसकी बुर्जुआजी का एक हिस्सा अपने आर्थिक व राजनीतिक हितों के मद्देनज़र अलग राष्ट्र-राज्य बनाना चाहता है और सर्वहारा वर्ग भी राजनीतिक चेतना व संगठन के अभाव में उसका पिछलग्गू बन जाता है; कई बार ऐसा भी होता है कि यह बुर्जुआजी वास्तव में अलग होने के लिए यह मांग नहीं उठाती बल्कि केवल सत्ता में अपनी हिस्सेदारी को बढ़ाने के लिए एक रणकौशल के तौर पर उठाती है। लेकिन यदि रेफरेण्डम की मांग कहीं से भी अर्थपूर्ण रूप से उठे, तो कम्युनिस्ट उसका बिना शर्त समर्थन करते हैं, क्योंकि ऐसा न करना राष्ट्र के आत्मनिर्णय के अधिकार को अस्वीकार करना है, चाहे आप उस राष्ट्र को दमित मानते हों या नहीं। यदि आप नहीं मानते तो इस अधिकार का समर्थन करते हुए आप एक कम्युनिस्ट पार्टी या संगठन के तौर पर अलग होने के विरुद्ध जनसमुदायों में प्रचार के लिए पूरी तरह से आज़ाद हैं। **लेकिन इतना स्पष्ट है कि राष्ट्रीय प्रश्न का राजनीतिक दायरा व वर्ग**

सारतत्व मूलत: बुर्जुआ जनवादी है, न कि समाजवादी; तब भी जबकि इसे जनता की जनवादी क्रान्ति के द्वारा हल किया जाय और तब भी जबकि बुर्जुआजी इस कार्यभार को पूरा करने में ढुलमुल रवैया दिखलाए। यह मार्क्सवाद-लेनिनवाद के बुनियादी सिद्धान्त हैं, जिसे सुखविन्दर नहीं समझते क्योंकि वह इस समय त्रॉत्स्कीपंथ के साथ विचारधारात्मक-राजनीतिक *फ्लर्टिंग* में व्यस्त हैं।

राष्ट्रीय दमन के खिलाफ दमित राष्ट्र के बुर्जुआ वर्ग की अवस्थिति और भूमिका के विषय में माओ के विचार

आइये अब देखें कि माओ राष्ट्रीय दमन के प्रश्न पर राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग की स्थिति का किस प्रकार आकलन करते हैं और राष्ट्रीय जनवादी क्रांति की मंजिल में राष्ट्रीय प्रश्न के समाधान के लिए किस क़िस्म का वर्ग संश्रय निर्मित होता है, यह बताते हैं। माओ के इस विषय में विचारों पर हम यहां त्रॉत्स्कीपंथी भटकाव के विशिष्ट सन्दर्भ में चर्चा कर रहे हैं क्योंकि चीन में भी छन तू-श्यू के समय से ही त्रॉत्स्कीपंथी विचलन का एक इतिहास मौजदू था। यहाँ बताते चलें कि इस तथ्य का, कि चीन के उत्पादन सम्बन्ध अर्द्धसामंती थे, यहाँ राष्ट्रीय दमन के सवाल पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है और माओ स्पष्ट रूप से जापानी साम्राज्यवाद के खिलाफ राष्ट्रीय मुक्ति के फ्रेमवर्क और अजेंडा पर ही अपने विचार रख रहे हैं।

माओ 27 दिसम्बर, 1935 के अपने लेख, **'जापानी साम्राज्यवाद के विरुद्ध कार्यनीति के बारे में'** में चीनी कम्युनिस्ट पार्टी में अब तक मौजूद इस गलत कार्यदिशा की आलोचना पेश कर रहे हैं जो कि मानती थी कि जापानी साम्राज्यवाद के विरुद्ध साझा लड़ाई में चीनी राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग मज़दूरों-किसानों का मित्र नहीं हो सकता है। जापानी साम्राज्यवाद के खिलाफ राष्ट्रीय संयुक्त मोर्चे में, अपने तमाम ढुलमुल रवैये के बावजूद, चीनी राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग की एक भूमिका बनती थी, माओ इसी बात को इस लेख में रेखांकित करते हैं। माओ लिखते हैं-

> "राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग की समस्या पेचीदा है। इस वर्ग ने 1924 से 1927 की क्रान्ति में हिस्सा लिया था। लेकिन इस क्रान्ति की लपटों से भयभीत होकर बाद में वह जनता के शत्रु, च्यांग काई शेक गुट के पक्ष में चला गया। सवाल यह है कि क्या मौजूदा परिस्थितियों में यह सम्भावना मौजूद है कि इस वर्ग में परिवर्तन हो जायेगा। हम समझते हैं कि हां, यह सम्भावना मौजूद है। कारण यह कि राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग न तो ज़मींदार वर्ग की तरह है और न दलाल-पूंजीपति वर्ग की तरह। उनमें अन्तर है। राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग जमींदार वर्ग से कम सामन्ती और दलाल-पूंजीपति वर्ग से कम दलाल है। राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग का एक भाग विदेशी पूंजी और चीन के भूस्वामित्व से ज्यादा सम्बन्ध रखता है। यह भाग राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग का दक्षिण पक्ष है। फिलहाल, हम इस बात पर विचार नहीं करेंगे कि यह भाग बदल सकता है या नहीं। समस्या इसके उन भागों की है, जिनके इस प्रकार के सम्बन्ध हैं ही नहीं, या अपेक्षाकृत कम हैं। हमारा विचार है कि नयी परिस्थिति में जब कि चीन को उपनिवेश बना दिये जाने का खतरा मौजूद है, राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग के इन भागों का रुख बदल सकता है। यह परिवर्तन उनके ढुलमुल होने में जाहिर होता है। एक ओर तो उन्हें साम्राज्यवाद नापसन्द है, और दूसरी ओर वे मुकम्मिल क्रान्ति से भी डरते हैं। वे इन दोनों स्थितियों के बीच डावांडोल होते रहते हैं...इसलिए हमारा विचार है कि मौजूदा परिस्थिति में राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग का रुख बदल सकता है। यह परिवर्तन किस हद तक होगा? इसमें आम विशेषता ढुलमुलपन ही है। लेकिन संघर्ष की कुछ विशेष मंजिलों में राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग का एक भाग (वाम पक्ष) संघर्ष में भाग ले सकता है और दूसरा भाग ढुलमुलपन की स्थिति से आगे बढ़कर तटस्थ हो सकता है।" (माओ, **1971, माओ त्से तुंग की संकलित रचनाएं, ग्रंथ 1,** विदेशी भाषा प्रकाशन गृह, पेकिंग, पृ. 261-263)

माओ बताते हैं कि बदली हुई परिस्थितियों में, यानी जापानी साम्राज्यवाद द्वारा चीन को उपनिवेश बनाए जाने की आसन्न स्थिति में राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग की निश्चय ही एक आवश्यक भूमिका बनती है और एक दमित बुर्जुआ वर्ग होने के नाते उसका साम्राज्यवाद से अंतरविरोध होता है और राष्ट्रीय संकट बढ़ने के साथ इसका अधिक से अधिक व्यापक हिस्सा राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन में भागीदारी भी करता है:

> "यदि कोई राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग की राजनीतिक और आर्थिक कमज़ोरी के आधार पर हमारी धारणाओं पर आपत्ति करते हुए यह कहे कि नयी परिस्थितियों में भी चीन के राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग का रुख नहीं बदल सकता, तो क्या यह सही होगा? मैं समझता हूं यह भी गलत होगा। यदि राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग द्वारा अपना रुख न बदल सकने का कारण उसकी कमज़ोरी है, तो उसने 1924-27 में अपना सामान्य रुख क्यों बदल दिया, जबकि वह न केवल ढुलमुल ही रहा, बल्कि उसने क्रान्ति में भी भाग लिया? क्या कोई कह सकता है कि राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग की कमज़ोरी एक ऐसा नया रोग है, जो उसे जन्म के बाद लगा, और एक ऐसा रोग नहीं है जो उसे गर्भ से ही लग गया था? क्या कोई कह सकता है कि यह वर्ग आज तो कमज़ोर है, लेकिन उस समय कमज़ोर नहीं था? एक अर्द्धउपनिवेश की राजनीति और अर्थव्यवस्था की एक मुख्य विशेषता होती है उसके राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग की कमज़ोरी। यही कारण है कि साम्राज्यवाद इस वर्ग पर सवारी गांठने की जुर्रत करता है और इसी वजह से इस वर्ग की एक विशेषता यह है कि वह साम्राज्यवाद को नापसन्द करता है। बेशक इंकार करने की बजाय हम इस बात को पूरी तरह स्वीकार करते हैं कि उसकी इस कमज़ोरी के कारण ही साम्राज्यवाद, ज़मींदार वर्ग और दलाल-पूंजीपति वर्ग के लोग घूस के रूप में कुछ अस्थायी लाभ देकर इस वर्ग को अपनी ओर खींच सकते हैं; तथा इसी वजह से इस वर्ग में क्रान्तिकारी पूर्णता का अभाव होता है। लेकिन फिर भी हम यह नहीं कह सकते हैं कि वर्तमान परिस्थितियों में राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग तथा जमींदार वर्ग व दलाल-पूंजीपति वर्ग के बीच कोई अन्तर नहीं है। (वही, पृ 265-66)

आगे माओ राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग के राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति के ढुलमुल मित्र होने के चरित्र को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं-

> "साथियो, यह तो समस्या का सकारात्मक पक्ष हुआ। अब उसका नकारात्मक पक्ष लीजिये, यानी यह प्रश्न कि राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग में कुछ लोग ऐसे हैं जो अक्सर आम जनता को धोखा देने में माहिर हैं। ऐसा क्यों है? इसलिए कि जनता के क्रान्तिकारी कार्य के सच्चे समर्थकों के अलावा इस वर्ग में बहुत से ऐसे लोग हैं, जो कुछ समय के लिए क्रान्तिकारी या अर्द्धक्रान्तिकारी जामा पहन लेते हैं। इस प्रकार वे आम जनता को धोखा देने की हैसियत हासिल कर लेते हैं, जिससे आम जनता उनकी क्रान्तिकारी पूर्णता के अभाव को आसानी से नहीं देख पाती तथा उनके दिखावे और बनावटीपन को आसानी से भांप नहीं पाती। इससे कम्युनिस्ट पार्टी की यह जिम्मेदारी बढ़ जाती है कि वह अपने संश्रयकारियों की आलोचना करे, झूठे क्रान्तिकारियों का पर्दाफाश करे और नेतृत्व पर कब्जा करे। यदि हम इस बात से इंकार करते हैं कि भारी उथल-पुथल के दौर में राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग ढुलमुल हो सकता है और क्रान्ति में शामिल हो सकता है, **तो इसका अर्थ यह है कि नेतृत्व पर कब्ज़ा करने के हमारी पार्टी के कार्य को तिलांजलि दे दी गयी है, या कम-से-कम उसको हल्के ढंग से लिया गया है।** कारण यह कि ज़मींदारों और दलाल-पूंजीपतियों की ही तरह यदि राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग भी ग़द्दारों का वीभत्स रूप लेकर सामने आ जाय, तो नेतृत्व पर कब्ज़ा करने के लिए उससे संघर्ष करने के कार्य को एकदम तिलांजलि दी जा सकेगी, या कम-से-कम उसको हल्के ढंग से लिया जा सकेगा।" (वही, पृ. 266-67)

चीन में जापानी साम्राज्यवाद के कारण उपस्थित हुई नयी परिस्थितियों में बदलते हुए वर्ग संबधों को और साथ ही चीनी राष्ट्रीय क्रांति में राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग की भूमिका को माओ इस प्रकार व्याख्यायित करते हैं -

> "वर्ग-सम्बन्धों की समस्या का सारांश निकालते हुए हम कह सकते हैं कि स्थिति में हुए इस बुनियादी परिवर्तन से, यानी जापानी साम्राज्यवादियों द्वारा चीन की लम्बी दीवार के दक्षिण में किए गए आक्रमण से चीन के विभिन्न वर्गों के आपसी सम्बन्ध बदल गये हैं...
>
> "यह इन सब बातों से पता चलता है कि क्रान्तिकारी परिस्थिति अंश के दायरे से आगे बढ़कर राष्ट्रव्यापी बनती जा रही है, और असमानता की अवस्था से कदम-ब-कदम आगे बढ़कर किसी हद तक समानता की अवस्था में पहुंचती जा रही है। अब हम एक महान परिवर्तन की पूर्ववेला में हैं। पार्टी का कार्य है कि वह लाल सेना की कार्यवाहियों को सारे देश के मज़दूरों, किसानों, विद्यार्थियों, निम्न-पूंजीपति वर्ग और राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग की सभी कार्यवाहियों के साथ मिलाकर एक राष्ट्रीय क्रान्तिकारी संयुक्त मोर्चा कायम करे।...
>
> "यदि हमारी सरकार अभी तक मज़दूरों, किसानों व शहरी निम्न पूंजीपति वर्ग के संश्रय पर आधारित रही है, तो अब से उसमें मज़दूरों, किसानों और शहरी निम्न पूंजीपति वर्ग के अलावा अन्य सभी वर्गों के उन लोगों को भी शामिल किया जाना चाहिए जो राष्ट्रीय क्रान्ति में भाग लेना चाहते हैं।
>
> "वर्तमान काल में ऐसी सरकार का बुनियादी कार्य चीन को हड़पने के जापानी साम्राज्यवाद के प्रयत्नों का विरोध करना है। यह सरकार प्रतिनिधित्व के अपने दायरे को विस्तृत कर लेगी, ताकि इस सरकार में न केवल वे लोग भाग ले सकें जो राष्ट्रीय क्रान्ति में तो दिलचस्पी रखते हैं लेकिन भूमि क्रान्ति में नहीं, बल्कि ऐसे लोग भी अगर चाहें तो शामिल हो सकें जो योरपीय और अमरीकी समा्राज्यवादियों के साथ सम्बन्ध रखने के कारण उनका विरोध नहीं करते लेकिन जापानी साम्राज्यवाद और उसके पालूत कुत्तों का विरोध तो कर सकते हैं। इसलिए, उसूली तौर पर, इस सरकार का कार्यक्रम ऐसा होना चाहिए जो जापानी साम्राज्यवाद और उसके पालतू कुत्तों का विरोध करने के बुनियादी कार्य के अनुरूप हो, और हमें अपनी पुरानी नीतियों में इसी के अनुरूप समुचित परिवर्तन लाना चाहिए।" (वही, पृ. 268-282)

इसके बाद माओ इस बात की तरफ ध्यान आकर्षित करते हैं कि इन बदली हुई परिस्थियों में मज़दूरों-किसानों के जनवादी गणराज्य को चीनी राष्ट्र के अन्य हिस्सों की भी नुमाइंदगी करनी होगी। गौर करें कि यहाँ माओ राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग को राष्ट्र के अंतर्गत गिनते हैं-

> "मज़दूरों-किसानों के गणराज्य" को "लोक गणराज्य" के रूप में क्यों बदल दिया जाय?
>
> "हमारी सरकार केवल मज़दूरों और किसानों का ही नहीं, बल्कि *समूचे राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करती है।* **मज़दूरों-किसानों के जनवादी गणराज्य के नारे में यह बात पहले से ही निहित रही है क्योंकि मज़दूर और किसान समूचे राष्ट्र की आबादी का 80-90 प्रतिशत भाग हैं। हमारी पार्टी की छठी राष्ट्रीय कांग्रेस ने जो दससूत्री कार्यक्रम निर्धारित किया था, वह न केवल मज़दूरों और किसानों के हितों का प्रतिनिधित्व करता है, बल्कि पूरे राष्ट्र के हितों का भी प्रतिनिधित्व करता है।** लेकिन मौजूदा परिस्थिति की मांग है कि हम अपना नारा बदल दें और लोक गणराज्य का नारा दें। कारण यह कि जापानी आक्रमण से चीन के वर्ग-सम्बन्ध बदल गए हैं और अब यह सम्भव है कि न सिर्फ निम्न-पूंजीपति वर्ग, बल्कि राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग भी जापान-विरोधी संघर्ष में शामिल हो जाए।

...चीन की आबादी में 80-90 फीसदी तक मज़दूर और किसान हैं इसलिए लोक गणराज्य को सबसे पहले उन्हीं के हितों का प्रतिनिधित्व करना चाहिए। लेकिन लोक गणराज्य साम्राज्यवादी उत्पीड़न को दूर करके चीन को आजाद और स्वाधीन बना देगा, तथा जमींदारों द्वारा किए जाने वाले उत्पीड़न को दूर करके चीन को अर्द्धसामन्ती व्यवस्था से मुक्ति दिला देगा, इसलिए वह मज़दूरों और किसानों का ही नहीं, बल्कि जनता के बाकी हिस्सों का भी भला करेगा। **मज़दूरों, किसानों तथा जनता के बाकी हिस्सों के परे हितों का योग ही समूचे चीनी राष्ट्र के हितों को निर्धारित करता है।** यद्यपि दलाल-पूंजीपति वर्ग और जमींदार वर्ग भी चीन की धरती पर ही रहते हैं, फिर भी वे राष्ट्र के हितों की ओर ध्यान नहीं देते; इसी कारण उनके हित बहुसंख्यक जनता के हितों से टकराते हैं। चूंकि हम मुट्ठीभर जमींदारों और दलाल पूंजीपतियों से ही नाता तोड़ते हैं और केवल उनसे ही टकराते हैं, इसलिए हमें अधिकार है कि हम अपने को समूचे राष्ट्र का प्रतिनिधि कहें।" (वहीं पृ 285-287)

माओ मजदूर वर्ग और राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग के बीच मौजूद वर्ग अंतरविरोधों का संज्ञान लेते हुए कहते हैं कि साम्राज्यवाद के विरुद्ध क्योंकि संघर्ष साझा है इसलिए राष्ट्रीय क्रांति भी तभी सफल होगी जब यह संश्रय क़ायम होगा और अभी चूंकि क्रांति की मंजिल बुर्जुआ जनवादी क्रांति की ही है इसलिए यह वर्ग-संश्रय बनना स्वाभाविक है। माओ तमाम त्रॉत्स्कीपंथियों को आड़े हाथों लेते हुए कहते हैं कि यह उनकी गलत धारणा है कि चीन में क्रांति की मंजिल समाजवादी क्रांति की है क्योंकि इसकी अगुवाई मजदूर वर्ग कर रहा है -

"मज़दूर वर्ग और राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग के हितों में भी टकराव है। जब तक राष्ट्रीय क्रान्ति के हिरावल को राजनीतिक और आर्थिक अधिकार नहीं दिये जाते, और जब तक मज़दूर वर्ग में साम्राज्यवाद और उसके पालतू कुत्तों, वतनफरोशों, के विरुद्ध अपनी समूची शक्ति को लगाने की क्षमता पैदा नहीं की जाती, तब तक राष्ट्रीय क्रान्ति को सफलतापूर्वक नहीं चलाया जा सकता। लेकिन, यदि राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग साम्राज्यवाद-विरोधी संयुक्त मोर्चे में शामिल हो जाता है, तो मज़दूर वर्ग और राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग के समान हित हो जाएंगे। पूंजीवादी जनवादी क्रान्ति के काल में लोक गणराज्य गैर-साम्राज्यवादी और गैर-सामन्ती निजी सम्पत्ति को खत्म नहीं करेगा, बल्कि राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग के औद्योगिक और व्यापारिक कारोबारों को जब्त करने के बदले उनके विकास को प्रोत्साहन देगा। जब तक कोई राष्ट्रीय पूंजीपति साम्राज्यवादियों और चीनी गद्दारों का समर्थन नहीं करता, तब तक हम उसकी रक्षा करेंगे। जनवादी क्रान्ति की मंजिल में श्रम और पूंजी के बीच संघर्ष की एक सीमा निर्धारित कर दी जाती है...

"लेकिन क्या ऐसे वर्गों के प्रतिनिधियों को लोक गणराज्य की सरकार में शामिल करना खतरनाक नहीं है? नहीं! मज़दूर और किसान इस गणराज्य का बुनियादी जनसमुदाय हैं। शहरी निम्न पूंजीपति वर्ग, बुद्धिजीवियों और उन अन्य लोगों को, जो साम्राज्यवाद-विरोधी और सामन्तवाद-विरोधी कार्यक्रम का समर्थन करते हैं, लोक गणराज्य की सरकार में अपना मत प्रकट करने और काम करने का अधिकार देने में और उन्हें चुनने और चुने जाने का अधिकार देने में, मज़दूरों और किसानों, बुनियादी जन-समुदाय, के हितों का उल्लंघन नहीं किया जाना चाहिए। हमारे कार्यक्रम का मूल भाग मज़दूरों और किसानों, बुनियादी जन-समुदाय के हितों की रक्षा करना होना चाहिए। लोक गणराज्य की सरकार में मज़दूरों और किसानों, बुनियादी जन-समुदाय के प्रतिनिधियों का बहुमत होगा और साथ ही इस सरकार पर कम्युनिस्ट पार्टी का नेतृत्व होगा और वह सरकार के अन्दर काम करेगी; यही इस बात की गारण्टी है कि अन्य वर्गों के लोगों के शामिल होने से कोई खतरा पैदा नहीं होगा। यह एकदम स्पष्ट है कि मौजूदा मंजिल में चीनी क्रान्ति का स्वरूप पूंजीवादी-जनवादी है, सर्वहारा-समाजवादी नहीं। **केवल**

प्रतिक्रान्तिकारी त्रॉत्स्कीवादी ही ऐसी बेसिर पैर की बातें करते हैं कि चीन में पूंजीवादी-जनवादी क्रान्ति पूरी हो चुकी है और आगे की क्रान्ति केवल समाजवादी ही हो सकती है...

"बुनियादी तौर पर, अभी भी मज़दूर, किसान और शहरी निम्न-पूंजीपति वर्ग क्रान्ति की प्रेरक शक्तियां हैं। लेकिन अब राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग भी इन शक्तियों में शामिल हो सकता है।

"क्रान्ति में संक्रमण भविष्य की बात है। भविष्य में जनवादी क्रान्ति अनिवार्यत: समाजवादी क्रान्ति में परिवर्तित हो जायेगी। यह संक्रमण कब होगा, यह इस बात पर निर्भर करेगा कि उसके लिए आवश्यक परिस्थितियां मौजूद हैं या नहीं, और इसमें एक काफी लम्बा अरसा लग सकता है। जब तक आवश्यक राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियां परिपक्व न हो जाएं, जब तक देश की जनता की भारी बहुसंख्या के लिए संक्रमण अहितकर होने के बदले हितकर न हो जाय, तब तक संक्रमण के सवाल को उतावलेपन के साथ उठा लेना नहीं चाहिए।" (वही, पृ. 287-90)

हमने यहाँ माओ के उद्धरण विस्तार से इसलिए दिए हैं ताकि इस प्रश्न पर नजरिया स्पष्ट हो। सुखविन्दर समाजवादी क्रांति की थीसिस देकर इस प्रश्न को लेकर जानबूझकर धूम्रावरण खड़ा करने का प्रयास कर रहे हैं। **राष्ट्रीय प्रश्न, राजनीतिक अर्थों में जनवादी कार्यभार है।** जनता की जनवादी क्रान्ति की लेनिनवादी अवधारणा यानी "दो चरणों में क्रांति" का सिद्धांत इसलिए ही अस्तित्व में आया था की जिन देशों में बुर्जुआ वर्ग सामंतवाद-साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष में निर्णायक तरीके से लड़ने की यह रैडिकल सम्भावना खो चुका है, वहां भी मजदूर वर्ग द्वारा चार वर्गों का मोर्चा बनाकर (यानी मज़दूर वर्ग, किसानी, और शहरी पेट्टी बुर्जुआज़ी व बुर्जुआजी के रैडिकल तत्वों के साथ मिलकर) पहले जनवादी कार्यभारों को पूरा करेगा जिसमें कि यह वर्ग उसके साथ होंगे और फिर समाजवादी क्रांति की मंजिल में पहुंचेगा, जहां यह चार वर्गों का मोर्चा साथ नहीं रहेगा क्योंकि अब उनके वर्ग हित साझा नहीं होंगे। **इन निश्चित अर्थों में राष्ट्रीय प्रश्न की अंतर्वस्तु जनवादी ही है।** इसलिए अगर किसी अपवादस्वरूप स्थिति में, और विशेषकर साम्राज्यवाद के दौर में किसी दमित राष्ट्र का बुर्जुआ वर्ग, अपने निहित आर्थिक हितों के कारण या अपने अशक्त होने के कारण, इस कार्यभार को पूरा नहीं करता है और राष्ट्रीय मुक्ति और स्वतन्त्र राष्ट्र-राज्य के गठन के इस काम को किसी दमित राष्ट्र के मजदूर वर्ग के नेतृत्व में पूरा किया जाता है तो भी इस कार्यभार का चरित्र जनवादी होगा, क्रान्ति की मंजिल जनवादी क्रांति की ही होगी और पहले जनवादी रिपब्लिक की ही स्थापना होगी।

पोलैण्ड के प्रश्न पर सुखविन्दर की "बन्दरकुद्दियों" पर वापस आते हुए...

पोलैंड के प्रश्न पर (क्योंकि सुखविन्दर अपनी इस मूर्खतापूर्ण थीसिस के लिए पोलैंड का ही उदहारण लेते हैं) वापस आते हुए अगर बात करें तो लेनिन बताते हैं-

"इसलिए जब पोलैण्ड के सामाजिक-जनवादियों ने पोलैण्ड के निम्न-पूंजीपति वर्ग के उग्र राष्ट्रवाद का विरोध किया और राष्ट्रीय प्रश्न को पोलैण्ड के मज़दूरों के लिए गौण महत्व का प्रश्न बताया, जब उन्होंने पोलैण्ड में पहली बार एक शुद्धत: सर्वहारा पार्टी की स्थापना की और इस अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्धान्त की घोषणा की कि अपने वर्ग-संघर्ष में पोलैण्ड तथा रूस के मज़दूरों को घनिष्ठतम एकता कायम करनी चाहिए, तो उन्होंने बिल्कुल ठीक ही किया।

"**परन्तु क्या इसका अर्थ यह था कि बीसवीं शताब्दी के आरंभ में इण्टरनेशनल राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के सिद्धान्त को, या अलग हो जाने के अधिकार को पूर्वी यूरोप और एशिया के लिए अनावश्यक समझ सकता था? यह घोर बेतुकापन होता** और (सिद्धान्तत:) मान लेने के बराबर होता कि तुर्की, रूसी और चीनी राज्यों का पूंजीवादी जनवादी पुनर्गठन पूरा हो गया है, (व्यवहारत:) यह निरंकुशता के प्रति अवसरवादी रुख अपनाने के बराबर होता।

"नहीं। पूर्वी यूरोप तथा एशिया में उभरती हुई पूंजीवादी-जनवादी क्रान्तियों के काल में, राष्ट्रीय आन्दोलन के जागृत तथा प्रखर होने के काल में, स्वतंत्र सर्वहारा पार्टियों के निर्माण के काल में, राष्ट्रीय नीति के सिलसिले में इन पार्टियों का कार्यभार दोहरा होना चाहिए: **सभी राष्ट्रों के लिए आत्मनिर्णय के अधिकार को मान्यता देना, क्योंकि पूंजीवादी-जनवादी पुनर्गठन अभी तक पूरा नहीं हुआ है, क्योंकि मज़दूर वर्ग का जनवाद उदारतावादी ढंग से, कोकोश्किन के ढंग से नहीं, बल्कि दृढ़तापूर्वक, गम्भीरतापूर्वक और ईमानदारी के साथ सभी राष्ट्रों के अधिकारों की समानता के लिए लड़ रहा है, और किसी भी राज्य-विशेष में, उसके इतिहास के तमाम उतार-चढ़ावों के दौरान, पूंजीपति वर्ग द्वारा अलग राज्यों की सीमाओं के किसी भी प्रकार के पुनर्निर्धारण के बावजूद वर्ग-संघर्ष में उस राज्य के सभी राष्ट्रों के सर्वहारा गण की घनिष्ठतम तथा अटूट एकता को बनाये रखना।**" (लेनिन, 1981, **जातियों का आत्मनिर्णय का अधिकार**, प्रगति प्रकाशन, मॉस्को, पृ. 52-53)

यानी, राष्ट्रों के आत्मनिर्णय का प्रश्न राजनीतिक जनवादी कार्यभारों का प्रश्न है। आर्थिक तौर पर पोलैण्ड में पूंजीवाद के विकास के बावजूद, यदि उस राष्ट्र (जाहिरा तौर पर बुर्जुआजी समेत) का दमन मौजूद है, **तो वहां कम्युनिस्टों को एक ओर सर्वहारा वर्ग की राष्ट्रपारीय एकता भी बनानी होगी, और वहीं दूसरी ओर सभी दमित राष्ट्रीयताओं के राष्ट्रीय दमन का विरोध करते हुए राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के अधिकार की हिमायत करनी होगी, क्योंकि इसके बिना अलग-अलग राष्ट्रों के सर्वहारा वर्ग की वर्ग एकता भी नहीं स्थापित हो सकती है ।** और राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के अधिकार का केवल एक ही अर्थ होता है: अलग होने का अधिकार और अलग राज्य की स्थापना का अधिकार। वहीं दूसरी बात यह है कि किसी राष्ट्र के अलग होने का समर्थन करने और किसी राष्ट्र के अलग होने के अधिकार का समर्थन करने में फर्क है। हम कम्युनिस्ट के तौर पर यह मान सकते हैं कि किसी राष्ट्र को किसी विशिष्ट ऐतिहासिक सन्दर्भ में अलग नहीं होना चाहिए (मसलन, यदि हम उसे दमित राष्ट्र नहीं मानते या फिर हम मानते हैं कि ***फिलहाल*** उसका अलग होना राष्ट्रीय मुक्ति युद्ध की ओर नहीं, बल्कि एक ऐसे साम्राज्यवादी युद्ध की ओर ले जायेगा, जो कि दोनों ही देशों के सर्वहारा वर्ग और साथ ही राष्ट्रीय मुक्ति के कार्यभार के लिए हानिकारक है, जैसा कि 1916 में पोलैण्ड के बारे में लेनिन का मूल्यांकन था)। **लेकिन इसके बावजूद हम उसके *अलग होने के अधिकार* का बिना शर्त समर्थन करते हैं।** इसी फर्क को न समझने के लिए लेनिन ने पोलिश सामाजिक-जनवादियों की आलोचना की थी। वे पोलैण्ड के अलग होने का समर्थन न करने को पोलैण्ड के अलग होने के अधिकार का समर्थन न करने तक बढ़ा देते हैं।

यह तो हम ऊपर दिखा ही चुके हैं कि सुखविन्दर की यह मान्यता कि 1903 में पोलैण्ड लेनिन के अनुसार समाजवादी क्रान्ति की मंजिल में था और सीधे राष्ट्रीय प्रश्न को इस समाजवादी क्रान्ति से ही हल करने वाला था, कितनी मूर्खतापूर्ण मान्यता है। हम ऊपर लेनिन के उद्धरणों व सन्दर्भों समेत दिखा चुके हैं कि पोलैण्ड तो दूर स्वयं रूस भी 1903 में समाजवादी क्रान्ति की मंजिल में नहीं था और पोलैण्ड की राष्ट्रीय मुक्ति का प्रश्न राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति का ही प्रश्न था। उसे यहां दुहराने की आवश्यकता नहीं है।

राष्ट्रीय मुक्ति के कार्यभार को समाजवादी क्रान्ति तक टालने का प्रस्ताव कौन दे रहा है?

सुखविन्दर का आरोप है कि हम राष्ट्रीय प्रश्न को समाजवाद आने तक स्थगित करने का प्रस्ताव दे रहे हैं। लेकिन सच्चाई यह है कि वह स्वयं त्रॉत्स्कीपंथी 'स्थायी क्रान्ति' का सिद्धान्त देकर पंजाब की राष्ट्रीय मुक्ति के संघर्ष को भारत में समाजवादी क्रान्ति तक टाल रहे हैं, क्योंकि उन्हें यकायक यह इलहाम हुआ है कि बहुराष्ट्रीय देशों में राष्ट्रीय मुक्ति का कार्यभार समाजवादी क्रान्ति के ज़रिये ही पूरा होता है, और इस इलहाम के नशे में उन्हें लेनिन और स्तालिन भी ऐसी बात कहते नज़र आ रहे हैं, हालांकि हमने देखा है कि लेनिन और स्तालिन ऐसा कुछ नहीं कह रहे हैं, यहां तक कि उन उद्धरणों में भी जो खुद सुखविन्दर ने पेश किये हैं!

यदि पंजाब दमित कौम है (जोकि हम नहीं मानते) तो सुखविन्दर को आज ही उसके आत्मनिर्णय के अधिकार के लिए संघर्ष शुरू कर देना चाहिए, वरना वह लेनिनवाद के विरुद्ध जा रहे होंगे। साथ ही, पंजाब की राष्ट्रीय मुक्ति से चूंकि कोई साम्राज्यवादी युद्ध नहीं होने वाला है, तो उन्हें न सिर्फ पंजाब के अलग होने के अधिकार का समर्थन करना चाहिए, बल्कि उसके अलग होने का समर्थन भी करना चाहिए। स्पष्ट तौर पर वह एक वस्तुगत ऐतिहासिक परिस्थिति के आकलन (कि भारत में समाजवादी क्रान्ति के बिना उसकी सीमा के भीतर की दमित कौमों की मुक्ति नहीं हो सकती) और एक राजनीतिक प्रोग्राम या मांग (यानी दमित कौमों के लिए राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के अधिकार की मांग को उठाने और राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति का नारा बुलन्द करने) में फर्क नहीं कर पाते हैं।

इसे समझने के लिए निम्न उद्धरण देखें। क्या यहाँ स्तालिन 'राष्ट्रों के आत्म-निर्णय के अधिकार को नकार रहे है? नहीं, वह एक विश्व ऐतिहासिक परिस्थति का वस्तुगत मूल्यांकन पेश कर रहे हैं-

> "किसी राष्ट्रीय आन्दोलन का अन्तिम तौर पर समाप्त होना केवल बुर्जुआजी के पतन के साथ सम्भव है। केवल समाजवाद के राज्य में ही शान्ति को पूर्ण रूप से स्थापित किया जा सकता है। लेकिन पूंजीवाद के फ्रेमवर्क में भी राष्ट्रीय संघर्ष को जड़ से कमज़ोर करने के लिए न्यूनतम हदों तक घटना सम्भव है, इसे सर्वहारा वर्ग के लिए कम-से-कम हानिकारक बनाना सम्भव है। मिसाल के लिए यह स्विट्ज़रलैण्ड और अमेरिका के उदाहरणों से सिद्ध होता है। इसके लिए यह ज़रूरी है कि देश का जनवादीकरण किया जाय और राष्ट्रों को स्वतंत्र विकास के अवसर मिलें।" (स्तालिन, 2012, **मार्क्सिज्म एण्ड नेशनल क्वेश्चन**, सीपीजीबी (एम-एल) द्वारा प्रकाशित, लंदन, पृ.24)

अब इसे हमारे देश के एक समकालीन उदाहरण से भी समझते हैं कि एक ऐतिहासिक मूल्यांकन और एक राजनीतिक कार्यक्रम में अन्तर होता है।

भारतीय सन्दर्भों में हम कह सकते हैं कि कश्मीर और उत्तर-पूर्व में राष्ट्रीय दमन का खात्मा भारतीय पूंजीपति वर्ग नहीं कर सकता है और इस रूप में समाजवाद के साथ ही यह सवाल हल होगा और साथ ही हम यह भी कहते हैं कि हम कश्मीरी जनता और उत्तर-पूर्व के राष्ट्रों की जनता के राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के अधिकार, यानी उनके अलग होने के अधिकार का पूर्ण समर्थन करते हैं। **इनमें से एक है एक ऐतिहासिक मूल्यांकन जैसा कि स्तालिन ने ऊपर किया है और दूसरा है एक राष्ट्रीय प्रश्न पर हमारा कार्यक्रम। पहला, दूसरे का नकार नहीं है और न ही पहले का अर्थ है कि हम राष्ट्रीय मुक्ति के सवाल को समाजवादी क्रान्ति तक स्थगित कर रहे हैं।**

दूसरी बात, यह कहना कि पंजाब एक दमित कौम है लेकिन चूंकि इस कौमी सवाल का हल भारत में समाजवादी क्रान्ति के साथ ही होगा, इसलिए हम पंजाब के अलग होने के अधिकार का सवाल नहीं उठाएंगे, बल्कि केवल भाषाई व सांस्कृतिक स्वतन्त्रता की बात करेंगे, सुखविन्दर को दोहरी गलती में ले जाता है। एक ओर सुखविन्दर पंजाब के कौमी सवाल को समाजवादी क्रान्ति तक स्थगित करने की वकालत कर रहे हैं, (न कि हम!) वहीं दूसरा, भाषाई स्वायत्तता की बात करके वह ऑस्ट्रियन ओटो बावर और बुण्डवादियों के सांस्कृतिक राष्ट्रीय स्वायत्तता के सिद्धान्त पर जा रहे हैं, जो कि भयंकर प्रतिक्रियावादी सिद्धान्त था।

एक आखिरी उदाहरण के साथ हम इस उपशीर्षक को समाप्त करेंगे, क्योंकि आज की दुनिया में वह इस प्रश्न पर स्पष्टता लाने वाला उदाहरण है। यह उदाहरण है फिलिस्तीन का।

फिलिस्तीन का राष्ट्रीय प्रश्न और वहां क्रान्ति की मंजिल: लेनिनवादी कार्यनीति का एक समकालीन सत्यापन और सुखविन्दर के त्रॉत्स्कीपंथी विचलन का सजीव खण्डन

फिलिस्तीन एक उपनिवेश है। यहां पर क्रान्ति की मंजिल राष्ट्रीय जनवादी है, जैसा कि सभी मार्क्सवादी-लेनिनवादी-माओवादी संगठन/पार्टियां मानते हैं। **फिलिस्तीन में कोई भूमि प्रश्न भी नहीं है (क्योंकि वहां सामन्ती सम्बन्ध मूलत: और मुख्यत: हल हो चुका है) और न ही किसान प्रश्न मौजूद है (क्योंकि आबादी में किसान बहुसंख्या नहीं रह गये हैं)। लेकिन फिर भी फिलिस्तीन पहले राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति के चरण में ही है, क्योंकि राजनीतिक जनवाद का प्रश्न हल नहीं हुआ है।** यहां सामन्ती सम्बन्ध भी मूलत: और मुख्यत: समाप्त हो चुके हैं और कुल आबादी में किसानों का हिस्सा भी बेहद छोटा हो गया है। सीधे तौर पर खेती में लगी हुई आबादी फिलिस्तीन में कुल कार्यशक्ति का महज़ 14 प्रतिशत है। यानी फिलिस्तीन की राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति में किसान आबादी की कोई बहुत केन्द्रीय भूमिका नहीं होने वाली है और इसलिए यहां राष्ट्रीय प्रश्न में किसान प्रश्न की कोई विशेष भूमिका नहीं है। फिलिस्तीन में एक छोटी-सी बुर्जुआजी है, जो कि उपनिवेशवाद-विरोधी है। यह मूलत: मंझोली बुर्जुआजी है। बड़े पूंजीपतियों का बड़ा हिस्सा इज़रायली कब्ज़े पर समझौतापरस्त रुख़ अपना चुका है, हालांकि वह अपने दमन से दुखी रहता है। इसके अलावा, एक हिस्सा ऐसा है जो कि दलाल है और पूरी तरह से इज़रायली पूंजीपति वर्ग की गोद में बैठ चुका है। यदि फिलिस्तीनी पूंजीपति वर्ग का कोई हिस्सा दमित न होता और न ही दलाल होता, तो फिलिस्तीन के कौमी दमन की अवधारणा ही बेकार हो जाती क्योंकि इसका अर्थ होता कि फिलिस्तीनी बुर्जुआजी को सत्ता में हिस्सेदारी मिल चुकी है। यदि कोई फिलिस्तीनी बुर्जुआजी ही न होती, यानी कोई पूंजीवादी विकास ही न होता, तो इसका अर्थ होता कि फिलिस्तीन अभी राष्ट्र के रूप में संघटित ही नहीं हुआ है क्योंकि पूंजीवाद के बिना राष्ट्र की अवधारणा ही बेकार हो जाती है। कुछ अफ्रीकी देशों में ऐसा हुआ था कि जब उनका उपनिवेशीकरण हुआ, तो वे प्राक्-पूंजीवादी मंजिल में थे। लेकिन वहां भी राष्ट्रीय चेतना सीमित पूंजीवादी विकास और एक छोटे-से कमजोर पूंजीपति वर्ग के पैदा होने के साथ ही पैदा हुई। उसके पहले उन देशों में कौम और कौमी चेतना की अवधारणा ही बेकार थी।

फिलिस्तीन पर वापस आते हैं। आज एक छोटा और कमज़ोर पूंजीपति वर्ग वहां मौजूद है, जिसका स्पष्ट तौर पर राष्ट्रीय दमन हो रहा है, उसके काम-धंधों को या तो पनपने ही नहीं दिया जाता है और यदि पनपने दिया जाता है तो उसे इजरायली पूंजीपति वर्ग के उद्योगों के लिए मध्यवर्ती मालों को पैदा करने तक सीमित कर दिया जाता है। उसके राजनीतिक प्रतिनिधियों की हत्याएं की जाती हैं, उन्हें गिरफ्तार किया जाता है, प्रताड़ित किया जाता है। यह वहां का राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग है, जिसने अलग-अलग समय पर न सिर्फ राष्ट्रीय मुक्ति के लिए लड़ने वाली पेटीबुर्जुआ पार्टियों व कम्युनिस्ट तथा

वाम संगठनों का समर्थन किया बल्कि इस लड़ाई में हिस्सेदारी भी की और आज भी वह ऐसा कर रहा है। *व्यवहार दिखला रहा है कि एक उपनिवेशीकृत देश में, जहां पर कोई भी सामन्तवाद-विरोधी कार्यभार बाकी नहीं है, केवल राष्ट्रीय प्रश्न के हल न होने के कारण राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति की मंजिल है, जिसमें राष्ट्रीय बुर्जुआजी की भी भागीदारी है, हालांकि 1960 के दशक के मुकाबले उसकी भूमिका ज्यादा ढुलमुल हुई है। इसके बावजूद इसमें मार्क्सवादी इतिहासकारों व फिलिस्तीन के विशेषज्ञों और विशेष तौर पर दुनिया भर के मार्क्सवादी-लेनिनवादी संगठनों/पार्टियों को कोई सन्देह नहीं है कि फिलिस्तीनी बुर्जुआजी एक दमित बुर्जुआजी है।* वह कितना लड़ सकती है या लड़ेगी, यह इतिहास के बहुत से सन्धिबिन्दुबद्ध (conjunctural) कारक तय करते हैं और अलग-अलग समय में इन कारकों के अनुसार इस दमित बुर्जुआजी का रवैया ज्यादा दृढ़ या ज्यादा ढुलमुल हो सकता है। **लेकिन इसका दमन निस्सन्देह एक अटल तथ्य है।**

इतिहास के ठोस उदाहरण से ही समझा जा सकता है कि यह मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धान्त है कि राष्ट्रीय प्रश्न का हल एक राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति का प्रश्न है, चाहे वह बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति के रूप में हो या जनता की जनवादी क्रान्ति के रूप में; तब भी जब कि उसका समाधान ***दमनकारी राष्ट्र या राष्ट्रों में*** समाजवादी क्रान्ति के बाद ही सम्भव हो; चाहे वहां भूमि प्रश्न व किसान प्रश्न मौजूद हों या न हों; **उस दमित राष्ट्र के लिए क्रान्ति की मंजिल तात्कालिक तौर पर राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति की ही है, जिसमें अवधारणात्मक अर्थों में चार वर्गों का ही मोर्चा बनता है, चाहे वास्तव में राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग रैडिकल तरीके से हिस्सेदारी करे या ढुलमुल तरीके से, या बेहद कमज़ोर व अशक्त होने के कारण किसी काल में कर ही न पाये। ये लेनिन व माओ की बुनियादी शिक्षाओं में से एक है, जिसे न समझना त्रॉत्स्कीपंथ के गड्ढे में गिरना है, जैसे कि सुखविन्दर गिर गये हैं। हमारे समय से फिलिस्तीन का उदाहरण इस सच्चाई को सशक्त रूप में रेखांकित कर देता है।**

4. भाषा और राष्ट्रीय दमन के सम्बन्ध के विषय में सुखविन्दर के विचार: मार्क्सवादी समझदारी से प्रस्थान और बुण्डवाद में संक्रमण

सुखविन्दर पंजाब के दमित कौम होने के पीछे पंजाबी भाषा के साथ होने वाली गैर-बराबरी के अलावा कुछ नहीं बता सकते, क्योंकि राष्ट्रीय दमन के सारतत्व का यानी बुर्जुआजी समेत पूरे राष्ट्र के दमन के मूल और बुनियादी कारक का तो वह पहले ही संहार कर देते हैं। तो उनके राष्ट्रीय दमन की पूरी अवधारणा ही पंजाबी भाषा के साथ होने वाली गैर-बराबरी के सवाल में अपचयित (reduce) हो जाती है। दूसरा सवाल चण्डीगढ़ का है जिस पर हम आगे आएंगे और इस सवाल पर भी सुखविन्दर के कौमी कट्टरपंथ और उनके द्वारा लेनिन के विचारों के विकृततिकरण को प्रदर्शित करेंगे।

यहां पर भाषाई दमन और राष्ट्रीय दमन का कारणात्मक सम्बन्ध ही पलट गया है। यानी, भाषाई दमन अपने आप में राष्ट्रीय दमन को संघटित नहीं करता है, बल्कि यदि कोई कौम उपरोक्त *राजनीतिक* पैमानों पर (यानी बुर्जुआजी के दमन, उपनिवेशीकरण और/या भूमि प्रश्न पर) दमित हो, तो यह राष्ट्रीय दमन *अक्सर* भाषाई दमन के रूप में भी सामने आता है और कई बार तो काफी गम्भीर रूप ले लेता है। **यदि कोई कौम दमित नहीं है तो उसका भाषाई दमन करके उसे दमित नहीं बनाया जा सकता है। यदि किसी कौम का भाषाई दमन किसी अन्य कौम या कौमों को करना है,**

तो पहले उस कौम को *राजनीतिक तौर पर* कौमी दमन का शिकार बनाना पड़ेगा। हम आगे दिखलाएंगे कि लेनिन ने इस बात को किस प्रकार स्पष्ट किया है।

सुखविन्दर भाषा के साथ होने वाली गैर-बराबरी और अन्याय को ही कौमी दमन करार दे देते हैं, जो कि लेनिन व स्तालिन के अनुसार बिल्कुल गलत है। पहले स्तालिन के विचारों की पड़ताल कर लेते हैं। स्तालिन स्पष्ट बताते हैं कि कौमी दमन पैदा होने और इस प्रक्रिया में भाषा के दमन व सांस्कृतिक दमन के अन्य रूपों के पैदा होने की पूरी प्रक्रिया में विकास-क्रम क्या होता है:

> "(राष्ट्रीय) संघर्ष शुरू हुआ और फैला, निश्चय ही, समूचे राष्ट्रों के मध्य नहीं, बल्कि प्रभुत्वशील व अपदस्थ राष्ट्रों के शासक वर्गों के बीच। **यह संघर्ष बहुधा दबाए गए राष्ट्रों के शहरी निम्न-पूंजीपति वर्ग द्वारा प्रभुत्वशाली राष्ट्रों के बड़े पूंजीपति वर्ग (चेक और जर्मन) के विरुद्ध चलाया जाता है, अथवा शोषित राष्ट्रों के ग्रामीण बुर्जुआ द्वारा प्रभुत्वशाली राष्ट्र के जमींदारों (पोलैण्ड में उक्रेनियन) के विरुद्ध अथवा शोषित राष्ट्रों के सम्पूर्ण "राष्ट्रीय" पूंजीपति वर्ग द्वारा प्रभुत्वशील राष्ट्रों के कुलीन शासक वर्ग (रूस में पोलैण्ड, लिथुआनिया और यूक्रेन) के विरुद्ध।**
>
> **"इसमें पूंजीपति वर्ग मुख्य भूमिका अदा करता है।**
>
> **"युवा पूंजीपति वर्ग की मुख्य समस्या बाज़ार की समस्या है। इसका उद्देश्य अपना माल बेचना है तथा दूसरे राष्ट्र के पूंजीपति वर्ग से प्रतियोगिता में विजयी होना है। अत: इसकी इच्छा है "स्वयं का", अपने "घरेलू" बाजार का अधिपत्य। बाज़ार ही वह पहली पाठशाला है जहां पूंजीपति वर्ग अपना राष्ट्रवाद का सबक सीखता है।**
>
> **"किन्तु सारी बातें बाज़ार तक ही सीमित नहीं होतीं। प्रभुत्वशाली राष्ट्र की अर्द्धसामन्ती व अर्द्धपूंजीवादी नौकरशाही इस संघर्ष में अपने तरीकों से "गिरफ्तारी और निषेधों" से दखल देती है। प्रभुत्वशाली राष्ट्र का पूंजीपति वर्ग, बड़ा हो या छोटा, अपने प्रतिद्वन्द्वियों से ज्यादा "तेज़ी" और "निर्णायकता" से निपटने की क्षमता रखता है। "ताकतें" एकबद्ध की जाती हैं और रोकने वाले कदमों की एक श्रृंखला "बाहरी" पूंजीपति वर्ग के खिलाफ चालू हो जाती हैं, जो कदम आगे चलकर दमनात्मक हो जाते हैं। संघर्ष आर्थिक क्षेत्र से हटकर राजनीतिक क्षेत्र में पहुंच जाता है। आने-जाने की स्वतंत्रता को सीमित करना, भाषा का दमन, मताधिकार में कमी, स्कूलों में रोक, धार्मिक रोक, और अनेकों बातें "प्रतिद्वन्द्वी" के सिर पर लाद दी जाती हैं।** निश्चय ही, यह कदम केवल प्रभुत्वशील राष्ट्र के बुर्जुआ वर्ग के ही स्वार्थ में नहीं, बल्कि कहना चाहिए कि शासन करने वाली नौकरशाही के निशेष जातिगत उद्देश्य को भी पूरा करने के लिए उठाये जाते हैं। परन्तु प्राप्त होने वाले फल की दृष्टि से यह बात मायने नहीं रखती; इस सन्दर्भ में पूंजीपति वर्ग और नौकरशाही हाथ से हाथ मिलाकर चलती है, चाहे ऑस्ट्रिया-हंगरी हो अथवा रूस।
>
> **"दमित राष्ट्र का पूंजीपति वर्ग जिसका हर रूप में दमन होता है, स्वाभाविक रूप से आन्दोलित होता है। यह अपने "घरेलू साथियों" से अपील करता है, "मातृभूमि" की चिल्लाहट मचाता है, अपने स्वार्थ को समूचे राष्ट्र का स्वार्थ बतलाता है। अपनी "मातृभूमि" के हित में यह अपने "देशवासियों" के बीच से एक सेना का गठन करता है। ऐसा नहीं है कि यह "साथी" हमेशा उसकी अपील पर ध्यान नहीं देते, वे**

उसके झण्डे के चारों ओर एकत्रित हो जाते हैं। ऊपर का दमन उनकों भी प्रभावित करता है और उनके असन्तोष को उकसाता है।

"इस प्रकार राष्ट्रीय आन्दोलन शुरू होता है।" (स्तालिन, **मार्क्सवाद और राष्ट्रीय प्रश्न)**

यहां "उभरते हुए पूंजीवाद" के दौर से साम्राज्यवाद के दौर के आने में जो फर्क आया है, वह सिर्फ इतना है कि उभरते हुए पूंजीवाद के दौर में दमित कौम की बुर्जुआजी कौमी आज़ादी की लड़ाई में एक अपेक्षाकृत रूप से अहम भूमिका निभा रही थी, जबकि साम्राज्यवाद के दौर में उसका यह चरित्र क्षरित होता जाता है क्योंकि वह आमूलगामी तरीके से राष्ट्रीय दमन के विरुद्ध लड़ने की शक्तिमत्ता खो बैठती है, जिसके दो कारणों पर हम ऊपर चर्चा कर चुके हैं। साम्राज्यवाद के दौर से पहले भी बुर्जुआजी कई बार ऐसी समझौतापरस्ती दिखलाती थी, जैसा कि लेनिन ने अपने 1903 के लेख 'हमारे कार्यक्रम में राष्ट्रीय प्रश्न' में दिखलाया है, लेकिन साम्राज्यवाद के दौर में यह पतन और भी बढ़ता है। बाद में, माओ भी बुर्जुआजी के राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति के मंजिल में ही ढुलमुल मित्र बनने या दोहरा चरित्र दिखलाने की चर्चा करते हैं। **इसलिए स्तालिन ऊपर जहां तक बुर्जुआजी के दमन के कौमी दमन के मूल या जड़ में होने की जो बात रहे हैं, वह केवल उभरते पूंजीवाद के दौर में ही नहीं बल्कि साम्राज्यवाद के दौर में भी लागू होता है और हर प्रकार के दमित राष्ट्र पर लागू होता है, चाहे वह किसी राष्ट्र-राज्य में हो या फिर बहुराष्ट्रीय राज्य में।** साथ ही, स्तालिन ने राजनीतिक दमन के एक रूप के तौर पर राष्ट्रीय दमन के भाषा के दमन में भी *अभिव्यक्त* होने के बारे में जो कारणात्मक क्रम बताया है, वह भी साम्राज्यवाद के दौर में भी लागू होता है: **यानी यदि कोई कौम राजनीतिक तौर पर दमित होती है, तो वह राष्ट्रीय दमन अक्सर अपने आप को भाषा के दमन के रूप में भी अभिव्यक्त करता है, न कि भाषा का दमन अपने आप में राष्ट्रीय दमन को पैदा करता है।**

कौमी दमन भाषाई दमन का आधार बन सकता है, या हर भाषाई दमन अपने आप में कौमी दमन होता है या उसका कारण होता है, इस बारे में भी स्पष्टता की आवश्यकता है। लेनिन का इस बारे में विचार बिल्कुल स्पष्ट है: **अपने आप में भाषाई दमन कौमी दमन का कारण नहीं होता है**; बल्कि कई मसलों में दमित कौमों की भाषा का दमन किया जाता है, *क्योंकि वे राजनीतिक रूप से पहले से ही दमित कौमें हैं।* लेनिन, अपनी रचना **'एक क़दम आगे, दो क़दम पीछे'** में, 1903 में हुई रूसी सामाजिक जनवादी पार्टी की दूसरी कांग्रेस (जिसके बाद पार्टी, बोल्शेविक और मेन्शेविक, इन दो धड़ों में बंट गई थी) में बुण्डवादियों के साथ भाषा के प्रश्न पर चली बहस का हवाला देते हुए यह लिखते हैं -

"युद्ध आरंभ हुआ कॉमरेड मार्तोव और बुण्डवादियों के नेता कॉमरेड लीबर के एक विवाद से (पृ. 171-72)। मार्तोव ने दलील पेश की कि "नागरिकों की समानता" काफी है। "भाषाओं की स्वतंत्रता" की बात अस्वीकार कर दी गयी। पर तुरन्त ही "भाषाओं की समानता" का प्रस्ताव पेश हो गया, और लीबर की तरफ से कॉमरेड येगोरोव भी झगड़े में शरीक हो गये। **मार्तोव ने कहा कि "जब बोलने वाले यह आग्रह करते हैं कि सब राष्ट्र समान हैं और वे असमानता को भाषाओं के क्षेत्र में देखते हैं" तो यह सरासर अन्धभक्ति** (fetishism) **है, "क्योंकि इस सवाल पर बिल्कुल उल्टे दृष्टिकोण से विचार किया जाना चाहिए: राष्ट्रों के बीच की असमानता है और उसका एक प्रमाण यह भी है कि कुछ राष्ट्रों के लोगों को अपनी मातृभाषा का प्रयोग करने के अधिकार से वंचित कर दिया गया है" (पृ. 172)। इस मामले में मार्तोव की यह बात सोलहों आने सच थी।** लीबर और येगोरोव की इस बात पर अड़े रहने की सरासर बेबुनियाद कोशिश कि उनका मसौदा ही सही है और उनकी यह साबित करने की बेबुनियाद कोशिश कि हम लोग राष्ट्रों के समानता के

सिद्धान्त का या तो पालन करना नहीं चाहते या कर नहीं सकते, सचमुच एक तरह की अन्धभक्ति (**fetishism**) थी।" (लेनिन, **1985, एक कदम आगे दो कदम पीछे,** प्रगति प्रकाशन, मॉस्को, पृ. 41-42)

लेनिन ने सुखविन्दर जैसा तर्क देने वालों को भाषाई अन्धभक्त (linguistic fetishist**) कहा है। सुखविन्दर यहां सीधे बुण्डवाद के गड्ढे में कूद गये हैं और वही बात कह रहे हैं जो कि लीबर और येगोरोव जैसे बुण्डवादी कह रहे थे। अपने आप में भाषाई दमन कौमी दमन का कोई कारण नहीं होता, बल्कि कौमी दमन के अधिकांश मसलों में दमित कौम की भाषा का भी दमन होता है, लेकिन ठीक इसलिए क्योंकि वह दमित कौम है। यानी, सुखविन्दर सिर के बल खड़े हैं।**

अब ज़रा सुखविन्दर के सिद्धान्त को भारत की हिन्दी पट्टी पर लागू करते हैं।

हिन्दी पट्टी में भी एक मज़दूर से लेकर एक पूंजीपति तक अपने बच्चे को अंग्रेजी के स्कूलों में पढ़ा रहा है। सरकारी स्कूलों में हिन्दी में पढ़ने का विकल्प उपलब्ध है, मगर सभी अंग्रेजी माध्यम में अपने बच्चों को पढ़ा रहे हैं। और निजी स्कूलों में तो हिन्दी बोलने पर सज़ा मिलती है! यहां तक कि खुद सरकारी स्कूलों में अंग्रेजी माध्यम थोपा तो नहीं जाता, लेकिन अध्यापकों द्वारा हिन्दी विषय को छोड़कर अन्य विषयों को पढ़ाने में अंग्रेजी के इस्तेमाल को बाकायदा प्रोत्साहित किया जाता है। और यह काम खुद हिन्दी पट्टी के शासक वर्ग द्वारा किया जाता है। **अब अगर सुखविन्दर की तर्क पद्धति से चलें तो उसके अनुसार हिन्दी पट्टी का इंग्लैण्ड, अमेरिका, कनाडा या ऑस्ट्रेलिया में से कोई या सभी मिलकर कौमी दमन कर रहे हैं! ऐसा नतीजा क्यों न निकाला जाय, जबकि सुखविन्दर पंजाब के बारे में ऐसे नतीजे निकालते हैं?**

हमने यह रूपक केवल इसलिए पेश किया ताकि पाठक समझ सकें कि यह महोदय अपने कौमवाद और बुण्डवाद में बहकर कैसी बौद्धिक दिवालियेपन वाली बातें कर रहे हैं।

पंजाब में पंजाबी भाषा के साथ असमानतापूर्ण बर्ताव और अन्याय कौन कर रहा है और क्यों कर रहा है?

सवाल यह भी उठता है कि जब पंजाब में पंजाबी को पहले ही आधिकारिक/सरकारी भाषा (official language) का दर्जा हासिल है और केन्द्र सरकार द्वारा हिंदी पंजाब में शिक्षा के किसी भी स्तर पर बाध्यताकारी भाषा नहीं बनायी गई है, **तो फिर पंजाबी भाषा का दमन कर कौन रहा है?** यह दमन या अन्याय पंजाब के प्राईवेट अंग्रेजी व हिन्दी माध्यम स्कूलों में हो रहा है, जो कि अधिकांशत: शिक्षा क्षेत्र की पंजाबी बुर्जुआजी के ही हाथ में है। साथ ही, पंजाब के सरकारी स्कूलों में भी स्वयं पंजाब की राज्य सरकार कुछ विषयों को पढ़ाने में अंग्रेजी को प्राथमिकता देने के लिए शिक्षकों को प्रोत्साहित कर रही है, ठीक उसी प्रकार जैसे कि हिन्दी पट्टी के सरकारी हिन्दी माध्यम स्कूलों में किया जा रहा है। लेकिन यह फैसला भी *खुद पंजाबी बुर्जुआजी और उसके राजनीतिक नुमाइन्दे* कर रहे हैं, कोई केन्द्रीय सरकार उन पर नहीं थोप रही है। **पंजाबी बुर्जुआजी स्वयं ही क्यों पंजाबी भाषा का दमन कर रही है या उसके साथ असमानतापूर्ण बर्ताव क्यों कर रही है**? इसके तीन कारण हैं।

पहला, इसलिए क्योंकि पंजाबी बुर्जुआजी को जिस श्रमिक वर्ग का शोषण करना है, वह अधिकांशत: गैर-पंजाबीभाषी है। अगर हिन्दीभाषी मज़दूरों को छोड़ भी दें, तो उड़िया या बांग्लाभाषी मज़दूरों से भी पंजाबी बुर्जुआजी को अपने फार्मों से लेकर कारखानों तक में हिन्दी में ही बात करनी होती है क्योंकि न तो गैर-पंजाबी भाषी मज़दूर पंजाबी बोल सकते हैं

और न ही पंजाबी बुर्जुआ वर्ग उडिया या बांग्ला बोल सकता है। अब पंजाबी बुर्जुआजी पहले पंजाबी की कोई परीक्षा तो रख नहीं सकती सारे मज़दूरों के लिए! उसे फौरन बेशी मूल्य पैदा करना है, अन्यथा वह प्रतिस्पर्द्धा में पिछड़ जाएगी। इसलिए ऐसी किसी अर्हता (eligibility) की शर्त रखने का विरोध सबसे पहले पंजाबी बुर्जुआजी ही कर देगी। इसलिए सुखविन्दर बेकार ही बेगाने की शादी में अब्दुल्ला दीवाना बन रहे हैं!

दूसरा कारण यह है कि पंजाबी बुर्जुआजी को अपने माल के मूल्य (बेशी मूल्य समेत) का वास्तवीकरण (realization) सबसे ज्यादा पंजाब के बाहर करना है, क्योंकि उसके खरीदार वर्ग का सबसे बड़ा हिस्सा पंजाब के बाहर है। नतीजतन, उसे इस कार्य के लिए भी गैर-पंजाबी वाणिज्यिक पूंजीपति वर्ग से सौदेबाज़ी व अन्तर्क्रिया के लिए और साथ ही उपभोक्ताओं में अपने माल के प्रचार व प्रमोशन तक के लिए हिन्दी या अंग्रेजी भाषा की जरूरत पड़ती है। नतीजतन, पंजाबी बुर्जुआजी को पंजाब में भी एक ऐसी कार्यशक्ति की आवश्यकता होती है, जो कि हिन्दी व अंग्रेजी जानती हो।

तीसरा कारण, पंजाब में *रेमिटेंस* अर्थव्यवस्था की भूमिका। भारत में 2017-18 में 80 अरब डॉलर बाहर काम करने वाले भारतीयों के ज़रिये आये। इसमें केरल और तमिलनाडु के बाद सबसे ज्यादा हिस्सा पंजाब में आया। यह सच है कि यह सीधे निवेश में नहीं जाता है, बल्कि परिवारों के पास आता है। लेकिन **तीन प्रकार** से यह इलाकों की अर्थव्यवस्था में एक अहम भूमिका अदा करता है। *पहला* है कर्जों की अदायगी, जो कि वित्तीय पूंजी को लाभ पहुंचाती है; *दूसरा* है अप्रत्यक्ष तरीके से इस निधि का खेती व कारोबार में निवेश होना; और *तीसरा* है उपभोग के लिए प्रभावी मांग (effective demand) का बढ़ना। पंजाब से भारी संख्या में नौजवानों व मज़दूरों का आप्रवास होता है। बाहर आप्रवासन के लिए अंग्रेजी सीखने की ज़रूरत होती है, नतीजतन, पंजाबी टटपुंजिया और मध्यवर्ग स्वयं *बिना किसी ज़ोर-ज़बर्दस्ती के* अपने बच्चों को अंग्रेजी माध्यम में पढ़ाना चाहता है। पंजाबी बुर्जुआजी भी यही चाहती है। *पूंजीवादी उत्पादन व्यवस्था की गतिकी ने स्वयं ही पंजाबी बुर्जुआजी के लिए और काफी हद तक आम पंजाबी मध्यवर्गीय व मेहनतकश जनता के लिए भी हिन्दी और/या अंग्रेजी को सीखने की अनिवार्यता पैदा कर दी है।* केन्द्र सरकार उन पर हिन्दी या अंग्रेजी सीधे नहीं थोप रही है, हालांकि केन्द्र सरकार हिन्दी को प्रमोट आदि करने का काम करती रहती है क्योंकि भारत के राष्ट्रीय रूप से मिश्रित पूंजीपति वर्ग के लिए भी आर्थिक तौर पर यह जरूरी होता है, जिसमें कि *खुद पंजाबी बुर्जुआजी भी शामिल है।* लेकिन इन सबके बावजूद अन्तत: हमेशा ही हिन्दी को किसी भी स्तर पर बाध्यताकारी भाषा के रूप में गैर-हिन्दीभाषी राज्यों में थोपने के कदमों को वापस लेना पड़ता है क्योंकि इन सभी राज्यों में दमित कौमें नहीं रहती हैं, उनकी बुर्जुआजी दमित नहीं है, और इसी वजह से ये कदम कभी कामयाब नहीं हो पाये। अमित शाह ने जब हिन्दी को राष्ट्रीय भाषा बनाने की बात की तो अगले ही दिन अन्य राज्यों से हुए प्रतिरोध की वजह से उसे तुरन्त ही सफाई देनी पड़ी। यदि गैर-हिन्दीभाषी कौमें दमित होतीं तो इसकी कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। इसके लिए भी आप **अमलेन्दु गुहा** का वह निबन्ध पढ़ सकते हैं जिसका हम ऊपर जिक्र कर चुके हैं।

इसलिए सच्चाई यह है कि न सिर्फ पंजाब में बल्कि अन्य सभी गैर-हिन्दीभाषी प्रान्तों में अलग-अलग हदों तक कामकाजी आबादी बिना किसी ज़ोर-ज़बर्दस्ती के भी हिन्दी व अंग्रेजी को सीख रही है। स्वयं हिन्दी पट्टी में व्यापक आम आबादी अपने बच्चों को हिन्दी की बजाय अंग्रेजी माध्यम में पढ़ा रही है और इस रूप में हिन्दी भाषा का भी दमन हो रहा है। निजी स्कूलों में हिन्दी बोलने पर मार पड़ती है, जो स्कूल स्वयं हिन्दी पट्टी की बुर्जुआजी के मालिकाने में हैं। **लेकिन यह कोई कौमी दमन नहीं है, वरना सुखविन्दर को कहना चाहिए कि हिन्दी पट्टी का इंग्लैण्ड या अमेरिका द्वारा कौमी दमन किया जा रहा है! या फिर यह कहना पड़ेगा कि हिन्दी पट्टी स्वयं अपना कौमी दमन कर रही है और पंजाबी कौम स्वयं अपना कौमी दमन कर रही है। इन हास्यास्पद नतीजों पर पहुंचने के अलावा सुखविन्दर के पास और कोई रास्ता नहीं बचता है। इसलिए भाषाई दमन की बात करते वक़्त भी सुखविन्दर को यह तो**

बताना पड़ेगा कि पंजाब में पंजाबी भाषा का दमन कर कौन रहा है? साथ ही सुखविन्दर को यह भी बताना पड़ेगा कि "विभिन्न राष्ट्रीय भाषाओं में शिक्षा पर रोक लगायी जाती है, इन *भाषाओं के स्कूल* बन्द किये जाते हैं", जैसा कि वह यहाँ कह रहे हैं, यह पंजाब में किसके द्वारा किया जा रहा है? वैसे अलग-अलग भाषाओं के अलग-अलग स्कूलों की मांग करना वास्तव में लेनिनवादी अवस्थिति है ही नहीं, यह एक बुण्डवादी अवस्थिति है। इस पर चर्चा करने से पहले एक और नुक्ते पर बात करना ज़रूरी है।

'ललकार-प्रतिबद्ध' ग्रुप यह मांग भी उठाता रहा है कि पंजाब में रोज़गार की भाषा निजी व सरकारी दोनों ही क्षेत्रों में पंजाबी बनाई जाय। निजी क्षेत्र में पंजाबी को रोज़गार की भाषा बनाने की मांग का अर्थ है कि पंजाब में निजी क्षेत्र में नौकरी पाने के लिए भी पहले पंजाबी सीखनी होगी। पहली बात तो यह मांग स्वयं पंजाबी बुर्जुआजी, मध्यवर्ग और टटपुंजिया वर्ग ही ठुकरा देगा और यह बेहद अव्यावहारिक किस्म की मांग है। **लेकिन मुख्य बात इसका अव्यावहारिक होना नहीं है, बल्कि इसका प्रतिक्रियावादी होना है।** यह मांग वास्तव में पूंजीवादी व्यवस्था द्वारा प्रवासन की स्वाभाविक प्रक्रिया को बाधित करने वाली मांग है और इस मांग और महाराष्ट्र नवनिर्माण सेना द्वारा उठाई जाने वाली मांग में कोई अन्तर नहीं है, जो कहती है कि महाराष्ट्र में नौकरियों के लिए मराठी को पूर्वशर्त बनाओ। यह वैसा ही होगा जैसे कि तमिलनाडु, केरल, कर्नाटक, आंध्रप्रदेश, तेलंगाना, उड़ीसा, आदि में काम-धंधे के लिए जाने वाली पंजाबी आबादी को यह कहा जाए कि वह पहले तमिल, मलयालम, कन्नड़, तेलुगू या उडिया सीखे और उसके बाद ही उन्हें इन राज्यों में काम करने दिया जायेगा। **यह भयंकर प्रतिक्रियावादी कौमी कट्टरपंथी अवस्थिति है।**

जहां तक पंजाब में सरकारी नौकरियों का सवाल है, तो पंजाब राज्य सरकार की नौकरियों की अर्हता शर्तों में पंजाबी भाषा पहले से ही शामिल है। निम्न उद्धरण को देखें, जो कि इस विषय में पंजाब राज्य की सरकारी नौकरियों पर एक नियम के रूप में लागू होता है। "GOVERNMENT OF PUNJAB DEPARTMENT OF PERSONNEL AND ADMINISTRATIVE REFORMS (PERSONNEL POLICIES BRANCH-1) NOTIFICATION The 4th May, 1994" का यह अंश पढ़ें – "Knowledge of Punjabi Language. – No person shall be appointed to any post in any service by direct appointment unless he has passed Matriculation Examination with Punjabi as one of the compulsory or elective subjects or any other equivalent examination in Punjabi Language, which may be specified by the Government from time to time: Provided that where a person is appointed on compassionate grounds on priority basis under the instructions issued in this behalf by the Government from time to time, the person so appointed shall have to pass an examination of Punjabi Language equivalent to Matriculation standard or he shall have to qualify a test conducted by the Language Wing of the Department of Education of Punjab Government within a period of six months from the date of his appointment: Provided further that where educational qualifications for a post in any service are lower than the Matriculation standard, then the person so appointed shall have to pass an examination of Punjabi Language equivalent to Middle standard: Provided further that where a War Hero, who has been discharged from defence service or para-military forces on account of disability suffered by him or her widow or dependent member of his family, is appointed under the instructions issued in this behalf by the Government, the person so appointed will not be required to possess aforesaid knowledge of

Punjabi language: Provided further that where a ward of Defence Service Personnel, who is a bona fide resident of Punjab State, is appointed by direct appointment, he shall have to pass an examination of Punjabi Language equivalent to Matriculation Standard or he shall have to qualify a test conducted by the Language Wing of the Department of Education of Punjab Government within a period of two years from the date of his appointment."

यानी कि पंजाब राज्य सरकार की नौकरियों में पंजाबी भाषा का ज्ञान पहले ही एक पूर्वशर्त है। यह सही है या ग़लत इस पर आगे आएंगे।

जहां तक इस मांग का सवाल है कि पंजाब में केन्द्रीय सरकार की नौकरियों के लिए भी पंजाबी को पूर्वशर्त बनाया जाय, तो यह मांग ही गैर-जनवादी है। चाहें देश का राजकीय ढांचा फेडरेशन हो या यूनियन हो, हर प्रान्त में भी कुछ कार्य केन्द्रीय यूनियन सरकार के भी होंगे। यह समाजवादी व्यवस्था में भी होगा ही। इन कार्यों के लिए एक देशव्यापी केन्द्रीय परीक्षा ही रखी जा सकती है, जिसे *देश की सभी भाषाओं में उपलब्ध कराने की मांग एक सही जनवादी मांग है।* मिसाल के तौर पर, महाराष्ट्र की केन्द्रीय सरकार की नौकरियों में एक पंजाबी व्यक्ति के लिए मराठी भाषा को पूर्वशर्त बनाना, कतई गैर-जायज है। हां, यह ज़रूर है कि इस परीक्षा के लिए भी पंजाबी में परीक्षा देने का विकल्प उपलब्ध होना चाहिए। अभी अधिकांश केन्द्रीय नौकरियों में या तो हिन्दी और अंग्रेजी का विकल्प मौजूद है, या कइयों में तो सिर्फ अंग्रेजी का विकल्प ही मौजूद है। और तो और, सुप्रीम कोर्ट में आज तक हिन्दी समेत किसी भी भारतीय भाषा में कार्रवाई का अधिकार नहीं प्राप्त है। वहां केवल और केवल अंग्रेजी में ही कार्रवाई हो सकती है। **तो क्या यह हिन्दीभाषियों का इंग्लैण्ड द्वारा कौमी दमन है? ऐसा प्रचण्ड मूर्खतापूर्ण नतीजा सुखविन्दर ही निकाल सकते हैं, जो कौमवाद के कीचड़ में इस कदर लथपथ हो गये हैं कि उन्हें सामान्य सी बातें भी नहीं समझ आ रही हैं।** लुब्बेलुबाब यह कि निजी रोज़गार या केन्द्रीय सरकार के रोज़गार में पंजाबी भाषा को पूर्वशर्त बनाने की मांग प्रतिक्रियावादी, अनैतिहासिक व अव्यावहारिक मांग है और सीधे सर्वहारा वर्ग और आम मेहनतकश जनता के खिलाफ जाती है।

जहां तक पंजाब राज्य सरकार की नौकरियों का प्रश्न है, तो वहां भी परीक्षा *सभी देशी भाषाओं में* (यानी पंजाबी भाषा के साथ-साथ सभी अल्पसंख्यक राष्ट्रीयताओं व भाषाई समुदायों की भाषा में) होनी चाहिए, वरना वह उन क्षेत्रों के अल्पसंख्यक राष्ट्रीयताओं व भाषाई समुदायों के साथ अन्याय होगा, जिनकी मातृभाषा पंजाबी नहीं है। इसलिए लेनिन व स्तालिन का अनुसरण करते हुए राज्य सरकार की नौकरियों में भी पंजाबी कौम के अलावा पंजाब में रहने वाली भी अल्पसंख्यक राष्ट्रीयताओं और भाषाई समुदायों की भाषाओं में परीक्षा का प्रावधान होना चाहिए, *यानी सभी native languages में।* मिसाल के तौर पर, अबोहर-फजिल्का में दर्जनों गांवों में हिन्दीभाषी रहते हैं और उन्हें भी अपनी भाषा में रोज़गार व शिक्षा का हक मिलना चाहिए। यदि आप इस जनवादी सिद्धान्त के खिलाफ हैं, तो 'सुसंगत जनवाद' का ढोल बजाना बन्द कर दीजिये और कनाडा में पंजाबियों को पंजाबी भाषा का हक मिलने पर तालियां पीटना बन्द कर दीजिये और न ही दिल्ली के लिए यह मांग करिये कि सारे साइनबोर्ड पंजाबी में भी लगने चाहिए (हालांकि 90 प्रतिशत साइनबोर्ड दिल्ली में पंजाबी भाषा में भी हैं)। **यदि आप ऐसा नहीं करते तो एक हज़ार एक कारण है कि आपको कौमवादी कट्टरपंथी ही कहा जाय।**

क्या अलग-अलग भाषाओं के स्कूलों की मांग करना लेनिनवादी अवस्थिति है?

लेनिन ने बुण्डवादियों की इस मांग का कि यिडिश भाषा में अध्ययन के लिए अलग यिडिश स्कूल होने चाहिए, का सख्त विरोध किया था। किसी एक प्रान्त में भी, केवल उस प्रान्त में रहने वाली प्रमुख कौम की कौमी भाषा में नहीं, बल्कि लेनिन उस प्रान्त में रहने वाली सभी कौमों या अल्पसंख्यक राष्ट्रीयताओं की भाषाओं में अध्ययन की व्यवस्था की मांग करते हैं।

लेनिन का मानना था कि किसी भी क्षेत्र में रहने वाले सभी राष्ट्रों व राष्ट्रीयताओं तथा अन्य समुदायों के लोगों को उस क्षेत्र के स्कूलों में अपनी भाषा में पढ़ने का हक़ मिलना चाहिए। एक सुसंगत जनवादी व्यवस्था का यह बुनियादी उसूल है। वे राष्ट्रीयताओं के अनुसार स्कूलों के गठन के खिलाफ थे। जहां कहीं भी राष्ट्रों के अपने स्कूलों की बात स्वयं लेनिन या स्तालिन करते हैं, ***वहां उनका मतलब उन स्कूलों में कर्मचारियों की भर्ती को लेकर है***, ***जिसके अनुसार***, ***हर राष्ट्र के क्षेत्र में स्कूलों के प्रबंधन व उसके पर्सनेल की भर्ती उसी क्षेत्र से होनी चाहिए।*** जहां तक भाषाओं का प्रश्न है, लेनिन व स्तालिन दोनों का ही मानना था कि अलग-अलग कौमों के लिए अलग स्कूल, जो कि सिर्फ उस कौम की भाषा में ही शिक्षण का विकल्प देते हों, मार्क्सवादी-लेनिनवादी नज़रिये से ही नहीं बल्कि सुसंगत जनवादी नज़रिये से भी ग़लत हैं। बुण्डवादियों की यह मांग थी कि यहूदियों के लिए अलग यिडिश स्कूलों की स्थापना हो। उनका कहना था कि अगर अलग-अलग कौमों के बच्चे अलग-अलग स्कूलों में पढ़ेंगे तो इससे कौमी टकराव कम होगा (सुखविन्दर भी तेज़ी से स्कूलों से लेकर प्रवास के मामले तक में इस मूर्खतापूर्ण अवस्थिति की ओर जा रहे हैं; लेनिन के अनुसार राष्ट्रीय टकराव कम करने का यह टटपुंजिया कौमवादी तरीका वास्तव में राष्ट्रीय टकरावों को बढ़ावा देगा)। लेनिन ने अलग-अलग भाषा व कौम के स्कूलों द्वारा कौमी झगड़ों के खत्म करने की बुण्डवादी व सांस्कृतिक-राष्ट्रीय स्वायत्ततावादी योजनाओं की निम्न शब्दों में खिल्ली उड़ाई थी:

> "उस देश में हाल ही में यहूदी स्कूलों का राष्ट्रीकरण करने की एक योजना मंत्रालय में उठाई गयी थी। खुशी की बात है, कि यह प्रतिक्रियावादी यूटोपिया वास्तविकता में तब्दील होने की उम्मीद ऑस्ट्रियाई टटपुंजिया वर्ग के यूटोपिया से ज्यादा नहीं है जिन्होंने कि सुसंगत जनवाद को हासिल करने की या राष्ट्रीय झगड़ों को समाप्त करने की आशा त्याग दी थी और जिन्होंने राष्ट्रों के लिए अब अलग राष्ट्रीय स्कूल-शिक्षा विभागों का आविष्कार किया है, ताकि उन्हें स्कूलों के वितरण पर लड़ने से रोका जा सके... **लेकिन इसके ज़रिये उन्होंने एक "राष्ट्रीय संस्कृति" से दूसरी "राष्ट्रीय संस्कृति" के अन्तहीन झगड़े के लिए अपने आपको "संघटित" कर लिया है।**" (लेनिन,1977, 'क्रिटिकल रिमार्क्स ऑन दि नेशनल क्वेश्चन', **संग्रहीत रचनाएं**, **खण्ड 20**, प्रगति प्रकाशन, मॉस्को, पृ. 37, अंग्रेजी संस्करण, *ज़ोर हमारा*)

लेनिन इसी रचना में निम्न शब्दों में यह स्पष्ट करते हैं कि एक सुसंगत जनवादी व्यवस्था में हर स्कूल में उस क्षेत्र में रहने वाले सभी राष्ट्रों और राष्ट्रीयताओं के छात्रों के लिए अपनी-अपनी भाषा में पढ़ने की सुविधा उपलब्ध होनी चाहिए। यह न केवल सही है, बल्कि यही अधिक व्यावहारिक भी है।

> "और फिर भी, यदि उस देश के संविधान में एक बुनियादी कानून हो जो ऐसे हर कदम को अवैध बना देता हो जो कि किसी अल्पसंख्यक समुदाय के अधिकारों का उल्लंघन करता हो, तो कोई भी नागरिक ऐसे आदेशों को वापस लेने की मांग कर सकता है, जो मिसाल के तौर पर, राज्य के खर्चे पर, हीब्रू, यहूदी इतिहास इत्यादि के विशेष अध्यापकों की भर्ती, या राजकीय प्रांगणों में यहूदी, आर्मेनियाई, या रूमानियाई बच्चों के लिए, या ***केवल एक जॉर्जियन बच्चे के लिए*** व्याख्यानों की सुविधा पर रोक लगाता हो। किसी भी सूरत में, समानता

> के आधार पर, राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों की हर मांग को पूरा करना असंभव होगा, और कोई यह नहीं कहेगा कि समानता की वकालत करना नुकसानदेह है। दूसरी ओर, कौमों के आधार पर स्कूलों के विभाजन की वकालत करना, मिसाल के तौर पर, से. पीटर्सबर्ग में यहूदी बच्चों के लिए अलग स्कूलों की वकालत करना निश्चित तौर पर नुकसानदेह होगा, और यह एकदम असम्भव होगा कि हर राष्ट्रीय अल्पसंख्या के एक, दो या तीन बच्चों के लिए अलग स्कूलों की स्थापना की जाय।" (वही, पृ. 44)

जैसा कि आप देख सकते हैं, **लेनिन एक ही स्कूल में सभी कौमों और सभी भाषाओं के छात्रों के लिए अध्यापन की समुचित व्यवस्था की मांग को एक सही सुसंगत जनवादी मांग मानते हैं।**

निम्न उद्धरण में लेनिन बताते हैं कि ***रूसी मार्क्सवादी किसी भी जगह किसी भी आधिकारिक भाषा का निषेध करते हैं और हर जगह सभी स्थानीय भाषाओं में स्कूलों में अध्यापन व शिक्षण-प्रशिक्षण की सुविधा की मांग उठाते हैं।*** गौर करें कि लेनिन यहां हर क्षेत्र में वहां की मुख्य कौम की कौमी भाषा में अध्यापन व शिक्षण की मांग नहीं रख रहे हैं, बल्कि उस क्षेत्र की मुख्य कौम समेत सभी अल्पसंख्यक राष्ट्रीयताओं की भाषा में शिक्षण-प्रशिक्षण की मांग उठा रहे हैं:

> "इसीलिए रूसी मार्क्सवादी कहते हैं कि कोई भी बाध्यताकारी आधिकारिक भाषा नहीं होनी चाहिए, कि **आबादी को ऐसे स्कूल दिये जाने चाहिए, जहां पर सभी स्थानीय भाषाओं में पढ़ाई हो, कि एक बुनियादी कानून संविधान में लाया जाना चाहिए जो कि किसी भी एक राष्ट्र के लिए सभी विशेषाधिकारों और राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों के अधिकारों के सभी उल्लंघनों को अवैध घोषित कर देगा।**" (लेनिन, 'इज़ ए कम्पल्सरी ऑफिशियल लैंगुएज नीडेड?, वही, पृ. 73, *ज़ोर हमारा*)

यह है लेनिन का नज़रिया। अब पाठक स्वयं ही इसकी सुखविन्दर के "भाषा के स्कूलों" के नजरिये से तुलना कर सकते हैं। **सुखविन्दर की अवस्थिति लेनिनवादी अवस्थिति नहीं बल्कि लीबर और येगोरोव जैसे बुण्डवादियों की अवस्थिति है। इस प्रकार सुखविन्दर अपने बुण्डवादी निर्वाण को प्राप्त होते हैं।**

इस विषय पर एक अलग उपशीर्षक में बताएंगे कि अलग-अलग प्रान्तों में भी किसी आधिकारिक भाषा के होने का लेनिन या स्तालिन ने कभी समर्थन नहीं किया था, जैसा कि सुखविन्दर को लगता है। सुखविन्दर को 'native languages' और 'official language' में फर्क ही नहीं समझ में आया है। **यह समझने की अक्षमता है, जो सुखविन्दर अक्सर ही दिखलाते हैं और हम जल्द ही पंजाब के एक बुद्धिजीवी जगरूप पर उनके द्वारा दिये गये आलोचनात्मक व्याख्यान की आलोचना रखते हुए भी यह दिखलाएंगे कि वह सामान्य बातों को भी पढ़कर समझ नहीं पाते हैं।** खैर, अभी देखते हैं कि उन्होंने 'देशी भाषाओं' और 'आधिकारिक भाषा' को कैसे गड्ड-मड्ड किया है।

तो इस प्रकार सुखविन्दर ने अपने झूठों से सोवियत संघ की भाषा नीति को ही पलट दिया!

सुखविन्दर भाषा के प्रश्न पर अपनी बात रखते हुए लिखते हैं कि

> "स्तालिन द्वारा राष्ट्र की जो परिभाषा बतायी गयी है, उसमें राष्ट्र की जो चार विशिष्टताएँ बतायी गयी हैं, उनमें भाषा का पहला स्थान है। किसी राष्ट्र को ख़त्म करने, उसे अपने अधीन बनाये रखने के लिए दमनकर्ताओं के

लिए ज़रूरी होता है, कि उस दमित राष्ट्र की भाषा को कुचला जाये, उसे ख़त्म किया जाये। भले ही ये दमनकर्ता अक्सर इस में सफल नहीं होते।" (सुखविन्दर, 'राष्ट्रीय प्रश्न और मार्क्सवाद', प्रतिबद्ध-33)

पहली बात तो यह कि ऐसा हमेशा ज़रूरी नहीं होता है। नॉर्वे की भाषा का स्वीडन द्वारा कोई दमन नहीं किया जा रहा था और उसका अलग राष्ट्र-राज्य के रूप में अस्तित्व में आना शुद्धत: नार्वे की बुर्जुआजी का राजनीतिक राष्ट्रीय दमन था, जिस पर हम ऊपर बात कर चुके हैं। राष्ट्र को कौन से तत्व संघटित करते हैं, इससे ही यह तय नहीं हो जाता कि राष्ट्रीय दमन उन तत्वों में से किसी एक के दमन से ही हो जाता है। मिसाल के तौर पर, कोरोना संक्रमण का एक लक्षण बुखार होता है, लेकिन हर बुखार कोरोना संक्रमण नहीं होता है! यह दीगर बात है कि सुखविन्दर किसी प्रकार के बुखार को कोरोना संक्रमण नहीं मानते हैं! खैर, आगे बढ़ते हैं।

राष्ट्रीय दमन के मूल में राजनीतिक कारक होते हैं (बुर्जुआजी का दमन) जो कि *अधिकांश मामलों में* अपने आपको भाषाई दमन के रूप में *भी* अभिव्यक्त करता है। लेकिन भाषा के साथ अन्याय का हरेक मसला अपने आप में कौमी दमन नहीं होता है, जैसा कि हम ऊपर दिखला चुके हैं।

क्या भाषा के दमन के बिना भी राष्ट्र का दमन सम्भव है? हां, बिल्कुल है। क्या राष्ट्र के दमन के बिना भाषा का दमन सम्भव है? हां, यह भी सम्भव है। दोनों की ही कई मिसालें दी जा सकती हैं। दोनों को एक-दूसरे में अपचयित (reduce) नहीं किया जा सकता है, हालांकि दोनों के बीच अधिकांश मामलों में एक रिश्ता होता है। **लेकिन इस रिश्ते में कारणात्मक प्राथमिकता हमेशा कौम के राजनीतिक तौर पर दमन की होती है, जैसा कि लेनिन ने मार्तोव के साथ सहमति जताते हुए कहा था। यानी भाषाई दमन अपने आप में कौमी दमन को नहीं पैदा करता है, बल्कि कोई कौम राजनीतिक तौर पर दमित होती है, तो उसकी भाषा का भी अधिकांशतया दमन होता है, जैसा कि हमने ऊपर स्तालिन और लेनिन के विचारों के हवाले से दिखलाया है।** खैर, आगे बढ़ते हैं।

हमने अब तक की अपनी चर्चा में बार-बार इस ओर पाठक का ध्यान आकर्षित किया है कि किस तरह सुखविन्दर राष्ट्रीय दमन की पूरी परिघटना का विराजनीतिकरण (depoliticization) और विआर्थिकीकरण (de-economization) करते हैं और उसका सांस्कृतिकीकरण (culturalization) करके उससे महज़ भाषा-संस्कृति के दायरे की एक श्रेणी में बदल देते हैं। उपरोक्त उद्धरण में आप देख सकते हैं कि सुखविन्दर कैसे राष्ट्रीय दमन के तथ्य को सर के बल खड़ा कर देते हैं। अपने 107 पन्नों के इस लेख में सुखविन्दर ने एक बार भी अपने से नहीं बताया कि राष्ट्रीय दमन होता क्या है, हालांकि अपने लेख में दो शीर्षक इन्होंने इसी नाम से लिखे हैं! और यहाँ पर भी वह बता रहे हैं कि कोई दमनकारी राष्ट्र अगर किसी राष्ट्र को अधीन बनाना चाहता है तो उसके लिए ज़रूरी होता है कि वह उस दमित राष्ट्र की भाषा को ही ख़त्म कर दे। **लेकिन सुखविन्दर साहब! यह तो प्रभाव** (effect) **है, इसका कारण** (cause) **कहाँ है? जी हाँ, वही कमबख्त कार्य-कारण सिद्धांत जो बचपन में विज्ञान में पढ़ते थे!** यह तो कोई बच्चा भी बता सकता है कि दमित कौमों का जब कौमी दमन होता है, तो उनकी भाषा से लेकर संस्कृति और इतिहास तक को आम तौर पर दमनकारी राष्ट्र द्वारा दबाया और मिटाया जाता है, ब्रिटिश उपनिवेशवादियों ने भारत में ऐसा ही करने की कोशिश की थी और उपनिवेशवाद ने आम तौर पर भी हर जगह ऐसा ही किया है। *लेकिन राष्ट्रीय दमन की **शुरुआत** यहाँ से नहीं होती है। लेकिन उस पर आप कुछ बोलना ही नहीं चाह रहे हैं। इसलिए कहानी को शुरू से शुरू करने की आदत डालिए। यूनानी त्रासदियों के कथात्मक वर्णन में इस्तेमाल होने वाले साहित्यिक उपकरण की तरह चीज़ों को बीच में से शुरू न करें (in medias res)।* **कहीं ऐसा न हो कि सैद्धांतिक लेखन का यह प्रयास वाकई किसी त्रासदी में ख़त्म हो!**

इसके बाद सुखविन्दर ने यह दावा पेश किया है कि एक बहुराष्ट्रीय देश के पैमाने पर तो एक आधिकारिक/सरकारी भाषा का विरोध लेनिन द्वारा किया गया था, लेकिन यह किसी एक राष्ट्रीय क्षेत्र/राज्य पर लागू नहीं होता है। देखें सुखविन्दर क्या लिखते हैं-

> "पर सरकारी भाषा के बारे में लेनिन के विचार एक बहुराष्ट्रीय देश पर लागू होते हैं, एक राष्ट्रीय देश, या बहुराष्ट्रीय देश में किसी एक राष्ट्रीय इलाक़े पर नहीं। एक बहुराष्ट्रीय देश में कोई लाज़िमी सरकारी भाषा नहीं होनी चाहिए क्योंकि इसका मतलब होगा देश में बसने वाले अन्य राष्ट्रों पर भाषा आधारित या राष्ट्रीय दमन। पर इस देश में बसने वाले किसी राष्ट्र के घर या इलाक़े में उसकी भाषा सरकारी भाषा हो सकती है या होनी चाहिए। सोवियत यूनियन बनने के बाद इसमें शामिल सभी सोवियत गणराज्यों की भाषाओं को वहाँ की सरकारी भाषाओं का दर्जा प्राप्त था। समाजवादी सोवियत यूनियन के अंग रूस की सरकारी भाषा रूसी थी।" (सुखविन्दर, 'राष्ट्रीय प्रश्न और मार्क्सवाद', प्रतिबद्ध-33)

सुखविन्दर अपने इस उपरोक्त दावे के पक्ष में स्तालिन का यह उद्धरण देते हैं-

> "अब जबकि भूस्वामियों और बुर्जुआजी को उखाड़ फेंका गया है...पार्टी का कार्यभार है कि गैर-महान रूसी जनताओं के मेहनतकश जनसमुदायों को केन्द्रीय रूस के बराबर आने में मदद की जाय, जो कि आगे बढ़ गया है, उनकी निम्न कार्यों में सहायता की जाय:
>
> "क. इन जनगणों के कौमी बनावट के अनुसार सोवियत राज्यसत्ता के रूपों का विकास करना और उन्हें सशक्त बनाना;
>
> "ख. ऐसी अदालतों, प्रशासन, आर्थिक संगठनों व सत्ता के निकायों का निर्माण करना, जो कि देशी भाषाओं में काम करते हों और स्थानीय आबादी के जीवन के तौर-तरीकों और मानसिकता से परिचित स्थानीय लोगों की उनमें भर्ती की गयी हो;
>
> "ग. उनके प्रेस, स्कूल, थियेटर, मनोरंजन क्लब, और शैक्षणिक संस्थाओं को विकसित करना जो कि आम तौर पर उनकी देशी भाषाओं में काम करते हों।" (स्तालिन, 'राष्ट्रीय प्रश्न के प्रति पार्टी के फौरी कार्य', **रूस की कम्युनिस्ट पार्टी (बोल्शेविक) की 10वीं कांग्रेस के लिए पार्टी की केन्द्रीय कमेटी का समर्थन प्राप्त थीसिस,** 10 फरवरी,1921)

सबसे पहले तो हम पाठकों से अनुरोध करेंगे कि स्तालिन का उपरोक्त उद्धरण पढ़ें और खुद ही देख लें कि स्तालिन क्या किसी आधिकारिक/सरकारी भाषा की बात भी कर रहे हैं? स्तालिन यहाँ ***सभी देशी भाषाओं*** में सरकारी, प्रशासनिक, शैक्षणिक क्रियाकलापों की बात कर रहे हैं। सुखविन्दर जानबूझ कर इसकी यह दुर्व्याख्या कर रहे हैं कि स्तालिन यहाँ सरकारी भाषा की बात कर रहे हैं। **ऐसा इसलिए किया जा रहा है ताकि उनके द्वारा पंजाब में पंजाबी भाषा की सरदारी क़ायम करने और उसके रोज़गार समेत सरकारी कामकाज की भाषा करार दिये जाने को सही ठहराया जा सके, यानी कि पंजाब में पंजाबी को 'आधिकारिक भाषा' बनाना सही ठहराया जा सके। यह एक सरासर गलत और गैर-मार्क्सवादी नज़रिया है।**

सबसे पहली बात तो मार्क्सवाद सभी भाषाओं की बराबरी की हिमायत करता है, किसी भी एक भाषा की सरदारी या विशेषाधिकार की नहीं। **और यह सिद्धांत केवल बहुराष्ट्रीय राष्ट्र-राज्यों पर ही नहीं बल्कि एक राष्ट्र की सीमाओं पर भी उतना ही लागू होता है। अगर इसका कोई और अर्थ निकाला जाता है तो वह किसी एक राष्ट्र-राज्य में**

राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों के भाषाई बराबरी के अधिकार के खिलाफ जायेगा। लेकिन सुखविन्दर एक सच्चे कौमी कट्टरपंथी की तरह केवल पंजाबी कौम के अधिकारों के प्रति सरोकार रखते हैं और इसलिए कनाडा में पंजाबीभाषी लोगों को वहां की पूंजीवादी संसद की कार्रवाई को पंजाबी में सुनने का अधिकार मिलने पर नाच उठते हैं, लेकिन पंजाब में गैर-पंजाबीभाषी राष्ट्रीय अल्पसंख्यक समुदायों को उनकी भाषा में पढ़ने का अधिकार उनकी भाषा में रोज़गार का अधिकार नहीं देना चाहते, बल्कि उन्हें पंजाबी सिखाने पर तुल जाते हैं। क्या सिर्फ इसी से सुखविन्दर का बुर्जुआ व टटपुंजिया कौमवादी विचलन सामने नहीं आ जाता है? देखें इस प्रकार की कौमवादी कट्टरपंथी और बुण्डवादी सोच के बारे में स्तालिन क्या कहते हैं:

> "सामाजिक-जनवाद ***सभी राष्ट्रों के लिए*** अपनी भाषा के प्रयोग का अधिकार सुरक्षित करने के लिए संघर्ष करता है। लेकिन बुण्ड को यह सन्तुष्ट नहीं करता: वह कहता है कि "यहूदी भाषा के अधिकारों" के लिए "अपवादस्वरूप हठ" के साथ मांग उठाई जाए और बुण्ड ने स्वयं चौथी दूमा के लिए चुनावों में घोषणा की कि वह "उन (निर्वाचकों) को प्राथमिकता देगा" जो कि यहूदी भाषा के अधिकारों की हिफाजत करने का वायदा करते हैं।
>
> "सभी राष्ट्रों के लिए अपनी भाषा के प्रयोग का सामान्य अधिकार नहीं बल्कि यहूदी भाषा यिडिश के विशिष्ट अधिकार! **बाकी राष्ट्रीयताओं के मज़दूरों को अपनी-अपनी भाषाओं के लिए संघर्ष करने दो: यिडिश के लिए यहूदी, जॉर्जियाई के जॉर्जियन, आदि...आपको सभी दमित राष्ट्रीयताओं के अपनी भाषा के प्रयोग के अधिकार को मान्यता देने की आवश्यकता नहीं है..."** (स्तालिन, 1998, **वर्क्स**, **खण्ड-2**, न्यू होराइज़न बुक ट्रस्ट, कलकत्ता, पृ. 288-89)

क्या ठीक यही स्थिति सुखविन्दर की नहीं है, जो कि कनाडा में पंजाबी प्रवासियों के लिए पंजाबी भाषा का अधिकार चाहते हैं, लेकिन पंजाब में अन्य राष्ट्रीयताओं व भाषाई समुदायों के उन लाखों-लाख मज़दूरों व आम मेहनतकश आबादी को अपनी-अपनी भाषा में पढ़ने, सरकारी कामकाज आदि का अधिकार नहीं देना चाहते? (**ताज्जुब की बात है कि 'ललकार-प्रतिबद्ध' ग्रुप द्वारा आयोजित मज़दूरों के कार्यक्रमों में अभी भी हिन्दी प्लैकार्डों का बोलबाला होता है; वैसे तो सुखविन्दर इन मज़दूरों की बोलियों, जैसे कि अवधी, मगधी, भोजपुरी, आदि को अलग भाषा मानते हैं! तो कम-से-कम उन्हें प्लैकार्ड तो अवधी, मगधी, भोजपुरी आदि में लिखवाने चाहिए! कम-से-कम उन्हें तो भारतीय राज्यसत्ता के समान इन मज़दूरों पर "हिन्दी नहीं थोपनी चाहिए"!**) उन्हें तो सुखविन्दर पंजाबी सिखाएंगे, क्योंकि पंजाब की आधिकारिक भाषा, रोज़गार की भाषा बस पंजाबी होनी चाहिए! पंजाब में रहना है, तो पंजाबी बोलनी और पढ़नी होगी! **ये लोग तो अपने फेसबुक पेज से पंजाब के लोगों को यह हिदायत भी दे रहे थे कि पंजाबी भाषा की सरदारी को सुनिश्चित करने के लिए यदि आपसे कोई हिन्दी में बात करता है, तो उससे पंजाबी में ही बात करिये! सारे नेम प्लेट व साइन बोर्ड केवल पंजाबी में ही रखिये!** फिर तो एक हिन्दीभाषी, उडियाभाषी, बांग्लाभाषी मज़दूर लुधियाना के लेबर कमिश्नर ऑफिस में एक शिकायत तक दर्ज नहीं करा सकता है, या शायद वहां पहुंच भी न पाए क्योंकि साइनबोर्ड तो केवल पंजाबी में होंगे! **क्या यह पूरी सोच ही मज़दूर वर्ग-विरोधी और कौमवादी कचरा नहीं है? सुखविन्दर सीधे-सीधे बुण्डवादी अवस्थिति अपना रहे हैं, बल्कि उससे भी पीछे जा रहे हैं।**

दूसरी बात, मार्क्सवादी लेखन में, चाहे वह लेनिन का हो या स्तालिन का, पूरे देश में सभी क्षेत्रों में, चाहे वे किसी एक कौम के क्षेत्र हों या कई कौमों के, native languages में यानी मुख्य कौम समेत सभी समुदायों, जैसे कि अल्पसंख्यक

राष्ट्रीयताओं, जातीय समूहों, भाषाई समूहों आदि की भाषाओं में पढ़ाई-लिखाई व सरकारी कामकाज की बात की गयी है, *किसी एक कौम की कौमी भाषा* को सरकारी या आधिकारिक भाषा बनाने की नहीं। और इसमें भी हर जगह 'देशी *भाषाओं'* (native language*s*) की बात हुई है, किसी *एक कौमी भाषा* की नहीं। आगे हम उद्धरण से भी दिखलाएंगे कि स्तालिन का यही अर्थ है, जिसे सुखविन्दर अपने कौमवाद के कारण जानबूझकर गलत तरीके से व्याख्यायित कर रहे हैं। शायद उन्होंने विकिपीडिया पर जॉर्जियन रिपब्लिक या यूक्रेनी रिपब्लिक का परिचय पढ़ लिया है, जो कि सोवियत संघ का अंग थे। बेहतर होता कि वह इस विषय पर लेनिन व स्तालिन को पढ़ते। आइये एक उदाहरण से देखते हैं कि वास्तव में एक सोवियत गणराज्य में क्या हो रहा था।

यूक्रेनी सोवियत गणराज्य 1920 में सोवियत यूनियन में शामिल हुआ। लेकिन वहां पर राष्ट्रवादी राजनीतिक प्रभाव अभी भी मौजूद था। नतीजतन, भाषा के सवाल पर एक संघर्ष हुआ, जिसमें कि बोल्शेविकों की कार्यदिशा यह थी कि यूक्रेन के भीतर भी यूक्रेनी कौम के अलावा सभी अल्पसंख्यक राष्ट्रीयताओं की भाषा को बराबर का दर्जा मिलना चाहिए। यह संघर्ष एक 1923 में एक समझौते पर पहुंचा जब कि रूसी भाषा के बरक्स यूक्रेनी भाषा को विकसित करने पर एक सहमति बनी क्योंकि उस पर सदियों से प्रतिबंध था और वह पिछड़ गयी थी, लेकिन साथ ही यूक्रेनी सोवियत समाजवादी गणराज्य की सोवियत ने यह भी निर्णय पारित किया कि यूक्रेन में यूक्रेनी समेत सभी राष्ट्रीयताओं की भाषा, रूसी को भी, पूर्णत: बराबरी का दर्जा मिलेगा।

उसी प्रकार ट्रांसकॉकेशियाई सोवियत गणराज्य में जॉर्जियाई, आर्मेनियाई, अज़रबैजानी भाषाओं समेत, जो कि तीन प्रमुख कौमों की भाषा थी, सभी राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों की भाषाओं को भी बराबर का दर्जा प्राप्त था।

इसी प्रकार अन्य गणराज्यों में भी यही स्थिति थी, हालांकि रूसी के बरक्स सभी प्रतिबन्धित भाषाओं को विकसित करने पर सोवियत सत्ता ने विशेष ज़ोर दिया, लेकिन इसका अर्थ हरेक गणराज्य में भी, (सिर्फ समूचे सोवियत संघ के स्तर पर नहीं) भाषाओं की समानता के सिद्धान्त पर मज़बूती से अमल था। कुछ गणराज्यों में बोली जाने वाली सभी भाषाओं को आधिकारिक और/या मान्यता प्राप्त भाषा कहा जाता था, जिससे कि किसी एक आधिकारिक या मान्यता प्राप्त भाषा की अवधारणा ही बेकार हो जाती है और यह केवल एक औपचारिक या रूपगत वस्तु बन जाती है। सारत: तमाम सोवियत गणराज्यों के सोवियत संघ में शामिल होने और सोवियत संघ के स्थिरीकृत होने के साथ, किसी भी रूप में किसी भी प्रान्त या गणराज्य में किसी एक आधिकारिक कौमी भाषा की अवधारणा ही समाप्त हो चुकी थी।

सुखविन्दर अपनी भाषाई अस्मितावादी लाइन का बचाव करने के लिए जानबूझकर इस पर रूसी कम्युनिस्ट पार्टी और लेनिन और स्तालिन की नीति और अवस्थिति को 'मिस्कोट' कर रहे हैं। **सुखविन्दर का उपरोक्त दावा न सिर्फ तथ्यत: गलत है बल्कि स्तालिन के उद्धरण की गलत व झूठी व्याख्या पर आधारित है।** रूस में सभी भाषाओं की समानता इस प्रकार लागू की गई थी कि किसी राष्ट्रीय अल्पसंख्यक समूह का अगर एक भी व्यक्ति किसी राज्य में रहता था, तो उसे शिक्षण-प्रशिक्षण समेत सभी सरकारी कामकाज अपनी भाषा में करने का अधिकार प्राप्त था। इसलिए किसी एक राज्य की सीमा के भीतर भी वहाँ की किसी एक राष्ट्रीय भाषा सरकारी/आधिकारिक भाषा नहीं बनाई गई थी। इस सन्दर्भ में स्तालिन देखें क्या कहते है-

> "सभी राजकीय निकायों में और संस्थाओं में जो कि स्थानीय व ***राष्ट्रीय आबादी और राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों*** की सेवा करते हैं**,** ***देशी भाषाओं*** के प्रयोग को सुनिश्चित करने के लिए विशेष कानून पारित किये जाने चाहिए-- ऐसे कानून जो कि राष्ट्रीय अधिकारों**,** और ***विशेषकर राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों के अधिकारों*** का उल्लंघन करने वालों पर क्रान्तिकारी सख्ती के साथ मुकदमा चलाएंगे और उन्हें दण्डित करेंगे।" (Stalin, ' REPLY

TO THE DISCUSSION ON THE REPORT ON NATIONAL FACTORS IN PARTY AND STATE AFFAIRS ', The Twelfth Congress of the RCP (B), 1923, **Collected Works**, Volume 5)

किसी एक भाषा को आधिकारिक भाषा बनाने का अर्थ ही यह है कि सारा शिक्षण-प्रशिक्षण व सरकारी कामकाज केवल उसी भाषा में होगा। यानी पंजाब में शिक्षण-प्रशिक्षण व सरकारी कामकाज केवल पंजाबी में होगा। यह राष्ट्रीय शॉविनिस्ट लाइन है न कि सोवियत संघ में स्तालिन द्वारा लागू की गयी कार्यदिशा। मिसाल के तौर पर, पंजाब में भी तमाम प्रवासी राष्ट्रीय अल्पसंख्यक हैं। 30 लाख गैर-पंजाबीभाषी आबादी को, जोकि पंजाब में राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों में आती हैं, भी अपनी भाषा में पढ़ने-लिखने व सरकारी कामकाज का हक मिलना चाहिए और एक कम्युनिस्ट पंजाब और पूरे देश के हर प्रान्त के लिए यही मांग करेगा। **सोवियत संघ में यही नीति लागू की गयी थी और किसी भी राज्य में उस राज्य के किसी एक बहुसंख्यक राष्ट्रीय समुदाय की भाषा को आधिकारिक भाषा नहीं बनाया गया था। सुखविन्दर यहां और कुछ नहीं बस साफ झूठ बोल रहे हैं।**

इसके अलावा, पंजाबी को आधिकारिक भाषा बनाने, सरकारी व गैर-सरकारी कामकाज की भाषा बनाने, रोज़गार की भाषा बनाने के पीछे की यह खतरनाक प्रतिक्रियावादी सोच आखिर में 'पंजाब पंजाबियों के लिए' वाले तर्क पर ही जायेगी। इसके लिए वह स्तालिन या लेनिन का कोई उद्धरण दुर्व्यख्यायित करके और कांट-छांट करके पेश भी कर सकते हैं, जैसा कि हमने देखा कि यह उनकी पुरानी आदत है, और कह सकते हैं कि 'देखो! प्रवास के ज़रिये पूँजीवाद मज़दूरों को आपस में लड़वाता है, एक-दूसरे पर हमले करवाता है, एक-दूसरे का दुश्मन बनाता है!' हाँ, यह बात न सिर्फ सुनने में मूर्खतापूर्ण लग रही है बल्कि सर्वथा मार्क्सवाद-विरोधी भी है। लेकिन सुखविन्दर ने इस तरह की ऊलजलूल बातें बोलने का एक 'ट्रेंड'-सा सेट कर दिया है!

पूँजीवाद के तहत, असमान और असंतुलित विकास के कारण, जहां एक तरफ मजदूर वर्ग आर्थिक कारणों से मजबूरी में प्रवास करता है, वहीं इसका दूसरा पहलू यह भी है कि प्रवास की यही परिघटना अलग-अलग क्षेत्रों, राष्ट्रीयताओं, भाषाओं के मज़दूरों के बीच राष्ट्रीय, भाषाई, जातीय, जातिगत पार्थक्य और दीवार को तोड़ती है, उन्हें एक-दूसरे के नज़दीक लाती है और उनके एक वर्ग के तौर पर संगठित होने में भी वस्तुगत तौर पर प्रगतिशील भूमिका अदा करती है। मार्क्स से लेकर लेनिन तक ने पूँजीवाद की इस गति की द्वंद्वात्मकता और ऐतिहासिक प्रगतिशीलता को कई बार रेखांकित भी किया है। देखें लेनिन अपने लेख 'पूँजीवाद और मज़दूरों का आप्रवासन' में क्या लिखते हैं-

> "इसमें कोई सन्देह नहीं है कि केवल ग़रीबी ही लोगों को अपनी मूल जगह छोड़ने के लिए बाध्य करती है, और पूंजीपति आप्रवासी मज़दूरों को सबसे बेशर्म तरीके से लूटते हैं। **लेकिन केवल प्रतिक्रियावादी ही राष्ट्रों के आधुनिक प्रवास के प्रगतिशील महत्व के प्रति अपनी आंखें मूंद सकते हैं।** पूंजीवाद के उत्तरोत्तर विकास और इस पर आधारित वर्ग संघर्ष के बिना पूंजी के जुए से मुक्ति पाना असम्भव है। **और यही वह संघर्ष है जिसमें पूंजीवाद *पूरी* दुनिया के मेहनतकश लोगों को खींच रहा है, स्थानीय जीवन की कूपमण्डूक आदतों को तोड़ रहा है, राष्ट्रीय दीवारों और पूर्वाग्रहों को तोड़ रहा है, सभी देशों के मज़दूरों को अमेरिका, जर्मनी, आदि के कारखानों और खानों में एकजुट कर रहा है।**" (लेनिन, **पूंजीवाद और मज़दूरों का आप्रवासन**)

दूसरी बात, मजदूर प्रवास की वजह से आपस में नहीं लड़ते हैं। न ही वर्ग चेतना रखने वाले मज़दूर अपने प्रवासी भाइयों-बहनों पर हमला करते हैं। आम तौर पर, यह दक्षिणपंथी और बुर्जुआ कौमवादी राजनीति के प्रभाव में आने वाले

टटपुंजिया, लम्पट टटपुंजिया और लम्पट सर्वहारा वर्ग के लोग होते हैं, जो दक्षिणपंथी ताकतों के प्रभाव में आकर प्रवासी मज़दूरों पर हमला करते हैं। मुम्बई में भी हमेशा ऐसा ही हुआ है और पंजाब में भी ढण्डारी काण्ड में ऐसा ही हुआ था। मनसे-शिवसेना जैसी दक्षिणपंथी 'son of the soil' जैसे प्रतिक्रियावादी मजदूर-विरोधी आंदोलनों को चलाने वाली ताक़तें, लम्पट पेटी-बुर्जुआ वर्ग का एक हिस्सा और राजनीतिक चेतना से रिक्त लम्पट मज़दूरों का एक हिस्सा इस तरह की हरक़तें अंजाम देता है। *लेकिन क्रांतिकारी शक्तियों का पहला क्रांतिकारी कर्तव्य तो इसी मजदूर-विरोधी सोच और बर्ताव का डटकर मुकाबला करना है, न कि यह कहना कि प्रवास ही बन्द कर दिया जाय! ऐसा कौमवादी कचरे से पगा हुआ कोई दिमाग ही कह सकता है, मार्क्सवादी-लेनिनवादी व्यक्ति तो कतई नहीं।*

खैर, जो भी हो, राज्यों/प्रान्तों में आधिकारिक/सरकारी भाषा रखने का सुखविन्दर का यह तर्क सर्वहारा वर्गीय दृष्टिकोण से बेहद नुकसानदेह है और उसूलन मार्क्सवाद-लेनिनवाद के विरुद्ध है और स्तालिन और लेनिन की अवस्थितियों से इसका दूर-दूर तक कोई लेना-देना नहीं है। लेनिन का यह एक अन्य उद्धरण देखें जहां वह सभी भाषाओं की बराबरी की बात करते हुए कहते हैं कि *सभी अल्पसंख्यक राष्ट्रीयताओं को अपनी देशी भाषाओं (*native languages) *में शिक्षण-प्रशिक्षण का पूरा अधिकार होना चाहिए, स्कूलों में सभी देशी भाषाएँ उपलब्ध करवाई जानी चाहिए, किसी भाषा का कोई विशेषाधिकार नहीं होना चाहिए और कोई भी भाषा आधिकारिक/सरकारी भाषा नहीं बनायी जानी चाहिए-*

> "जहां तक शोषण, मुनाफाखोरी और संघर्ष पर आधारित पूंजीवादी समाज में राष्ट्रीय शान्ति सम्भव है, यह एक पूर्ण रूप से जनवादी गणराज्य वाली सरकार के मातहत ही सम्भव है, जिसमें सभी राष्ट्रों और भाषाओं की समानता की गारण्टी हो, **जो किसी आधिकारिक भाषा को मान्यता न देती हो, जहां स्कूलों में सभी देशी भाषाओं में पढ़ाए जाने की सुविधा हो और जिसके संविधान में एक बुनियादी कानून हो जो किसी भी एक राष्ट्र के विशेषाधिकार को मान्यता न देता हो और किसी भी राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों के अधिकारों का उल्लंघन न होने देता हो। यह व्यापक क्षेत्रीय स्वायत्तता और पूरी तरह जनवादी स्थानीय स्वशासन की मांग करता है, जिसमें कि स्वाशासन वाले स्वायत्त क्षेत्रों की सीमा स्वयं उसमें रहने वाले बाशिन्दों के द्वारा वहां की सामाजिक-आर्थिक स्थितियों, राष्ट्रीय बनावट आदि के आधार पर निर्धारित की गयी हो।**" (लेनिन, केन्द्रीय कमेटी के 1913 सम्मेलन के प्रस्ताव, आर.एस.डी.एल.पी.)

स्पष्ट है कि सुखविन्दर अपने कौमवादी कट्टरंपथ के कारण लेनिन और स्तालिन के विचारों का विकृतिकरण कर रहे हैं, ताकि पंजाबी भाषा की सरदारी के अपने तर्क को सही ठहरा सकें।

भाषा, उपभाषा और बोली के सवाल पर सुखविन्दर का पैंतरापलट, दोहरे मानक और पंजाबी भाषाई विस्तारवादी दृष्टिकोण

अब ज़रा यह भी देख लेते हैं कि भाषा और बोली के रिश्ते के बारे में सुखविन्दर के विचारों में कितना दम है। इस सवाल पर भी सुखविन्दर ने कमाल के करतब किये हैं। *क्या हर बोली भाषा बन सकती है और क्या ऐसा किया जाना चाहिए, इस सवाल का तो कोई सीधा-स्पष्ट जवाब देने से ही सुखविन्दर बच निकले हैं, जबकि यह पहले से ही एक बहसतलब मुद्दा था, जिसमें कि सुखविन्दर का यह मानना रहा था कि हर बोली को भाषा में विकसित किया जाना चाहिए और यह समाजवाद का एक बुनियादी कार्यभार होगा।* बस इतना कहकर सुखविन्दर रफ्फूचक्कर हो गये कि,

"“क्षेत्रीय” उपभाषाएँ भी आम तौर पर अलग आज़ाद राष्ट्रीय भाषाओं में विकसित नहीं हो सकतीं। पर इनमें से कुछ, विशेष परिस्थितियों में आज़ाद राष्ट्रीय भाषाओं में विकसित हो सकती हैं”। (सुखविन्दर, 'राष्ट्रीय प्रश्न और मार्क्सवाद', प्रतिबद्ध-33)

हम यहाँ इस बात को इसलिए कह रहे हैं क्योंकि पहली बात तो सुखविन्दर ने इस सवाल पर अपनी पुरानी अवस्थिति से बन्दरपलटी मार दी है और दूसरी बात, सुखविन्दर इस विषय पर दोहरे मानक अपनाते रहे हैं और हम आगे देखेंगे कि यह स्थिति अभी भी बदस्तूर जारी है।

हिंदी की हर बोली को वह भाषा बनाने पर तुले हुए हैं लेकिन पंजाबी के बारे में उनके ये विचार हैं,

“जैसे कि पंजाबी की कई उप-बोलियाँ हैं। पंजाबी यूनिवर्सिटी, पटियाला के अनुसार पंजाबी की 29 उप-भाषाएँ हैं। इन उप-भाषाओं का सामुच्च्य ही पंजाबी भाषा है या पंजाब की राष्ट्रीय भाषा है। इस तरह नहीं कहा जा सकता कि यह पंजाबी है और यह इसकी उप-भाषा है।” (सुखविन्दर, 'राष्ट्रीय प्रश्न और मार्क्सवाद', प्रतिबद्ध-33)

इसी को हमने उनका दोहरा आचरण कहा है।

दूसरी बात, इतनी स्वीकारोक्ति भी, कि सभी बोलियाँ (dialects) **राष्ट्रीय भाषाओं में विकसित नहीं हो सकती हैं, सुखविन्दर को इसलिए करनी पड़ी है क्योंकि स्तालिन ने ‘मार्क्सवाद और भाषाविज्ञान की समस्याएं’ में यह बात बिलकुल स्पष्ट रूप में कही है, हालांकि यहां पर सुखविन्दर ने बौद्धिक बेईमानी का परिचय देते हुए अपनी पोजीशन बदल ली है।** इसलिए यह भी इनकी अपनी पुरानी अवस्थिति से पैंतरापलट ही है क्योंकि पहले तो यह ऐसा नहीं मानते थे। कायदे से इस पर भी एक आत्मालोचना इन्हें प्रस्तुत करनी चाहिए थी। बावजूद इस पैंतरापलट के यह हिंदी के विषय में अपनी पुरानी सोच पर ही अटके हुए हैं।

चूंकि सुखविन्दर ने भाषा और बोली के सम्बन्ध पर भी गोलमोल अवस्थिति ही अपनाई है, इसलिए देखते हैं स्तालिन इस विषय में क्या कहते हैं। स्तालिन लिखते हैं:

“जैसा कि हम जानते हैं, एक भाषा के सभी शब्दों को एक साथ एकत्र करने से बने संग्रह को उस भाषा के शब्द-भण्डार (वोकेब्युलरी) नाम से जाना जाता है। एक भाषा के शब्द-भण्डार में मुख्य चीज़ इसके शब्दों का मूल भण्डार होता है जिसमें सारतत्व के रूप में सभी मूल शब्द शामिल होते हैं। यह उक्त भाषा के पूरे शब्द-भण्डर से काफ़ी कम व्यापक होता है; लेकिन काफ़ी लम्बे समय तक, शताब्दियों तक बना रहता है और भाषा को नये शब्दों के निर्माण के लिए आधार प्रदान करता है। शब्द-भण्डार भाषा की स्थिति को प्रतिबिम्बित करता है। जितना ही समृद्ध और वैविध्यपूर्ण शब्द-भण्डार होता है उतनी ही समृद्ध और विकसित भाषा होती है।

“फिर भी, शब्द-भण्डार अपने-आप भाषा की रचना नहीं करता; बल्कि यह उसके निर्माण में लगने वाली सामग्री मात्र है। जिस तरह किसी भवन के निर्माण में केवल उसमें लगने वाली वस्तुओं से ही भवन नहीं बन जाता (हालाँकि यह उनके बिना भी नहीं बन सकता) उसी तरह शब्द-भण्डार मात्र से ही भाषा का निर्माण नहीं हो जाता; हालाँकि इसके बग़ैर भी भाषा की कल्पना नहीं की जा सकती। लेकिन एक भाषा के शब्द-भण्डार को उस समय ज़बर्दस्त शक्ति मिल जाती है जब इसे व्याकरण का नियंत्रण प्राप्त हो जाता है, जो शब्दों में परिवर्तन और उनके वाक्यों में संयोजन के नियमों को परिभाषित करता है और इस तरह भाषा को एक सुसंगत और सार्थक क्रिया बना देता है। व्याकरण (रूप-विज्ञान, वाक्य-विन्यास) उन नियमों का संग्रह है जो शब्दों के परिवर्तन और

वाक्यों में उनके संयोजन को नियंत्रित करते हैं। इसीलिए व्याकरण की बदौलत ही भाषा के लिए मनुष्य के विचारों को अपने (भाषा के) भौतिक आवरण में प्रतिष्ठापित कर पाना सम्भव हो पाता है।

"व्याकरण की मुख्य गुणदर्शी विशेषता यह है कि वह शब्दों में परिवर्तन के नियमों को किन्हीं निश्चित, ठोस शब्दों के सन्दर्भ में नहीं; बल्कि सामान्य रूप से सभी प्रकार के शब्दों के सन्दर्भ में प्रस्तुत करता है। वह वाक्य-रचना के नियमों को किन्हीं विशेष प्रकार के, निश्चित वाक्यों – यों कहें कि निश्चित कर्ता और निश्चित विधेय आदि – के सन्दर्भ में नहीं; बल्कि सामान्य रूप से सभी वाक्यों के लिए, उनसे सुनिश्चित रूप से निरपेक्ष होकर प्रस्तुत करता है। इस तरह, शब्दों और वाक्यों – दोनों के सन्दर्भ में, विशिष्ट और सुनिश्चित प्रकारों से अपने को अमूर्त या निरपेक्ष बनाते हुए व्याकरण उन चीज़ों को अपनाता है जो शब्दों के परिवर्तन और वाक्यों की रचना में आधारभूत और सामान्य होती हैं और उन्हें व्याकरण के नियमों की शक्ल देता है – व्या**करण मानव-मस्तिष्क द्वारा काफ़ी लम्बे समय से सम्पन्न की जा रही अमूर्तीकरण ('एब्सट्रैक्शन') की प्रक्रिया का प्रतिफलन है। यह चिन्तन की ज़बर्दस्त उपलब्धियों का एक पैमाना है।**

"इस सन्दर्भ में व्याकरण काफ़ी हद तक ज्यामिति से मिलता-जुलता है जो ठोस वस्तुओं से अमूर्तन की प्रक्रिया द्वारा अपने नियम बनाती है और उन वस्तुओं को ठोसपन या निश्चितता से रहित पिण्डों की तरह लेती है तथा उनके बीच के सम्बन्धों को ठोस, निश्चित वस्तुओं के निश्चित सम्बन्धों के रूप में परिभाषित करने के बजाय सभी प्रकार के ठोसपन या निश्चितता ('कांक्रीटनेस') से रहित पिण्डों के सम्बन्धों के रूप में परिभाषित करती है।" (स्तालिन, **मार्क्सवाद और भाषाविज्ञान की समस्याएँ**, *ज़ोर हमारा*)

इससे स्पष्ट है कि किसी भी भाषा की मूल चारित्रिक अभिलाक्षणिकता है: एक व्यवस्थित लेक्सिकन (शब्द भण्डार) और एक व्यवस्थित व्याकरणिक व्यवस्था। इसके बिना किसी भी बोली को भाषा नहीं कहा जा सकता है। बोलियों में एक शब्द भण्डार होता है, लेकिन वह मानकीकृत नहीं होता और एक ही बोली के शब्द कुछ ही किलोमीटर की दूरियों पर अपने अर्थ बदल सकते हैं। यही बात उनके अमानकीकृत व्याकरणिक ढाँचे के बारे में भी कही जा सकती है। ऐसे में, इन बोलियों में ज्ञान-विज्ञान व दर्शन की विभिन्न शाखाओं के जटिल विनिमय सम्भव नहीं हैं। **वैज्ञानिक व दार्शनिक संवाद तभी सम्भव है, जबकि विचारों के आदान-प्रदान के रूप में इस्तेमाल की जा रही भाषा का मानकीकृत लेक्सिकन व व्याकरण हो। हमने देखा कि सुखविन्दर इस विषय पर कोई स्पष्ट दो-टूक अवस्थिति नहीं अपनाते हैं और उनकी जो अवस्थितिया नग्न रूप से अवैज्ञानिक और मूर्खतापूर्ण थीं, उनको चुपके से चोर दरवाज़े से बदल लेते हैं। यह भी बौद्धिक बेईमानी का ही एक नमूना है।**

भाषाओं का विकास मुख्य रूप से किसी एक बोली पर आधारित होकर होता है। लेकिन वह कई बोलियों के शब्द भण्डार और व्याकरणिक ढाँचों को ग्रहण करती है। यह बात हर भाषा पर लागू होती है। हर भाषा ही मुख्य रूप से किसी एक बोली पर निर्भर रहते हुए, कई बोलियों के *ऐतिहासिक और वैज्ञानिक अमूर्तन* से बनती है। स्तालिन इसके बारे में लिखते हैं :

"दूसरी ओर स्थानीय ('क्षेत्रीय') उपभाषाएँ या बोलियाँ जनसमूह का हितसाधन करती हैं। इनका अपना व्याकरण-तंत्र और मूल शब्द-भण्डार होता है। इस दृष्टि से, कुछ क्षेत्रीय उपभाषाएँ, राष्ट्रों के बनने की प्रक्रिया के दौरान, *राष्ट्रीय भाषाओं का आधार* बन सकती हैं और स्वतंत्र राष्ट्रीय भाषाओं के रूप में विकसित हो सकती हैं। उदाहरण के लिए रूसी भाषा की कुर्स्क ओरेल उपभाषा (कुर्स्क ओरेल 'स्पीच') के साथ ऐसा ही हुआ जो रूसी राष्ट्रीय भाषा का आधार बनी। यही बात उक्रइनी भाषा की पोल्तावा कीएव उपभाषा के साथ भी हुई जो उक्रइनी

> राष्ट्रीय भाषा का आधार बनी। ऐसा ही दूसरी उपभाषाओं के साथ हुआ; उन्होंने अपना मूल स्वरूप खो दिया और उन्हीं में विलीन हो गयीं।" (वही, *ज़ोर हमारा*)

लेकिन सुखविन्दर के अनुसार पंजाबी के विषय में पंजाबी भाषा बोलियों की हत्या करके नहीं बनी है, पर हिंदी के विषय में ऐसा हुआ है! यह तर्क-पद्धति भी गज़ब है! सुखविन्दर की समझ में नहीं आता है कि भाषाएँ अपने आप में बोलियों की हत्याएँ करके भाषा नहीं बनती हैं, बल्कि मुख्य रूप से एक बोली पर निर्भर रहते हुए *कई बोलियों के ऐतिहासिक और वैज्ञानिक अमूर्तन* से पैदा होती हैं। जब कोई भाषा शासक वर्ग द्वारा अपने राजकीय प्रयोग के लिए अपनायी जाती है तो दूसरी भाषाओं के साथ अन्याय अवश्य हो सकता है; *लेकिन यह भाषा द्वारा बोलियों की हत्या नहीं है।*

वहीँ दूसरी ओर, सुखविन्दर के डोगरी भाषा, जोकि एक अलग भाषा है, को लेकर यह विचार हैं:

> "भारत सैकड़ों राष्ट्रीयताओं का घर है। यहाँ बसने वाले लोग सैंकड़ों भाषाएँ बोलते हैं। इनमें से केवल 22 भाषाएँ ही सूचीबद्ध हैं। इन 22 भाषाओं में शामिल डोगरी कोई अलग भाषा नहीं बल्कि पंजाबी भाषा की उपभाषा है।" (सुखविन्दर, 'राष्ट्रीय प्रश्न और मार्क्सवाद', प्रतिबद्ध-33)

सुखविन्दर यहाँ यह बताना ज़रूरी नहीं समझते हैं कि डोगरी, जो पश्चिमी पहाड़ी भाषा परिवार से आती है, वह पंजाबी की उप-भाषा कैसे है? आपको अपने बेसिर-पैर के खोखले दावे के समर्थन में कोई तथ्य देना आवश्यक नहीं लगा? यह सुखविन्दर का भाषाई विस्तारवादी नज़रिया नहीं है तो और क्या है? और यह सर्वथा बुनियादी जनवादी उसूलों के विपरीत भी है, आप डोगरी-भाषियों के लिए तय नहीं कर सकते कि वे क्या माने और क्या नहीं, साथ ही वैज्ञानिकों और भाषाशास्त्रियों की राय का भी आपके लिए कोई मूल्य नहीं है, क्योंकि आपको तो यह साबित करना है कि पूरा जम्मू दरअसल पंजाब ही है। लेकिन अपने इस कौमी कट्टरपंथी विचार को खुलकर अभिव्यक्त करने में आपकी टांगें कांपती हैं, इसलिए आप इसे घुमा-फिराकर कह रहे हैं! अभी तक अपने फेसबुक पेजों से तो 'ललकार-प्रतिबद्ध' ग्रुप हिमाचली बोलियों व हरियाणवी बोलियों को भी पंजाबी भाषा की बोलियां करार देने पर तुला रहा है। यह देखना दिलचस्प होगा कि जब यह अपनी इस कार्यदिशा को लेकर हिमाचल प्रदेश और हरियाणा में प्रचार अभियान चलाएंगे, तो वहां की जनता इनको कैसी प्रतिक्रिया देगी! हमारी सलाह तो इन साथियों को यही होगी कि अपनी सुरक्षा का पूरा इन्तज़ाम करके ही ऐसे अभियान चलाने हरियाणा व हिमाचल प्रदेश में जाएं। अभी तो आप अपने लेख में सोवियत संघ में नयी भाषाओँ और लिपियों के बनने को लेकर क़सीदे पढ़ रहे थे कि छोटे भाषाई समूहों की भाषाओं को भी मानकीकृत किया गया। तो अब क्या हुआ? कथनी और करनी में इतना फर्क? हिंदी की बोलियों को अलग भाषा बनाने की तो आप उछल-उछलकर वकालत करते हैं! और यहाँ आप एक अलग भाषा को ही निगलने की पैरवी कर रहे हैं। इसी को हमने सुखविन्दर का पंजाबी कौमवादी कट्टरपंथ और भाषाई अस्मितावाद कहा है।

इसके अलावा **सरायकी**, जोकि पंजाबी की एक बोली है, को लेकर भी सुखविन्दर ने एक साजिशाना चुप्पी अख्तियार की हुई है। **सरायकी बोलने वाली आबादी एक अलग भाषा का दर्जा हासिल करने के लिए लम्बे अरसे से संघर्ष कर रही है। लेकिन सुखविन्दर इसके बारे में शांत हैं।** हिंदी और उसकी बोलियों के विषय में तो वह तुरंत अपनी अवस्थिति ज़ाहिर कर देते हैं। **इससे भी स्पष्ट हो जाता है कि उनमें एक पंजाबी भाषाई कट्टरपंथ मौजूद है और**

पंजाबी भाषा के प्रति उनका अति-संरक्षणवादी नजरिया भी छनकर बाहर आ ही जाता हैं, चाहे वह लाख भाषाओं की बराबरी की दुहाई दें।

फिर सुखविन्दर पारस्परिक बोधगम्यता (mutual intelligibility**) का एक सिद्धांत लेकर आते हैं और कहते हैं कि जिस भाषा समूह के लोग एक दूसरे को समझ सकते हैं, केवल वे ही दूसरे की उपभाषा हो सकती है। यह भी सुखविन्दर की कल्पना की उड़ान की ही पैदावार है, जैसा कि हम आगे देखेंगे।** इसके बाद वह कहते हैं कि पंजाबी में सारी उपभाषाएँ बोलने वाले पंजाबी समझते हैं, इसलिए वे सब पंजाबी की ही उपभाषाएँ हैं, लेकिन हिंदी के साथ ऐसा नहीं है। देखिये सुखविन्दर क्या लिखते हैं-

> "भाषा-उपभाषा विभाजन का भाषा वैज्ञानिक आधार आपसी बोध (Mutual Intelligibilty) है। मतलब यह कि अगर दो बोली रूप बोलने वाले बिना किसी शिक्षा के एक दूसरे के बोली रूपों को समझ सकते हैं तो वह बोली रूप एक ही भाषा की उप-भाषाएँ होती हैं। इस नज़रिये से ज़रा छद्म हिन्दी पट्टी की भाषाओं पर ग़ौर करो। जहाँ दिल्ली के शासकों ने ज़बरन अनेकों भाषाओं को हिन्दी की उप-भाषाएँ ऐलान कर रखा है। पहले अंग्रेज़ उपनिवेशवादियों ने इस क्षेत्र में (देश के अन्य क्षेत्रों में भी) लोक भाषाओं का नाश किया। 1947 के बाद दिल्ली के शासकों ने भाषा शत्रुता की इसी नीति को जारी रखा। आज वर्ग अपचयनवादी मार्क्सवादी भी दिल्ली के शासकों की भाषाई संहार की नीति के झण्डाबरदार बन गये हैं। दिल्ली के शासक और इनके वर्ग अपचयनवादी मार्क्सवादी झण्डाबरदार छद्म हिन्दी पट्टी की अनेकों भाषाओं को हिन्दी की उप-भाषाओं का नाम दे रहे हैं। जब कि इसके एक क्षेत्र में बोली जाने वाली भाषा को दूसरे क्षेत्र के लोग बिल्कुल भी नहीं समझ सकते हैं। सवाल यह बनता है कि उप-भाषाओं का आपसी बोध का भाषा वैज्ञानिक आधार इन छद्म उप-भाषाओं पर क्यों लागू नहीं होता?" (सुखविन्दर, 'राष्ट्रीय प्रश्न और मार्क्सवाद', प्रतिबद्ध-33)

हम समझ नहीं पा रहे हैं कि सुखविन्दर की हिंदी भाषा के प्रति इतनी खुन्नस की वजह क्या है? आपके इस "छद्म हिंदी पट्टी" में इस देश के मेहनतकश भी रहते हैं, यह "छद्म भाषा" इस देश के मेहनतकशों की भी भाषा है; इस देश में इसे बोलने वाले करोड़ों लोग हैं जो इससे वैसे ही प्यार करते हैं जैसे कि आप अपनी मां-बोली से करते हैं। यह प्रेमचंद, यशपाल, रांगेय राघव, मुक्तिबोध, हजारी प्रसाद द्विवेदी, निराला जैसों की भी भाषा है। यह भाषा सिर्फ शासक वर्ग द्वारा शासन के लिए उपयोग में लाया जाने वाला उपकरण भर नहीं है। वैसे भी शासक वर्ग किसी भाषा का ईजाद या निर्माण नहीं कर सकता है, जैसे कि हमारे कौमवादी कट्टरपंथी हिन्दी के बारे में कहते आये हैं। इससे ज्यादा वज्र मूर्खता की और कोई बात नहीं हो सकती है। वैसे ही अंग्रेजी भी इंग्लैंड, अमेरिका, कनाडा, ऑस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैण्ड जैसे देशों के मज़दूरों-मेहनतकशों की भी भाषा है, साम्राज्यवाद का सांस्कृतिक हथियार मात्र नहीं। इसके अलावा, जब-जब भारतीय हुक्मरानों द्वारा इसे अन्य भाषा-समूहों पर जबरन थोपने की कोशिशें की गयीं, तो प्रतिरोध के कारण उन्हें हमेशा पीछे भी हटना पड़ा है। वैसे तो सुखविन्दर को यह भी बताना चाहिए कि ये "दिल्ली के शासक" कौन हैं? इनका राष्ट्रीय चरित्र क्या है? क्या इसमें पंजाबी बुर्जुआजी को नुमाइन्दगी हासिल है? जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, ये प्रश्न सुखविन्दर कभी नहीं उठाते क्योंकि उनके कौमवादी कचरे का अम्बार इन सवालों को उठाते ही ढह जाता है। बहरहाल, आगे बढ़ते हैं।

चलिए इतना समझ में आता है कि कम राजनीतिक चेतना वाला कोई व्यक्ति हिंदी जबरन थोपे जाने की वजह से प्रतिक्रिया में रहे। **लेकिन आपको क्या हो गया है? आप किस प्रतिक्रिया में जी रहे हैं? आप तो मार्क्सवादी-लेनिनवादी हैं न? 'Stop Hindi Imposition' जैसे धुर-प्रतिक्रियावादी, मार्क्सवाद-विरोधी, अस्मितावादी,**

संभ्रांतवादी (elitist), मजदूर-विरोधी फेसबुक पेज चलाने वालों में से तो नहीं हैं, जो हिंदी बोलने वाले मजदूर वर्ग को "Hindian" बुलाता है जैसे कोई गाली दे रहा हो, क्योंकि यह बात भी तो उतनी ही सच है कि यह "छद्म हिंदी पट्टी" पूरे देश में श्रम आपूर्ति की भी विशालकाय पट्टी है। यह अलग बात है कि 'ललकार' अमूमन इस फेसबुक पेज से पोस्टें शेयर करता रहता है जैसे कि इस पेज पर बड़ी क्रांतिकारी सामग्री उपलब्ध करवाई जाती हो! खैर, जो भी हो, वैज्ञानिक विश्लेषण करते समय इस तरह का भावावेश किसी मार्क्सवादी को शोभा नहीं देता है। अब आते हैं सुखविन्दर के तथाकथित "वैज्ञानिक सिद्धान्त" यानी परस्पर बोधगम्यता के सिद्धान्त पर और देखते हैं कि वह कितना पानी में है।

जहां तक भाषाओं और बोलियों की पारस्परिक बोधगम्यता का प्रश्न है तो यह सिद्धांत अपने आप में यह निर्धारित करने का कोई आधार नहीं है कि कौन-सी ज़बान किस भाषा की उपभाषा है। इस तर्क से तो फिर कैण्टोनीज़ (Cantonese) और मैण्डेरिन (Mandarin) चीनी भाषा की उपभाषा नहीं रह जाएंगी, क्योंकि वे आपस में समझी नहीं जाती हैं। साथ ही अरबी की भी कई उपभाषाएं, जैसे कि मोरक्को व फिलिस्तीन में बोली जाने वाली अरबी उपभाषाएं एक-दूसरे के प्रति बोधगम्यता नहीं रखती हैं, तो वे भी अरबी भाषा की उपभाषाएं नहीं रह जाएंगी। **ऐसा कहीं भी मार्क्सवादी भाषाशास्त्र में नहीं लिखा गया है। यहां तक कि समकालीन संजीदा भाषाशास्त्री भी ऐसी मूर्खतापूर्ण बात नहीं कर सकते हैं। उल्टे आधुनिक भाषाशास्त्र यह कहता है कि परस्पर बोधगम्यता एक भाषा परिवार की बोलियों व उपभाषाओं का निर्धारण करने का कोई आधार ही नहीं है।** वैसे तो हिन्दी की तमाम उपभाषाएं व बोलियां बोलने वाले हिन्दी समझते हैं, लेकिन नहीं भी समझते, तो इससे कुछ भी नहीं तय होता है। भाषा परिवारों की सीमा रेखाएं सुखविन्दर जैसे कौमवादियों और भाषाई अस्मितावादियों के 'इम्प्रेशंस' से नहीं तय होती हैं, बल्कि उन्हें तय करने के वैज्ञानिक आधार होते हैं।

भाषाशास्त्रियों द्वारा इसी के लिए 'dialect continuum' **या** 'dialect chain' **का सिद्धांत दिया गया है जिसमें विभिन्न बोलियों और उनकी मानकीकृत भाषा (जिसे भाषाशास्त्र में** prestige language **कहते हैं) को इन्द्रधनुष के सामान एक स्पेक्ट्रम पर रखकर उनके बीच की दूरी द्वारा समझा जाता है। स्पेक्ट्रम के दोनों छोरों पर बोली जाने वाली बोलियाँ-उपभाषाएं अक्सर ही परस्पर बोधगम्य नहीं होती हैं, जबकि स्पेक्ट्रम पर एक-दूसरे के निकट पड़ने वाली बोलियाँ आपस में समझी जा सकती हैं लेकिन तब भी ये सभी उसी मानकीकृत भाषा की बोलियाँ और उप-भाषाएँ मानी जाती हैं। इसलिए, भाषाशास्त्र के वैज्ञानिक-तकनीकी मानकों के अनुसार इससे कोई फर्क नहीं पड़ता है कि एक भाषा समूह में सभी लोग एक-दूसरे द्वारा इस्तेमाल की जा रही ज़बान समझते हों। न तो चीनी भाषा के साथ ऐसा है, न अरबी के साथ और न ही फ्रेंच के साथ।**

दूसरे, पारस्परिक बोधगम्यता तो कई दो अलग-अलग भाषाओं में भी पाई जाती है, लेकिन तब भी वे भाषाएँ अलग ही होती है, एक भाषा की उपभाषा या बोली नहीं, जैसे डच और जर्मन, चेक और स्लोवाक, यहाँ तक की पंजाबी और हिंदी भी! यह परस्पर बोधगम्यता का सिद्धान्त भाषा परिवारों की सीमारेखा तय करने, बोलियों व भाषाओं का रिश्ता तय करने या बोलियों के आपसी रिश्ते को तय करने का कोई मानक नहीं है, इसे ऐतिहासिक तौर पर निस्सन्देह रूप से सिद्ध किया जा सकता है और यही वजह है कि वैज्ञानिक भाषाशास्त्री पूरी दुनिया में इसे कोई मानक मानते ही नहीं हैं। लेकिन सुखविन्दर अपने इन्द्रियबोध के संवेदनों (इम्प्रेशंस) के आगे कुछ देखने के लिए तैयार ही नहीं हैं! और इस प्रकार प्रत्यक्षवाद की बीन बजा रहे हैं, न कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दृष्टिकोण अपना रहे हैं।

संपर्क भाषा के प्रश्न पर सुखविन्दर की "बन्दरकुद्दियाँ"

पहली बात तो यह है कि सम्पर्क भाषा के सवाल पर भी सुखविन्दर ने जो अवस्थिति अपने लेख में रखी है वह 'ललकार' की पुरानी पोजीशन से अलग है। बिना ईमानदार आत्मालोचना किये अपनी पुरानी पोजीशनों से भाग खड़े होना, इन महोदय की पुरानी आदत है। 'ललकार' के फेसबुक पेज पर तो वह लगातार सम्पर्क भाषा की अवधारणा का ही विरोध कर रहे थे। इनके इस विरोध को आप यहाँ पढ़ सकते हैं - https://m.facebook.com/story.php?story_fbid=3592522060776504&id=644607072234699

हो सकता है इस बीच क्लासकीय मार्क्सवादी अवस्थिति का अध्ययन करके सुखविन्दर की आँखें खुल गई हों! यह तो अच्छी बात है कि आपको सही मार्क्सवादी अवस्थिति समझ में आ गई। लेकिन क्रांतिकारी नैतिकता का तकाजा है कि आप अपनी बदली हुई अवस्थिति के विषय में कम से कम एक आत्मालोचना पेश करें। खैर, उम्मीद है जब आप भारत में राष्ट्रीयता के प्रश्न पर लिखेंगे तो बताएँगे कि आपके अनुसार भारत में इसके लिए कौन सी भाषा/भाषाएँ उपयुक्त हैं। सोवियत संघ में सम्पर्क की भाषा के तौर पर रूसी को मान्यता प्राप्त थी। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता था कि रूसी की ऐसी स्थिति ऐतिहासिक रूप से रूसी को अन्य कौमों पर थोपने की वजह से बनी थी। आप इतिहास से गुस्सा नहीं हो सकते हैं, यह बचकानापन होगा। ठोस परिस्थितियों के अनुसार सोवियत संघ में यह भूमिका रूसी ही निभा सकती थी और उसी ने निभाई भी। सभी कौमों के मेहनतकश भी व्यावहारिक होते हैं और उन्होंने इसे स्वीकार भी किया क्योंकि ठोस परिस्थितियों के अनुसार यही समुचित था। वे टटपुंजिया कौमवादियों की तरह अव्यावहारिक प्रतिक्रिया में नहीं जीते हैं, जैसे कि सुखविन्दर जी रहे हैं।

सुखविन्दर संपर्क भाषा के विषय में लिखते हैं,

> "विभिन्न भाषाओं वाले विभिन्न राष्ट्रों के लोगों को एक-दूसरे से मेल-जोल की भी ज़रूरत होती है। ऐसा वे संपर्क भाषा के ज़रिये करते हैं। ऐसी संपर्क भाषा आर्थिक अंतरक्रिया की आवश्यकताओं में से ख़ुद-ब-ख़ुद विकसित होती है। ऐसी प्रक्रिया में विकसित होने वाली संपर्क भाषा का मार्क्सवादी विरोध नहीं करते। वे सिर्फ़ किसी राष्ट्र पर परायी भाषा थोपे जाने का विरोध करते हैं।" (सुखविन्दर, 'राष्ट्रीय प्रश्न और मार्क्सवाद', प्रतिबद्ध-33)

यह तो किसी ने कहा ही नहीं था कि सम्पर्क भाषा थोपी जानी चाहिए, तो आप खण्डन किसका कर रहे हैं? दूसरी बात, यह बात तो पूरी बहस में लगातार हम कह रहे थे कि सम्पर्क भाषा पूंजीवादी आर्थिक गति से स्वत:स्फूर्त रूप से विकसित होती है और जब तक उसे थोपा न जाय, उसका विरोध नहीं करना चाहिए। जिसके जवाब में आपने सम्पर्क भाषा की अवधारणा का ही विरोध शुरू कर दिया था! तो आपके मिजाज अचानक बदले-बदले क्यों नजर आ रहे हैं? इसलिए क्योंकि हमेशा की तरह आपने चोर दरवाजे से अपनी पोजीशन बदल ली है।

खैर, हम ऊपर दिखा चुके हैं कि पंजाबी के साथ जो अन्याय हो रहा है, वह वास्तव में अपने आर्थिक हितों के लिए स्वयं पंजाबी बुर्जुआजी द्वारा किया जा रहा है। दूसरी बात, जिस हद तक ये निजी स्कूल (जिनके मालिक पंजाबी ही हैं) हिन्दी/अंग्रेजी को थोपते हैं या पंजाब की राज्य सरकार (जो कि मूलत: पंजाबी बुर्जुआजी का ही प्रतिनिधित्व करती है) अंग्रेजी में कुछ विषय पढ़ाने के लिए अध्यापकों को प्रोत्साहित करती है, तो हमें उसका

निश्चय ही विरोध करना चाहिए, मगर जिस हद तक लोग स्वयं आर्थिक क्रिया-व्यापार की आवश्यकताओं से हिन्दी व अंग्रेजी या कोई भी अन्य भाषा सीखते हैं, उसका विरोध करना रूमानी प्रतिक्रियावाद है। जैसे कि पंजाब के लोगों को यह कहना कि कोई हिन्दी या किसी अन्य भाषा में बात करे तो उसका जवाब मत दो, आदि। तो फिर सुखविन्दर चोर-दरवाजे से अपनी अवस्थिति को बदलकर यों उपदेश देने की मुद्रा में आ गये हैं, जैसे कि उन्होंने कोई नया आविष्कार किया हो!

याद दिला दें कि हमने बहस के दौरान पहले भी बार-बार यह कहा था कि सम्पर्क भाषा दो प्रकार से ही विकसित होती है: पहला, पूंजीवाद अपनी आर्थिक गति से ही एक भाषा को वाणिज्यिक विनिमय के लिए ज्यादा उपयुक्त भाषा बना देता है और इसीलिए, लेनिन के अनुसार, किसी भाषा को थोपना नहीं चाहिए और न ही किसी आधिकारिक भाषा की आवश्यकता है, बल्कि एक बहुराष्ट्रीय देश में बिना किसी दबाव या जोर-जबर्दस्ती के भी पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की गति स्वयं ही एक भाषा को सम्पर्क भाषा के रूप में स्थापित कर देगी। दूसरा, अलग-अलग राष्ट्रीयताएं सुसंगत जनवाद (consistent democracy) के माहौल में (जो कि साम्राज्यवाद के दौर में पूंजीपति वर्ग कभी पूर्ण रूप से नहीं दे सकता और उसमें हमेशा कुछ बाधाएं पैदा करता है) स्वयं तय कर लेती हैं कि उनके सामाजिक-आर्थिक आदान-प्रदान के लिए कौन-सी भाषा उपयुक्त है। लेनिन लिखते हैं:

> "यदि सभी विशेषाधिकार समाप्त हो जाएं, यदि किसी भी एक भाषा को थोपना बन्द हो जाए, तो सभी स्लाव आसानी से और तेज़ी से एक-दूसरे को समझने लगेंगे और इस "डरावने" विचार से घबराएंगे नहीं कि अलग-अलग भाषाओं में एक साझा संसद में भाषण दिये जाते हैं। आर्थिक विनिमय की आवश्यकताएं स्वयं ही *निर्धारित* कर देंगी कि किसी देश में वाणिज्यिक सम्बन्धों के हित में बहुसंख्या द्वारा किस भाषा का ज्ञान रखना *उसके लिए फायदेमन्द* होगा। यह फैसला और भी दृढ़ होगा क्योंकि यह विभिन्न राष्ट्रीयताओं द्वारा स्वेच्छा से अपनाया जाएगा, और इसे अपनाया जाना भी उतना ही तेज और व्यापक होगा जितना सुसंगत जनवाद होगा, और इसके नतीजे के तौर पर, पूंजीवाद का विकास भी उतना ही तेज होगा।" (Lenin, **Critical Remarks on the National Question**)

यानी, यदि पूंजीवाद की स्वत:स्फूर्त ऐतिहासिक व आर्थिक गति से कोई भाषा या कुछ भाषाएं किसी बहुराष्ट्रीय देश में सम्पर्क भाषा या सम्पर्क भाषाओं के तौर पर उभरती हैं, तो न तो यह अन्य भाषाओं के लिए कोई ख़तरा होती है और न ही कम्युनिस्टों का यह काम है उसका विरोध करें। **पाठकों को याद होगा कि इस बहस में हम शुरू से ही यही अवस्थिति अपनाते रहे हैं, जिसका 'ललकार-प्रतिबद्ध' ग्रुप विरोध करते-करते इस अवस्थिति पर आ गया था कि सम्पर्क भाषा की अवधारणा ही ग़लत है क्योंकि उनका कौमवाद उनके अन्दर इस अवधारणा के कारण पंजाबी भाषा को लेकर असुरक्षाबोध पैदा कर रहा था। लेकिन अपनी इस कट्टरपंथी और अवैज्ञानिक अवस्थिति को चोर-दरवाज़े से और जोड़-तोड़ करके सुखविन्दर ने अचानक बिना किसी आत्मालोचना के बदल लिया है। इसी को हम बौद्धिक बेईमानी कहते हैं।**

तो भाषा के प्रश्न पर हमने अपनी उपरोक्त चर्चा में देखा कि सुखविन्दर किस तरह किसी भी रूप में होने वाले भाषाई दमन को ही राष्ट्रीय दमन में तब्दील कर देते हैं, जबकि मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओवाद कहता है कि भाषाई दमन राष्ट्रीय दमन के तमाम रूपों या अभिव्यक्तियों में से एक है, यह *अपने आप में* राष्ट्रीय दमन नहीं होता है न ही *अपने आप में* यह राष्ट्रीय दमन का कारण होता है। **बिना किसी कौम को कौमी तौर पर दबाये, यानी उस कौम के बुर्जुआ वर्ग समेत उसका राजनीतिक तौर पर दमन किये बिना, राष्ट्रीय दमन अस्तित्व में आ ही नहीं सकता है।** अगर ऐसा राजनीतिक

कौमी दमन मौजूद न हो तो भाषाई दमन कुछ भी हो सकता है, सिवाय कौमी दमन के। हमने यह भी देखा कि पंजाबी भाषा का कोई भाषाई दमन भी भारतीय शासक वर्ग द्वारा नहीं हो रहा है, हालांकि यह अपनी आर्थिक ज़रूरतों से हिन्दी को प्रोत्साहित करने का काम अवश्य करता है, लेकिन इस शासक वर्ग में स्वयं पंजाबी बुर्जुआजी भी शामिल है, इसलिए इसे भी कौमी दमन वही कह सकता है, जिसे मार्क्सवाद-लेनिनवाद का ककहरा भी नहीं पता है।

खैर, पंजाबी पहले से ही पंजाब की आधिकारिक भाषा है और भारतीय राज्यसत्ता और शासक वर्ग भी वहाँ चाहकर भी हिंदी या अंग्रेजी *थोप* नहीं सकते, और उन्हें ऐसा चाहने की कोई ज़रूरत भी नहीं है। हां, अपनी आर्थिक आवश्यकताओं से पंजाब की बुर्जुआजी खुद ही अंग्रेजी को सरकारी स्कूलों तक में प्रमोट कर रही है, लेकिन यह कोई कौमी दमन नहीं है। खैर, इतना 'संघवाद' तो अभी भारत के राजनीतिक ढांचे में बचा हुआ है, जिसके 'विलुप्त' होने के भय से सुखविन्दर की आत्मा थरथरा रही है!

तो पंजाबी भाषा के साथ जो भी गैर-बराबरी या दोयम दर्जे का सुलूक पंजाब में हो रहा है, वह वहाँ का बुर्जुआ वर्ग ही अपनी आर्थिक ज़रूरतों के कारण कर रहा है। इसलिए सुखविन्दर को सारी भड़ास केन्द्रीय सत्ता पर ही नहीं निकालनी चाहिए (जोकि आम तौर पर हिंदी या अंग्रेजी को अपनी आर्थिक-राजनीतिक ज़रूरतों के कारण बढ़ावा देती ही है और उसमें खुद पंजाबी बुर्जुआजी भी शामिल है), बल्कि अगर वह अपने पिछवाड़े में, यानी पंजाब में ही ढूँढेंगे तो पंजाबी भाषा के भाषाई दमन के गुनहगार उन्हें वहीँ मिल जायेंगे!

5. चण्डीगढ़ के सवाल पर: सुखविन्दर पंजाबी बुर्जुआज़ी के सियासी नुमाइन्दों की राह पर

एक अन्य स्थान पर लेख में सुखविन्दर इस विषय पर बात करते हैं कि राष्ट्रीय दमन के खात्मे के एक अंग के तौर पर प्रशासकीय इकाइयों का निर्माण आबादी की राष्ट्रीय संरचना के अनुसार होना चाहिए। इसके अंतर्गत वे कई और बातें भी बोलते हैं, लेकिन उनपर हम आगे चर्चा करेंगे। फिलहाल चंडीगढ़ के सम्बन्ध में उनके विचार जान लेते हैं। यहाँ बताते चलें कि 'प्रतिबद्ध-ललकार' ग्रुप पिछले कई महीनों से चंडीगढ़ को पंजाब के तहत लाने की मांग उठा रहा है। पंजाब का कौमी दमन दिखलाने के लिए वे इस तथ्य को काफी मुखरता से सामने रखते हैं। सुखविन्दर यहाँ लिखते हैं:

> "लेनिन ये भी कहते हैं, कि प्रशासकीय इकाइयाँ बनाने में आबादी की राष्ट्रीय संरचना एक अहम कारक है, पर एकमात्र नहीं और सबसे अहम कारक नहीं है। वे कहते हैं कि शहर जिनकी आबादी मिली-जुली होती है, को "राष्ट्रीय कारक" की वजह से उन गाँवों और इलाक़ों से अलग करना जो आर्थिक रूप से उनकी ओर खींचे जाते हैं, absurd और असंभव होगा। इसे हम चण्डीगढ़ के मामले में देख सकते हैं, जिसे कई वर्ग अपचयनवादी भटकाव के शिकार मार्क्सवादी, इस आधार पर कि इसकी "बहुसंख्या" ग़ैर-पंजाबी है, पंजाब से अलग करके, दिल्ली के हवाले करने का समर्थन कर रहे हैं।" (सुखविन्दर, 'राष्ट्रीय प्रश्न और मार्क्सवाद' प्रतिबद्ध-33)

पहली बात तो यह है कि हम "वर्ग अपचयनवादियों" ने पहला पैमाना चण्डीगढ़ की आबादी की इच्छा को बताया था, न कि उसके राष्ट्रीय कम्पोजीशन को। राष्ट्रीय कम्पोजीशन दूसरा पैमाना है। लेनिन का भी यही मानना है कि किसी भी क्षेत्र, गांव/शहर या प्रान्त की सीमाओं में परिवर्तन में सबसे पहला पैमाना स्वयं *जनता की इच्छा* है। लेनिन ने इसे जनवाद का

बुनियादी उसूल बताया। सुखविन्दर या हमें इस बारे में क्या लगता है, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। जैसा कि लेनिन ने कहा था छड़ी से हांककर तो आप किसी को जन्नत में भी नहीं ले जा सकते हैं! आगे हम लेनिन के विचारों को विस्तार से सन्दर्भ सहित पेश करेंगे और दिखलाएंगे कि सुखविन्दर एक बार फिर से झूठ बोलने और लेनिन की बातों को विकृत करने पर आमादा हो गये हैं।

इस लेख में वैसे सुखविन्दर ने कहीं इस बात को लिखा नहीं है कि हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, राजस्थान और जम्मू के पंजाबी-भाषी क्षेत्र पंजाब को मिलने चाहिए, जोकि 'ललकार-प्रतिबद्ध' ग्रुप की एक अन्य प्रमुख मांग रही है और जिसका इस्तेमाल यह पंजाब का राष्ट्रीय दमन साबित करने के लिए करते रहे हैं (हालांकि, सिरसा के अपवाद को छोड़कर इन राज्यों में एक भी ऐसा जिला नहीं है जहां पंजाबीभाषी बहुसंख्या में हों; लेकिन बागड़ी से लेकर डोगरी तक पर पंजाबी राष्ट्रवादी कट्टरपंथी नज़रिये से पंजाबी का अधिकार ठोंककर 'ललकार-प्रतिबद्ध' ग्रुप अक्सर यह दावा करता है, कि इन सभी बोलियों को बोलने वाले क्षेत्रों को पंजाब में शामिल कर देना चाहिए; वास्तव में, इस बंटवारे की मांग का आधार जनवादी नहीं है, बल्कि पुराने सिख साम्राज्य की सीमा को पंजाब के रूप में बहाल करने के लिए कौमवादियों के पेट में उठा दर्द ज्यादा प्रतीत होता है); लेकिन हाँ, सुखविन्दर इस बात के लिए भी अपने लेख में लेनिन से प्राधिकार हासिल करने की कोशिश करते हैं। तो जब उन्हें पंजाब से अलग हुए तमाम इलाके में "राष्ट्रीय कारक" का तत्त्व दिखलाना होता है, जैसे कि सिरसा में है, तो वह एक तरह के उद्धरण सन्दर्भों से काटकर पेश करते हैं, और जब यही "राष्ट्रीय कारक" वाली बात उनके खिलाफ जाती है, जैसा कि चण्डीगढ़ के मामले में है, तो कोई एक दूसरा उद्धरण उत्खनित करके लाते हैं और दिखलाने की कोशिश करते हैं कि उनके दावे कितने दमदार है। चंडीगढ़ के मसले पर भी वह यही कर रहे हैं।

चंडीगढ़ के पंजाब के साथ विलय के मुद्दे को पंजाब में तमाम बुर्जुआ राजनीतिक दल पिछले लम्बे समय से उठाते रहे हैं। यह उनकी क्षेत्रीय बुर्जुआ राजनीति का प्रमुख अंग रहा है। इसकी शुरुआत **अकाली दल** ने ही की थी। इसी कड़ी में 1982 में अकाली दल ने खालिस्तानी आन्दोलन के नेता जरनैल सिंह भिंडरावाले के साथ मिलकर '**धर्म युद्ध मोर्चा**' की शुरुआत की थी जिसका मक़सद 1973 के **'आनंदपुर साहिब प्रस्ताव'** में पारित की गयी मांगों को पूरा करवाना था। 1973 के इस प्रस्ताव में पंथ/धर्म-सम्बन्धी और राजनीतिक दोनों ही मांगें शामिल थी। राजनीतिक मांगों में पंजाब को एक स्वायत्त राज्य के रूप में स्वीकारने व केंद्र को विदेश, रक्षा, संचार, मुद्रा सहित पांच अधिकार क्षेत्र के अलावा अन्य सभी अधिकार राज्य के अंतर्गत लाने की मांगें रखी गई थीं। **'आनंदपुर साहिब प्रस्ताव' का भी खालिस्तान आन्दोलन के उभार में खासा हाथ था, हालांकि ज़ाहिरा तौर पर इसमें अन्य कारक भी शामिल थे।**

ज्ञात हो कि इससे पहले पंजाब का भाषाई पुनर्गठन 1966 में हो चुका था जिसमें हरियाणा और हिमाचल प्रदेश अलग राज्यों के रूप में अस्तित्व में आये थे। यह प्रक्रिया भी लम्बे समय से जारी 'पंजाब सूबा आन्दोलन' की परिणति थी। 'आह्वान' में आने वाले अंकों में हम इस पूरे इतिहास की एक वृहद् विवेचना प्रस्तुत करेंगे जिनमें इन तमाम आंदोलनों में मौजूद वर्ग शक्तियों और अन्य कारकों की तफसील से चर्चा करेंगे। फिलहाल यहाँ जिस पहलू पर ध्यान देने की ज़रुरत है वह यह है कि ***चाहे चंडीगढ़ का मसला हो या, अन्य पड़ोसी राज्यों में कथित पंजाबी-बहुल इलाकों को पंजाब के साथ मिलाने का, या फिर पंजाब में नदियों के पानी का ही मुद्दा क्यों न हो, ये सभी मसले वहां के धनी किसानों, कुलक-फार्मरों और पंजाबी पूंजीपति वर्ग की नुमाइंदगी करने वाली पार्टियों (क्षेत्रीय व राष्ट्रीय दोनों) द्वारा अतीत में भी और वर्तमान भी उठाये जाते रहे हैं।*** ज़ाहिरा तौर पर मजदूर वर्ग और आम मेहनतकशों के किसी

स्वतंत्र राजनीतिक विकल्प की गैर-मौजूदगी में इन वर्गों के भी कुछ हिस्से इन मांगों पर इकट्ठा होते रहे हैं और इन सत्ताधारी वर्गों के पीछे-पीछे चलते रहे हैं।

इसमें सबसे मजेदार बात यह है कि अगर आप अकाली दल के उपरोक्त 'धर्म युद्ध मोर्चा' के मांगपत्रक और 'ललकार-प्रतिबद्ध' ग्रुप के पंजाब के कौमी दमन को साबित करने के लिए जारी की गयी फेहरिस्त और उससे निसृत मांगों की तुलना करेंगे तो पायेंगे कि यह दोनों एक-दूसरे की कार्बन कॉपी हैं! ज़रा 'धर्म युद्ध मोर्चा' के मांगपत्रक पर गौर करें-

> 1.Stopping of digging of the SYL canal and restoration of state's rivers water as per riparian law; 2. To merge Punjabi speaking areas in new state of Punjab; 3. Restoration of Chandigarh to Punjab as its capital; 4. Greater autonomy to states as envisaged in Sri Anandpur Sahib Resolution.
>
> "1. एसवाईएल का निर्माण बन्द किया जाय और रिपेरियन लॉ के अनुसार राज्य की नदियों के पानी को पुनर्स्थापित किया जाय; 2. पंजाबी भाषी क्षेत्रों को पंजाब के नये राज्य में मिलाया जाय; 3. चण्डीगढ़ को वापस पंजाब की राजधानी बनाया जाय; 4. राज्यों को अधिक स्वायत्तता दी जाय, जैसा कि श्री आनन्दपुर साहिब प्रस्ताव में कल्पना की गयी थी।" (अकाली दल द्वारा प्रायोजित धर्म युद्ध मोर्चा का मांगपत्रक)

तो यह थीं अकाली दल द्वारा प्रायोजित 'धर्म युद्ध मोर्चा' की मुख्य मांगें। ऐसा प्रतीत होता है कि 'ललकार-प्रतिबद्ध' ग्रुप ने दक्षिणपंथी बुर्जुआजी का यही चार्टर शब्दश: कॉपी कर लिया है, जिसमें एक भी आज पंजाब की आम मेहनतकश जनता की आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व नहीं करता है। इनके अलावा कई धार्मिक और आर्थिक मांगें भी शामिल थीं। लेकिन आप यदि उपरोक्त सेक्युलर राजनीतिक मांगें पर नज़र डालेंगे तो स्पष्ट तौर पर देखेंगे कि इनमें और 'ललकार-प्रतिबद्ध' ग्रुप की मांगों में कितनी समानता है। *इसी को कहते हैं 'देजा वू'! सुखविन्दर ने हमारे तथाकथित वर्ग-अपचयनवाद के बारे में कहा था कि हम कौमी मसलों को चिमटे से भी उठाने को तैयार नहीं, लेकिन ऊपर देखकर तो ऐसा लगता है कि कौमी मसलों को हाथों-हाथ लेने की अधैर्यता ने सुखविन्दर को दक्षिणपंथी पंजाबी कौमवाद के चौधरियों की गोद में ले जाकर बिठा दिया है!*

बहरहाल, चंडीगढ़ की अपनी चर्चा पर लौटते हैं। चंडीगढ़ के सवाल पर सुखविन्दर कई उद्धरण देकर यह सिद्ध करने पर आमादा हो जाते हैं कि आज के दौर में चंडीगढ़ पर पंजाब का दावा सही है। वह लेनिन का एक उद्धरण 'क्रिटिकल रिमार्क्स ऑन द नेशनल क्वेश्चन' से देते हैं जिसका हम एक हिस्सा यहाँ दे रहे हैं-

> "लेकिन आबादी की राष्ट्रीय संरचना केवल बेहद अहम आर्थिक कारकों में से एक है, और एकमात्र और सबसे अहम कारक नहीं है। मिसाल के तौर पर पूंजीवाद के अन्तर्गत शहर एक बेहद अहम आर्थिक भूमिका निभाते हैं, और हर जगह, पोलैण्ड में, लिथुआनिया में, यूक्रेन में, महान रूस में, और अन्य जगह शहरों में मिश्रित आबादी रहती है। शहरों को उन गांवों और क्षेत्रों से काट देना जो कि आर्थिक तौर पर उनकी ओर आकर्षित होते हैं, सिर्फ "राष्ट्रीय" कारक के कारण, बेतुका और असम्भव है। इसलिए मार्क्सवादियों को अपनी अवस्थिति केवल और एकमात्र "राष्ट्रीय-क्षेत्रीय" सिद्धान्त पर नहीं तय करनी चाहिए।
>
> "रूसी मार्क्सवादियों द्वारा अपने आखिरी सम्मेलन में सुझाया गया समाधान ऑस्ट्रियाई से कहीं ज्यादा सही है। इस प्रश्न पर सम्मेलन ने निम्न प्रस्ताव पेश किया:

""...इसे व्यापक क्षेत्रीय स्वायत्तता देनी चाहिए (न सिर्फ पोलैण्ड के लिए बल्कि रूस के सभी क्षेत्रों के लिए) और पूर्ण रूप से जनवादी स्थानीय स्वशासन देना चाहिए और स्वशासित व स्वायत्त क्षेत्रों की सीमाएं (मौजूदा गुबेर्निया, उयेज्द, आदि से नहीं बल्कि) ***स्वयं स्थानीय बाशिन्दों द्वारा*** उनके आर्थिक व सामाजिक हालात, राष्ट्रीय संरचना आदि के आधार पर तय की जानी चाहिए।" (Lenin, **Critical Remarks on the National Question**)

सुखविन्दर उपरोक्त उद्धरण देकर यह साबित करना चाहते हैं कि आबादी की राष्ट्रीय संरचना हर सूरत में इलाकों की बसाहट का पैमाना नहीं होती है। हम एक बार फिर देख सकते हैं कि सुखविन्दर किस तरह लेनिन को 'मिसरिप्रेसेन्ट' करने का व्यर्थ प्रयास कर रहे हैं। ***साथ ही हमेशा की तरह वह इस उद्धरण को भी पूरा नहीं दे रहे हैं, जिसमें वास्तव में लेनिन जो बात कह रहे हैं वह सुखविन्दर की धारणाओं के एकदम विपरीत हैं। इस उद्धरण का शेष हिस्सा हम आगे देंगे।*** लेनिन उपरोक्त उद्धरण में इलाकों के मध्ययुगीन, सामंती और सरकारी प्रशासनिक बंटवारे की जगह आधुनिक वाणिज्यिक अंतर्क्रिया के लिहाज़ से ज्यादा उपयुक्त बंटवारों की हिमायत कर रहे हैं *जो कि वहाँ रहने वाली आबादी की सहमति से तय किये जाने चाहिए।* **स्वयं लेनिन ऊपर कह रहे हैं कि इसमें जो सबसे अहम बात है वह है "स्थानीय आबादी द्वारा निर्धारित"।** लेकिन जैसा कि कहते हैं -'सावन के अंधे को सब हरा ही दिखता है'! सुखविन्दर वही देखते हैं, जो वह देखना चाहते हैं। **सबसे बुनियादी पैमाने को, यानी की जिस भी क्षेत्र की हम बात कर रहे हैं, उसकी जनता की इच्छा, सुखविन्दर जानबूझकर गोल कर जाते हैं।**

इतिहास में चंडीगढ़ को बसाने के लिए जिस तरह से 50 से अधिक पुआधी बोलने वाले गाँवों को उजाड़ा गया, वह ज़ाहिरा तौर पर गलत था। **लेकिन आप अतीत में जाकर हर ऐतिहासिक भूल या अन्याय को दुरुस्त नहीं कर सकते हैं। आप उन्हें वर्तमान की रोशनी में भी देखते हैं। वर्तमान की समस्या का समाधान अतीत में नहीं, बल्कि वर्तमान और भविष्य में होता है। जो अतीत में समाधान की तलाश करते हैं, उन्हीं को हम प्रतिक्रियावादी रूमानीवाद का शिकार कहते हैं।** जिसे आगे कुछ नहीं दिखता, वही पीछे देखता है और ऐसे लोग ही कौमवादी प्रतिक्रिया की गोद में भी जा बैठते हैं। इसलिए आज यह कहना कि चंडीगढ़ पर पंजाब का दावा सही है क्योंकि इतिहास में ऐसा था, *बिना इस बात की परवाह किये कि आज वर्तमान में वहां रह रही आबादी की आकांक्षाएं क्या हैं, यह कत्तई कोई लेनिनवादी अवस्थिति नहीं है,* जैसा कि सुखविन्दर साबित करने की कोशिश कर रहे हैं।

इस विषय में जो सबसे मूल बात है वह यह है कि आज चंडीगढ़ में रहने वाले लोग क्या चाहते हैं? अन्य सभी पैमाने बाद में आते हैं। लेनिन की यही अवस्थिति है। यानी जो बुनियादी जनवाद का सिद्धांत है, उसके अनुकूल कोई भी फैसला लिया जाना चाहिए। अतीत की दुहाई देकर या किन्हीं भी सामाजिक-आर्थिक कारकों की दुहाई देकर ऐसा दावा पेश करना सर्वथा किसी भी जनवादी उसूल के खिलाफ है। **सबसे बुनियादी पैमाना है जनता की इच्छा।** *इस बुनियादी पैमाने के बाद दूसरा सबसे अहम पैमाना देखा जाना चाहिए यानी* वहाँ का राष्ट्रीय कम्पोजीशन क्या है और चण्डीगढ़ की सामाजिक-आर्थिक स्थिति क्या है। सभी जानते हैं कि आज चण्डीगढ़ की आबादी का बहुलांश गैर-पंजाबी हैं। देखें लेनिन इस संबध में 'आत्मनिर्णय सम्बन्धी बहस के परिणाम' में क्या कहते हैं-

"ऐसा लगता है कि नये अर्थवादी या तो यह सोचते हैं कि विजयी समाजवाद का जनवादी राज्य बिना सीमाओं के कायम रहेगा (भूद्रव्यरहित "संवेदनाओं एक एक संश्लेष" की तरह), **या यह कि ये सीमाएं "केवल" उत्पादन की आवश्यकताओं के अनुसार निर्धारित की जाएंगी। वास्तव में, ये सीमाएं जनवादी रूप से, अर्थात आबादी की मर्जी और "सहभावनाओं" के मुताबिक निर्धारित की जाएंगी।** पूंजीवाद इन

सहभावनाओं का दमन करता है और राष्ट्रों के पुनर्मिलन के रास्ते में और भी बड़ी अड़चनें डालता है। वर्ग उत्पीड़न **के बिना** उत्पादन संगठित करते हुए, राज्य के **सभी** सदस्यों की खुशहाली सुनिश्चित करते हुए समाजवाद आबादी की "सहभावनाओं" को **पूरी छूट** देता है और इस प्रकार राष्ट्रों के पुनर्मिलन तथा विलयन को बढ़ावा देता तथा अत्यधिक त्वरित करता है।" (लेनिन, **आत्मनिर्णय सम्बन्धी बहस के परिणाम**)

जैसा कि हम देख सकते हैं कि लेनिन ने सामाजिक-आर्थिक संरचना से भी ऊपर इस बात को तरजीह दी है कि जिन क्षेत्रों का सीमा निर्धारण होना है, उनकी जनता की मर्जी क्या है। आपको किसी क्षेत्र की सामाजिक-आर्थिक या राष्ट्रीय संरचना क्या लगती है, इसके आधार पर आप क्षेत्रों का सीमा-निर्धारण नहीं कर सकते। जो कम्युनिस्ट पार्टी ऐसा मानती है, वह बुनियादी जनवादी उसूल को छोड़ती है। सबसे पहला पैमाना लेनिन के अनुसार है: जनता की मर्जी और उसकी सहभावनाएं (sympathies)। मजेदार बात यह है कि सुखविन्दर द्वारा भी यह उद्धरण दिया गया है *लेकिन वह इसकी मनमानी व्याख्या करके अपनी पंजाबी कौमवादी लाइन के अनुसार मनमाने निष्कर्ष निकालते हैं।* कोई भ्रम न रहे इसलिए देखते हैं कि इसी सवाल पर लेनिन और क्या कहते हैं:

"थीसिस 5 (फुटनोट) में हमने जिन लेखों का हवाला दिया है, उनमें जर्मन अन्धराष्ट्रवादी लेंश ने एंगेल्स के लेख 'पो और राइन नदियां' से एक दिलचस्प उद्धरण दिया है। इस लेख में एंगेल्स ने और बातों के साथ यह भी लिखा है कि ऐतिहासिक विकास-क्रम में, जिसने अनेक छोटे-छोटे तथा जीवन-अक्षम राष्ट्रों को आत्मसात कर लिया, "विशाल तथा जीवनक्षम यूरोपीय राष्ट्रों" की **सीमाएं अधिकाधिक आबादी की "भाषा तथा सहभावनाओं" द्वारा निश्चित होती हैं। ऐसी सीमाओं को एंगेल्स ने "स्वाभाविक" सीमाओं की संज्ञा दी है।** यूरोप में 1848-1871 के प्रगतिशील पूंजीवाद के काल में ऐसा ही हुआ। आज प्रतिक्रियावादी साम्राज्यवाद पूंजीवाद **जनवादी रूप से निर्धारित इन सीमाओं को अधिकतर मामलों में छिन्न-भिन्न कर रहा है।** इस बात के पूरे लक्षण हैं कि साम्राज्यवाद अपने उत्तराधिकारी समाजवाद के लिए **न्यूनतर** जनवादी सीमाओं, यूरोप तथा संसार के अन्य भागों में अनेक समामेलनों (annexations) को विरासत के रूप में छोड़ जाएगा। तो फिर क्या? क्या विजयी समाजवाद सर्वत्र पूर्ण जनवाद की पुन: स्थापना करते हुए तथा उसे लागू करते हुए राजकीय सीमाओं के **जनवादी** निर्धारण को ठुकरा देगा? **क्या वह आबादी की "सहभावनाओं" का लिहाज़ नहीं करना चाहेगा? इन सवालों को उठाना ही यह साफ-साफ देखने के लिए काफी है कि हमारे पोलिश साथी मार्क्सवाद से साम्राज्यवादी अर्थवाद की ओर लुढ़क रहे हैं।**" (वही, *ज़ोर हमारा*)

'क्रिटिकल रिमार्क्स ऑन नेशनल क्वेश्चन' से जो उद्धरण सुखविन्दर द्वारा ऊपर दिया गया था उसको हम यहाँ पूरा दे रहे हैं जिसमें लेनिन स्थानीय आबादी की आकांक्षाओं के अनुसार ऐसे किसी भी सवाल को हल किये जाने की बात कहते हैं:

"अन्त में, यह सन्देह से परे है कि समस्त राष्ट्रीय दमन को खत्म करने के लिए स्वायत्त क्षेत्र बनाना, चाहे वे कितने भी छोटे हों, जिनमें कि पूर्णत: सजातीय आबादियां हों, जिसकी ओर देश भर में फैले, या दुनिया भर में फैले, सम्बन्धित राष्ट्रीयताओं के लोग जा सकते हों, और जिसके साथ वे हर प्रकार के सम्बन्धों व मुक्त संघों में जुड़ सकते हों। यह सब विवादेतर है और इसके खिलाफ किसी अड़ियल, नौकरशाहाना दृष्टिकोण से ही कोई दलील दी जा सकती है।

"लेकिन आबादी की राष्ट्रीय संरचना केवल बेहद अहम आर्थिक कारकों में से एक है, और एकमात्र और सबसे अहम कारक नहीं है। मिसाल के तौर पर पूंजीवाद के अन्तर्गत शहर एक बेहद अहम आर्थिक भूमिका निभाते हैं,

और हर जगह, पोलैण्ड में, लिथुआनिया में, यूक्रेन में, महान रूस में, और अन्य जगह शहरों में मिश्रित आबादी रहती है। शहरों को उन गांवों और क्षेत्रों से काट देना जो कि आर्थिक तौर पर उनकी ओर आकर्षित होते हैं, सिर्फ "राष्ट्रीय" कारक के कारण, बेतुका और असम्भव है। इसलिए मार्क्सवादियों को अपनी अवस्थिति केवल और एकमात्र "राष्ट्रीय-क्षेत्रीय" सिद्धान्त पर नहीं तय करनी चाहिए।

"रूसी मार्क्सवादियों द्वारा अपने आखिरी सम्मेलन में सुझाया गया समाधान ऑस्ट्रियाई से कहीं ज्यादा सही है। इस प्रश्न पर सम्मेलन ने निम्न प्रस्ताव पेश किया:

""...इसे व्यापक क्षेत्रीय स्वायत्तता देनी चाहिए (न सिर्फ पोलैण्ड के लिए बल्कि रूस के सभी क्षेत्रों के लिए) और पूर्ण रूप से जनवादी स्थानीय स्वशासन देना चाहिए और स्वशासित व स्वायत्त क्षेत्रों की सीमाएं (मौजूदा गुबेर्निया, उयेज्द, आदि से नहीं बल्कि) ***स्वयं स्थानीय बाशिन्दों द्वारा*** उनके आर्थिक व सामाजिक हालात, राष्ट्रीय संरचना आदि के आधार पर तय की जानी चाहिए।"

"यहां पर आबादी की राष्ट्रीय संरचना को अन्य स्थितियों (पहले आर्थिक, फिर सामाजिक, आदि) के समान स्तर पर ही रखा गया है, जोकि नयी सीमाओं को निर्धारित करने का आधार बनेंगी, ऐसी सीमाएं जो कि आधुनिक पूंजीवाद की आवश्यकताओं को पूरा करें, न कि नौकरशाही और एशियाई बर्बरता की। **केवल स्थानीय आबादी ही उन स्थितियों का पूर्ण सटीकता के साथ "मूल्यांकन" कर सकती है, और उस आधार पर देश की केन्द्रीय संसद स्वायत्त क्षेत्रों की सीमाएं और स्वायत्त डायटों की शक्तियां निर्धारित कर सकती है।**"

यानी एक बहुराष्ट्रीय देश में भी सभी राष्ट्रों की क्षेत्रीय सीमाओं के निर्धारण का सबसे बड़ा पैमाना यह है कि जनता मिलकर इसे तय करती है। *इसके बाद ही राष्ट्रीय कम्पोजीशन व सामाजिक-आर्थिक स्थिति या कारकों का सवाल आता है।* कम्युनिस्टों को राष्ट्रीय कम्पोजीशन या सामाजिक-आर्थिक स्थितियों के लिहाज से प्रान्तों की कोई भी सीमा सही लगती हो, लेकिन अगर प्रान्तों की जनता उस सीमा के लिए तैयार नहीं है और विशेष तौर पर जिस क्षेत्र को किसी प्रान्त में शामिल करने की मांग की जानी है, उस क्षेत्र की जनता ही उसके लिए तैयार नहीं है, तो उसे जबरन किसी प्रान्त में शामिल करना जनवादी उसूलों के खिलाफ है। आप अपना आशीर्वाद किसी पर थोपने के लिए मचल जाएं, तो आपकी सही जगह कम्युनिस्ट आन्दोलन नहीं बल्कि आम सभ्यता के पैमानों से भी पागलखाना है। इसलिए जब भी चण्डीगढ़ या किसी भी शहर/गांव को पंजाब में शामिल करने की बात की जाती है, तो हमारा कहना होता है कि ***सबसे पहले उस शहर/गांव या चण्डीगढ़ की जनता की इच्छा का निर्धारण होना चाहिए।*** लेकिन सुखविन्दर अपने कौमवादी भटकाव के चलते प्रान्तों की सीमाओं के निर्धारण का सबसे बुनियादी सिद्धान्त ही भूल जाते हैं: जनवाद का सिद्धान्त।

अब सुखविन्दर के कौमवाद और प्रतिक्रियावाद को अच्छे से समझने के लिए एक उदाहरण पर ग़ौर करें। यहूदियों को बरसों पहले यरुशलम से उजाड़कर भगा दिया गया था। बाद में, 1948 में ज़ायनवादियों व साम्राज्यवादियों की साजिश से 1948 में वहां रह रहे फिलिस्तीनियों के ऊपर ज़बरन ज़ायनवादी राज्यसत्ता थोपकर उन्हें इज़रायल में मिला दिया गया। इसके पहले से ही लाखों-लाख फिलिस्तीनियों को इज़रायल से खदेड़ना जारी था और यह प्रक्रिया 1948 के बाद भी जारी रही। नतीजतन, आज इज़रायल में फिलिस्तीनी आबादी अल्पसंख्या में है और कुल फिलिस्तीनियों का लगभग दो-तिहाई हिस्सा शरणार्थियों के तौर पर लेबनॉन, जॉर्डन, सीरिया, मिस्र, व अन्य अरब देशों में रह रहा है। **अगर सुखविन्दर**

के तर्क से चलें तो यह सब ठीक हो रहा है और इज़रायल में मूलत: तो यहूदी ही रहते थे। इसलिए अब उनका उस ज़मीन पर हक़ बनता है और वह ज़मीन यहूदी राष्ट्रीयता को सौंप दी जानी चाहिए और अगर सौंप दी गयी है, तो ठीक ही किया गया है! सुखविन्दर की प्रतिक्रियावादी कौमवादी अवस्थिति के अनुसार बरसों पहले हुए अन्याय को आज एक और अन्याय के ज़रिए दुरुस्त किया जाना चाहिए। यही प्रस्ताव वह चण्डीगढ़ के लिए रख रहे हैं। आज के दौर में इज़रायल-फिलिस्तीन के सन्दर्भ में भी कम्युनिस्टों का प्रस्ताव यह है कि फिलिस्तीन में राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति के फलस्वरूप एक सेक्युलर फिलिस्तीनी राज्यसत्ता होनी चाहिए, जिसके तहत मुसलमान, यहूदी व ईसाई तीनों ही चैन से रह सकें। निश्चित तौर पर, युद्ध अपराधियों और मानवता के विरुद्ध अपराध करने वाले ज़ायनवादियों पर मुकदमे चलाये जाएंगे और उन्हें दण्डित किया जाएगा, फिलिस्तीनियों के हत्यारों को मृत्युदण्ड भी दिये जाएंगे, लेकिन सारे यहूदियों को फिलिस्तीन से बाहर करने का प्रस्ताव कभी कम्युनिस्ट प्रस्ताव नहीं हो सकता है। किसी भी नज़रिये से देखा जाये, तो वर्तमान की समस्या का समाधान अतीत में नहीं बल्कि भविष्य में ही ढूंढा जा सकता है। ताज्जुब नहीं होगा कि आगे सुखविन्दर यह प्रस्ताव भी रखें कि पंजाबियों को लाकर चण्डीगढ़ में बसाया जाय, जिससे कि जनसंख्या की दृष्टि से वहां का राष्ट्रीय कम्पोज़ीशन भी बदल जाये! कौमवाद की गाड़ी कहीं रुकती थोड़े ही है; यह मूलत: एक प्रतिक्रियावादी विचारधारा है, जिसकी अपनी गति होती है।

आज 'ललकार-प्रतिबद्ध' ग्रुप चण्डीगढ़ को *वहां आज रह रहे बाशिन्दों की इच्छा के विपरीत* पंजाब में शामिल करने की बात कर रहा है, अपने फेसबुक पेजों पर ऑपरेशन ब्लू स्टार के दौरान क्षतिग्रस्त हुए स्वर्ण मन्दिर के गुम्बद की तस्वीर शेयर करके "कभी न भूलने और कभी न माफ करने" की हिदायत पंजाब की कौम को दे रहा है, तो कल वह कहां तक जायेगा, इसके बारे में कोई भी ग़फ़लत नहीं पाली जा सकती है।

6. टुकड़ों में बंटे हुए राष्ट्रों का प्रश्न और सुखविन्दर के 'महापंजाब' के विचार में अन्तर्निहित कालदोषपूर्ण तर्कपद्धति और रिसता हुआ पंजाबी कौमवाद

सुखविन्दर 'महापंजाब' को लेकर काफी नॉस्टैलजिक हैं। हालांकि 'ललकार-प्रतिबद्ध' ग्रुप पहले चली बहस में हमेशा इससे इनकार करता रहा था कि वे 'महापंजाब' जैसी किसी चीज़ की मांग कर रहे हैं। लेकिन जो भी हो, इस लेख में तो सुखविन्दर हम जैसे "वर्ग-अपचयनवादियों" को इस बात के लिए काफी खरी-खोटी सुनाते हैं कि हम बिखरे-टूटे-बंटे हुए राष्ट्रों के एकीकरण को लेकर असंवेदनशील हैं। और यह साबित करने के लिए कि आज के दौर में भी ऐसी मांग उठाना जायज़ है वह मार्क्स और एंगेल्स का हवाला देते हैं और कहते हैं कि वे दोनों जर्मनी के एकीकरण और पोलैंड के 'रेस्टोरेशन' के मुखर समर्थक थे। आइये देखें सुखविन्दर क्या लिखते हैं-

> "उन्होंने (मार्क्स और एंगेल्स ने) कई टुकड़ों में बँटे जर्मनी के एकीकरण की वकालत की। जर्मनी के एकीकरण के लिए पूर्वी यूरोप में सरहदें पुनःतय होनी थीं। वे जर्मनी के एकीकरण को महाद्वीपीय यूरोप का सबसे अधिक प्रगतिशील राष्ट्रीय विकास मानते थे। मार्क्स, एंगेल्स दोनों जर्मन राष्ट्र से संबंधित थे। **इसलिए उनके द्वारा जर्मनी के एकीकरण की वकालत किये जाने के कारण 1848 से ही उनके विरोधियों ने उन पर जर्मन**

शॉविनवादी होने के ठप्पे लगाना शुरू कर दिया थे। पर इतिहास ने साबित किया कि उनके विरोधी गलत थे, मार्क्स, एंगेल्स सच्चे अंतरराष्ट्रीयतावादी थे।

"अपने समय में मार्क्स-एंगेल्स ने टुकड़े-टुकड़े किये/हुए राष्ट्रों के पुनःएकीकरण की वकालत की थी। उन्होंने कई देशों द्वारा बाँटे पोलैंड के restoration, जर्मनी के एकीकरण का झण्डा उठाया। मार्क्स-एंगेल्स जर्मन थे, इसलिए जब वे जर्मनी के एकीकरण की वकालत करते थे तो उनके विरोधियों ने उन पर जर्मन शॉविनिस्ट होने के ठप्पे लगाये।

"भारत में भी राष्ट्रों की आबादी के अनुसार एकीकरण का मसला अभी भी असमाधित पड़ा है। अंग्रेज़ी उपनिवेशवादियों ने, भारत की आज़ादी के समय पंजाब और बंगाल को बाँटा। उससे कुछ समय बाद ही भारतीय और पाकिस्तानी शासकों ने कश्मीर को बाँट लिया। भारत में भाषा आधारित राज्य भले ही बने, पर पंजाब, उत्तर-पूर्व और देश में अन्य जगहों पर अभी भी यह प्रश्न असमाधित पड़ा है। जब हम अलग-अलग राष्ट्रों के एकीकरण की बात करते हैं, तो वर्ग अपचयनवादी भटकावों के शिकार मार्क्सवादी हम पर भी राष्ट्रीय शॉविनिस्ट होने के ठप्पे लगा देते हैं। अक्सर ऐसा होता है कि कई मार्क्सवादियों के पास ठप्पों के अलावा और कुछ होता ही नहीं है। इसलिए ये हमेशा, बिना किसी अन्तराल के ठप्पे बाँटने में मसरूफ़ रहते हैं। यह मार्क्सवादी भारत में दबे-कुचले राष्ट्रों के किसी भी प्रश्न को चिमटे से भी उठाने को तैयार नहीं हैं।" (सुखविन्दर, 'राष्ट्रीय प्रश्न और मार्क्सवाद', प्रतिबद्ध-33)

तो मतलब सुखविन्दर स्वयं अपनी तुलना मार्क्स-एंगेल्स से करते हैं! यह भी बढ़िया है! अपने पंजाबी कौमवाद को ढंकने-तोपने के लिए सुखविन्दर ने किस तरह की बौद्धिक कसरतों को अंजाम दिया है, वाकई कभी-कभी अपनी ही आँखों पर यकीन नहीं होता है! लेकिन जनाब सुखविन्दर, दिक्क़त यह है कि मार्क्स और एंगेल्स वास्तव में अंतरराष्ट्रीयतावादी थे और आप *वास्तव में* पंजाबी नेशनल शॉविनिस्ट ही हैं! जब राष्ट्रवादी विचलनकारियों ने अपनी अवस्थितियों को मार्क्स व एंगेल्स के उद्धरणों से सही साबित करने की कोशिश की थी तो लेनिन ने उन्हें कहा था कि 'आप मार्क्सवाद के शब्द का अनुसरण करते हैं, स्पिरिट का नहीं।' **लेकिन सुखविन्दर मार्क्सवाद के न तो शब्द का अनुसरण करते हैं, और न ही स्पिरिट का। वह मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन, स्तालिन और माओ के उद्धरणों को पहले सन्दर्भ से काटते हैं और फिर उनकी दुर्व्याख्या करते हैं, ताकि अपने कौमवाद को सही ठहरा सकें, जैसा कि हम ऊपर दिखला चुके हैं। यहां भी इन्होंने मार्क्स के साथ यही किया है। हम दिखाते हैं कैसे। लेकिन पहले देख लेते हैं कि सुखविन्दर कैसे चोर दरवाज़े से लीपापोती करके अपनी बातें बदलते हैं।**

सुखविन्दर द्वारा अपने पंजाबी कौमवाद को छिपाने के लिए किया गया बातबदलूपन

सुखविन्दर ने जो यहाँ अपनी बात में पंजाब के साथ बंगाल और कश्मीर का नाम भी जोड़ दिया है वह भी अपने इसी पंजाबी कौमवाद को ढंकने-तोपने की कवायद का एक हिस्सा मात्र है। शुरुआत में 'ललकार-प्रतिबद्ध' ग्रुप ने बंगाल या कश्मीर का नाम भी नहीं लिया था और केवल पंजाब के विभाजन पर ही आंसू बहा रहे थे। जिस वक़्त 'ललकार-प्रतिबद्ध' ग्रुप सिर्फ पंजाब के टुकड़ों-टुकड़ों में बंटने का शोकगीत गा रहा था, तब इन्हें याद दिलवाया गया था कि भारतीय उपमहाद्वीप में विभाजन की त्रासदी और विभीषिका केवल पंजाब को नहीं झेलनी पड़ी थी बल्कि बंगाल, और एक हद तक राजस्थान, गुजरात आदि को भी यह सहना पड़ा था। **सच कहें तो यह त्रासदी पूरे भारतीय उपमहाद्वीप**

को ही झेलनी पड़ी थी। ***इसके बाद इन्हें समझ में आया कि सिर्फ पंजाब की बात करना एकदम नंगे क़िस्म का कौमवाद हो जायेगा, इसलिए चोर-दरवाज़े से इन्होंने पहले बंगाल और अब कश्मीर को जोड़ दिया है। हम यहाँ 'ललकार' की एक पुरानी पोस्ट का अंश दे रहे हैं जहां इनका पंजाबी कौमवाद इनकी राष्ट्रवादी फटी झोली से उछल कर बाहर आ गया था और यह भी दिखलायेंगे कि कैसे इन्होंने अपनी बात में दिए गए उदाहरण बदल लिए हैं*** –

> "मानव इतिहास शोषण-उत्पीड़न रहित समाज के सृजन के लिए जद्दोजहदों से भरा पड़ा है। मानव इतिहास अन्यायपूर्ण युद्धों, बर्बर क़त्लेआमों का भी गवाह है। साम्राज्यवादियों-पूँजीवादी शासकों द्वारा क़ौमों के अन्यायपूर्ण बँटवारों और क़त्लेआम भी इतिहास की छाती पर अंकित हैं। इसके साथ ही इतिहास ने इन अन्यायपूर्ण बँटवारों को ख़त्म होते हुए भी देखा है। दूसरे विश्वयुद्ध में जर्मनी पूर्वी और पश्चिमी दो देशों में बँट गया। पर यहाँ के लोगों ने इस बँटवारे को कभी भी मंज़ूर नहीं किया। 1990 में बर्लिन की दीवार गिर गयी। जर्मनी के लोग फिर से एक हो गये। इस तरह उत्तरी और दक्षिणी हिस्सों में बँटा वियतनाम 1976 में एक हो गया। 1945 में कोरिया भी उत्तरी और दक्षिणी कोरिया में बँट गया। पर यह बँटवारा कोरिया के लोगों के दिलों को नहीं बाँट सका। इसलिए कोरिया के फिर से एकीकरण की बात लगातार चलती रहती है। भविष्य में इसके एक होने की सम्भावना है। पंजाब ने भी 1947 की त्रासदी झेली है। अंग्रेज़ शासकों ने यहाँ साम्प्रदायिकता के जो बीज बोये थे उन्होंने 1947 में 10 से 12 लाख पंजाबियों की बलि ले ली। कोई डेढ़ करोड़ पंजाबियों को उजड़ना पड़ा। पर यह सब भी पंजाब के दिलों को न बाँट सका। दोनों पंजाबों के लोगों में फिर से मिलने की प्रबल इच्छा है। देखना यह है कि क्या यहाँ भी जर्मनी, वियतनाम दोहराया जायेगा। अगर पंजाब का फिर से एकीकरण होता है तो इससे किसे तकलीफ़ हो सकती है? सबसे ज़्यादा तकलीफ़ तो साम्प्रदायिक लोगों को ही हो सकती है। या क़ौमों, क़ौमी भावनाओं के प्रति संवेदनहीन रवैया रखने वाले बौने बुद्धिजीवियों को हो सकती है। दिल्ली और इस्लामाबाद के शासकों को वाहगा के दोनों तरफ़ के लोगों के आपसी प्यार से तकलीफ़ हो सकती है। कम्युनिस्ट जो पूरी दुनिया के लोगों की एकता चाहते हैं, वे भला पंजाब और बंगाल या अन्य टुकड़े-टुकड़े की गयी क़ौमों की एकता क्यों नहीं चाहेंगे? (हाँ इस चाहत का हक़ीक़त बन सकना या न बन सकना भविष्य की बात है)। वे दोनों पंजाबों के लोगों के फिर इकट्ठा होने के जज़्बों की क़द्र क्यों नहीं करेंगे? अगर दुनिया में ऐसे अजूबे कम्युनिस्ट हैं तो उन पर तरस ही किया जा सकता है, हँसा भी जा सकता है।" ('ललकार' के फेसबुक पेज से)

हमने उस वक़्त भी कहा था कि पूरे भारतीय उपमहाद्वीप के विभाजन को रद्द करने की बजाय, केवल पाकिस्तान के पंजाबी सूबे और भारत के पंजाब के पुनःएकीकरण की बात करना और वियतनाम, जर्मनी के एकीकरण और कोरिया के सम्भावित एकीकरण से उसकी तुलना करना न सिर्फ बेमाने है बल्कि सिर्फ पंजाब के ही सन्दर्भ में यह बात करना 'ललकार-प्रतिबद्ध' ग्रुप की भयंकर कौमवादी सोच को भी दिखलाता है। **इसके अलावा, सिर्फ पंजाब के एकीकरण की बात करना लेकिन पूरे भारतीय उपमहाद्वीप के सन्दर्भ में विभाजन की त्रासदी को** '**अनडू**' (undo) **करने की बात न करना किन कम्युनिस्ट मानकों से सही दृष्टिकोण है?** साथ ही, आप इनके उस वक़्त के उदाहरणों, यानी जर्मनी, वियतनाम, कोरिया आदि के उदाहरणों पर गौर करें। सुखविन्दर ने अपने नये लेख में इनका ज़िक्र तक नहीं किया है। अब एकीकरण के मसले पर यह मार्क्स और एंगेल्स से प्राधिकार प्राप्त करने के चक्कर में हैं।

सकारात्मक तौर पर यह बताने की बजाय कि क्यों पूरे विभाजन को ही ख़त्म नहीं कर दिया जाना चाहिए, सुखविन्दर उन्नीसवीं शताब्दी के जर्मनी और पोलैंड के उदाहरण देने में लग जाते हैं। **जबकि मार्क्स और एंगेल्स एकदम अलग**

कारणों से जर्मनी के एकीकरण और पोलैंड की आज़ादी की बात कर रहे थे और उसी दौर में वे कई स्लाव राष्ट्रों के एकीकरण या उनकी मुक्ति का विरोध कर रहे थे। इसी प्रकार, मार्क्स फ्रांस के कब्जे के जर्मनभाषी क्षेत्र ऑल्सेस-लॉरेन के जर्मनी में जाने का विरोध करते थे, क्योंकि उनका मानना था कि फ्रांस जनवादी प्रक्रिया की पूरे यूरोप में अगुवाई कर रहा है और ऑल्सेस-लॉरेन को उससे पिछड़े जर्मनी में शामिल करने की मांग एक प्रतिक्रियावादी मांग है। अगर मार्क्स जर्मन राष्ट्र की एकता व एकीकरण को लेकर व्याकुल होते तो वह ऑल्सेस लॉरेन को भी जर्मनी में शामिल करने की बात करते। वजह यह थी कि मार्क्स की चिन्ता कोई संकीर्ण राष्ट्रवादी चिन्ता नहीं थी, बल्कि एक अन्तरराष्ट्रीयतावादी चिन्ता थी, जिसके केन्द्र में समूचे यूरोप के सर्वहारा वर्ग का हित था। इसके बारे में थोड़ा आगे विस्तार से बताएंगे। अभी पहले सुखविन्दर व 'ललकार-प्रतिबद्ध' ग्रुप के पंजाबी कौमवादी कट्टरतापंथ के बारे में कुछ शब्द और।

कोई भी सच्चा कम्युनिस्ट पंजाब ही क्यों, पूरे उपमहाद्वीप में विभाजन की विभीषिका को रद्द करने की ख़्वाहिश रखता है। पूरे भारतीय उपमहाद्वीप में तमाम राष्ट्रीयताओं का एक साझा समाजवादी संघ बने यह भी हर कम्युनिस्ट चाहेगा। लेकिन जब आपके दिल का दर्द रह-रहकर पंजाब को लेकर ही उठता रहा हो, तो आपके लिए फिर पंजाबी शॉविनिस्ट ही उपयुक्त संज्ञा है।

आप यह भी देख सकते हैं कि तब इन्होंने जो उदहारण दिए थे, यानी वियतनाम, कोरिया आदि के, आज वे ग़ायब हो गए हैं। यह अनायास नहीं है। चूंकि तब इस पर इनकी जमकर आलोचना हुई थी, तो सुखविन्दर ने अब इन तीनों उदाहरणों को ही गोल कर दिया है। **कायदे से आपको बताना चाहिए था कि एकीकरण के सवाल पर आप बीसवीं सदी के उदाहरण न देकर अब कालक्रम में और पीछे क्यों चले गए हैं? हमने उस वक़्त भी कहा था कि जर्मनी का एकीकरण (पूर्वी जर्मनी और पश्चिमी जर्मनी के बीच बर्लिन वॉल का गिरना) दोनों देशों की जनता की फिर से मिल जाने की इच्छा का नतीजा नहीं था, बल्कि नकली समाजवाद के मॉडल के ढहने और साम्राज्यवादी पूँजी की जीत का नतीजा था।** बर्लिन की दीवार का गिरना पूरी दुनिया में भूमण्डलीकरण की नीतियों के विजय अभियान का एक प्रतीक यूँ ही नहीं बन गया था। **वियतनाम का एकीकरण क्रान्ति की जीत का नतीजा था और अगर कोरिया का आज फिर से एकीकरण होता है (जिसकी सम्भावना निकट भविष्य में कम ही है), तो यह भी एक बार फिर नकली समाजवाद की पराजय और साम्राज्यवादी पूँजी की जीत का नतीजा होगा। लेकिन सुखविन्दर के लेख में अब इनकी कोई चर्चा ही नहीं है। हालांकि यह कोई नयी बात नहीं है, ज़्यादातर मामलों पर इन्होंने ऐसे ही चोरी-छिपे लीपापोती करने और बातें बदलने का प्रयास किया है।**

अब पोलैण्ड व जर्मनी के विषय में मार्क्स व एंगेल्स के विचारों पर आते हैं जिनका सुखविन्दर ने जमकर विकृतिकरण किया है और मार्क्स व एंगेल्स को अपने जैसा ही एक साधारण टटपुंजिया कौमवादी बना दिया है।

पोलैण्ड व जर्मनी के एकीकरण के विषय में मार्क्स और एंगेल्स के विचार

अब ज़रा देखें कि मार्क्स और एंगेल्स जर्मनी के एकीकरण और पोलैंड की आज़ादी को किस तरह देखते थे।

मार्क्स और एंगेल्स जर्मनी, इटली आदि देशों के राजनीतिक एकीकरण के प्रश्न को यूरोपीय महाद्वीप में पूंजीवादी विकास और सामंतवाद-राजतन्त्र के खात्मे के साथ जोड़ कर देखते थे। उनके अनुसार, इन देशों का एकीकरण यूरोप में सामान्य जनवादी प्रक्रिया (general democratic process) और पूंजीवादी विकास को आगे बढ़ाने में केन्द्रीय भूमिका निभाने

वाला था। **मार्क्स व एंगेल्स का सरोकार "बंट गये राष्ट्रों का एकीकरण" नहीं था, बल्कि ठीक इसी समय मार्क्स व एंगेल्स कई राष्ट्रों की मुक्ति व एकीकरण के पक्षधर नहीं थे। ये वे राष्ट्र थे जो कि यूरोप में ज़ारवादी प्रतिक्रिया के स्तम्भ बने हुए थे, जैसे कि चेक राष्ट्र। यदि मार्क्स व एंगेल्स किसी संकीर्ण राष्ट्रवादी चिन्ता से प्रेरित होते, तो निश्चित ही वे इन राष्ट्रों के एकीकरण व मुक्ति की भी बात करते। दूसरी बात यह है कि जर्मनी को किसी शक्ति ने विभिन्न हिस्सों में ज़बरन बांट नहीं दिया था जैसा कि सुखविन्दर को लगता है, बल्कि आज जिसे आधुनिक जर्मनी कहा जाता है, वहां अलग-अलग जर्मन रजवाड़े व रियासतें मौजूद थीं, जो आगे चलकर प्रशिया के नेतृत्व में एकीकृत हुईं। जर्मनी किसी साम्राज्यवादी शक्ति द्वारा बांट दिया गया राष्ट्र नहीं था। खैर, इतिहास के बारे में भयंकर नाजानकारी इन महोदय की तमाम "ख़ासियतों" में से एक है।**

1848 की क्रांतियों के घटनाक्रम के बारे में, तीखे होते राजनीतिक संघर्ष के चरित्र के बारे में, इनमें मौजूद वर्ग शक्तियों के संतुलन और अंतर्क्रिया के बारे में, और साथ ही किस तरह मजदूर वर्ग को इन सबके बीच अपने वर्ग हितों की हिफाज़त करनी होगी, इसके बारे में मार्क्स और एंगेल्स लगातार 'न्यू रायनिश ज़ाइटुंग' में लिख रहे थे। जहां तक इटली के एकीकरण और बुर्जुआ जनवादी क्रांति का प्रश्न था, तो मार्क्स और एंगेल्स यह देख रहे थे कि इटली में उदार बुर्जुआ वर्ग किस तरह 'ऊपर से' बदलाव करके संवैधानिक राजतन्त्र से आगे नहीं जाना चाहता था और इसलिए उन्होंने मजदूर वर्ग और आम किसान आबादी का आह्वान किया कि वे इस कार्यभार को भी अपने हाथों में लें और राष्ट्रीय मुक्ति के कार्यभार को भी आमूलगामी तरीके से वे पूरा करें। यूरोप की दमित कौमों के भी राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष 1848 की इन क्रांतियों के अभिन्न अंग थे और इस नाते मार्क्स और एंगेल्स ने पोल, हंगेरियाई, इतालवी राष्ट्रों के जनसमुदायों के संघर्षों का समर्थन किया। मार्क्स और एंगेल्स इन तमाम प्रश्नों को बुर्जुआ जनवादी क्रांति के फ्रेमवर्क के अंतर्गत रखते थे और जिनका क्रान्तिकारी तरीके से समाधान पूँजीवाद और उत्पादक शक्तियों के निर्बाध विकास में सहायक होता और ऐतिहसिक तौर पर एक प्रगतिशील भूमिका निभाता।

जहां तक जर्मनी का सवाल था, तो वह भी उस वक़्त दर्जनों छोटे-बड़े राज्यों में विभाजित था, जिनमें प्रशिया और ऑस्ट्रिया बड़े राज्य थे जिनके पास विचारणीय सशस्त्र सेनायें थी। लेकिन छोटे से छोटे जर्मन राज्यों और डची में भी निरंकुश राजतन्त्र ही अस्तित्वमान था जहाँ सामंती सेवाएं, कानून व्यवस्था, कराधान प्रणाली इत्यादि अमल में थे। हालांकि पूरा जर्मनी एक राष्ट्र के तौर पर आर्थिक और राजनीतिक रूप से अत्यंत पिछड़ा हुआ था, जिसमें किसानों को सामंती शोषण झेलना पड़ रहा था, जनसमुदायों को राजनीतिक मताधिकार से वंचित रखा गया था और तमाम राजाओं और ड्यूकों के पास असीमित ताक़त थी। पूरे राष्ट्र में इस एकता का अभाव, यह बिखराव और तमाम राज्यों की सीमाओं के बीच व्याप्त कई प्रकार के बैरियर और शुल्क व कर (customs) जर्मन उद्योग और वाणिज्य, या यूं कहें कि पूरी की पूरी जर्मन अर्थव्यवस्था में सबसे बड़ी बाधा थे जो इसके ***निर्बाध पूंजीवादी विकास*** को लगातार अवरुद्ध कर रहे थे। **इसलिए मार्क्स और एंगेल्स जब जर्मनी के एकीकरण की बात करते हैं तो उसका सम्पूर्ण सन्दर्भ यह होता है जिसके बारे में सुखविन्दर अनभिज्ञ हैं। यानी मार्क्स और एंगेल्स की चिन्ता का केन्द्र यूरोप में पूंजीवाद का विकास और उसमें भावी पूंजीवादी जनवादी जर्मनी की ऐतिहासिक प्रगतिशील भूमिका था, न कि टूटे हुए राष्ट्रों का सम्मिलन। अगर ऐसा होता तो वे यूरोप के सभी टूटे हुए राष्ट्रों की मुक्ति और एकीकरण की बात करते, जो कि वे नहीं कर रहे थे बल्कि कइयों का विरोध तक करते थे।**

मार्क्स और एंगेल्स जानते थे कि जर्मन बड़ा पूंजीपति वर्ग जर्मनी के जनवादी रूपान्तरण के कार्यभार को, जिसमें सामंती राजतन्त्र का खात्मा और जर्मनी के अलग-अलग हिस्सों के बिखराव को ख़त्म कर उनके बीच एकता कायम करके एक एकीकृत राज्य स्थापित करना प्रमुख थे, क्रान्तिकारी ढंग से अंजाम नहीं देगा और सामंतशाही और राजतान्त्रिक ताक़तों

से समझौतापरस्ती करेगा। इसलिए मार्क्स और एंगेल्स ने प्रशिया और ऑस्ट्रिया में होहेंज़ोलर्न और हैप्सबर्ग वंशों को उखाड़ फ़ेंककर जनवादी आधार पर जर्मनी के एकीकरण, संयुक्त जनवादी जर्मन रिपब्लिक के गठन और तमाम अन्य जनवादी कार्यभारों और सुधारों को पूरा करने की पुरजोर वकालत की। ये मांगें बुर्जुआ उदारतावादियों की अवस्थिति के बिलकुल विपरीत थीं जो 'ऊपर से' किये गए एकीकरण के हिमायती थे और संवैधानिक राजतन्त्र की बहाली से आगे नहीं जाना चाहते थे। यह वह दौर भी था जब जर्मनी में सामंती ताक़तों के खिलाफ किसान विद्रोहों और संघर्षों की आग प्रखर थी। लेकिन जर्मन बुर्जुआ वर्ग द्वारा किसानों के पक्ष का समर्थन न करते हुए सामंती भूस्वामियों के साथ समझौते किये गए। मार्क्स और एंगेल्स इन किसान संघर्षों के समर्थक थे और उनका स्पष्ट मानना था कि भूमि सम्बन्धी प्रश्न के क्रान्तिकारी समाधान के अभाव में जर्मनी में एकीकरण और जनवादीकरण की प्रक्रिया भी आगे नहीं बढ़ सकती है। इसलिए मार्क्स और एंगेल्स ने कहा कि जर्मनी में मजदूर वर्ग को किसानों, शहरों की पेटी बुर्जुआ आबादी और बुर्जुआजी के सबसे जनवादी और रैडिकल तत्वों के साथ मिलकर क्रांति के कार्यक्रम को मूर्त रूप देना होगा। हालांकि आने वाले दिनों में प्रशियाई बुर्जुआज़ी के सामंती राजतन्त्र की शक्तियों के सामने आत्मसमर्पण और पेटी बुर्जुआज़ी के ढुलमुल रवैये के कारण यह तमाम क्रान्तिकारी प्रगति अवरुद्ध होती है और प्रतिक्रांति को जन्म देती है लेकिन साथ ही यह वर्ग अंतरविरोधों को एक नए धरातल पर भी लेकर जाती है और यूरोपीय मजदूर वर्ग के क्रान्तिकारी संघर्षों को आगे बढ़ाने का काम करती है।

उपरोक्त चर्चा का मक़सद यह दिखलाना था कि मार्क्स और एंगेल्स जर्मन कौमवादी भावना के चलते या बंट गये जर्मन राष्ट्र के दुख से उद्वेलित होकर जर्मनी के एकीकरण की वकालत नहीं कर रहे थे बल्कि वे मानते थे कि जर्मनी और समूचे यूरोप में पूंजीवादी विकास की प्रक्रिया को इसके ज़रिये ही वेग प्राप्त हो सकता था और ऐतिहासिक तौर पर यह एक आवश्यक कार्यभार था जिसके बगैर जर्मनी में पूँजीवादी विकास और जनवादीकरण की प्रक्रिया आगे बढ़ ही नहीं सकती थी। साथ ही, यह पूरे यूरोप में भावी समाजवादी क्रांति के लिए भी आवश्यक था। मार्क्स और एंगेल्स के दिल में जर्मनी के अलग-अलग टुकड़ों में बंटने की वजह से दर्द और अवसाद नहीं पैदा हो जाता था कि 'हाय! जर्मनी के दुश्मन! जर्मनी को एक नहीं होने दे रहे हैं!' वे सामाजिक बदलाव में लगे हुए वैज्ञानिकों और क्रांतिकारियों की भांति इस प्रश्न को उठा रहे थे और उसके अनुरूप जो सर्वहारावर्गीय दृष्टिकोण से सबसे क्रान्तिकारी रास्ता था वह सुझा रहे थे। लेकिन हमारे सुखविन्दर पंजाब के एकीकरण के पीछे क्या कारण देते हैं? सिवाय रूमानी कौमवादी विलाप और प्रलाप के कुछ नहीं!

लेनिन पोलिश मार्क्सवादियों की आलोचना करते हुए यह लिखते हैं जो कि मार्क्स की इस प्रश्न पर अवस्थिति को समझ पाने में असमर्थ थे-

> "इस तर्क में क्रोध का इतना पुट ठीक इसलिए है क्योंकि वह खास तौर पर खोखला है। पोलिश मार्क्सवादियों के अनुसार मार्क्स बस एक उलझे हुए दिमाग के आदमी थे जिन्होंने "साथ-साथ" परस्पर विरोधी बातें कहीं! यह सरासर ग़लत है और निश्चय ही यह मार्क्सवाद नहीं है। हमारे पोलिश साथी "ठोस" विश्लेषण की जो मांग करते हैं, **परन्तु जिसे वे स्वयं लागू नहीं करते**, ठीक वही हमारे लिए यह जरूरी बना देती है कि **हम इस बात की जांच करें कि मार्क्स ने अलग-अलग मूर्त "राष्ट्रीय" आन्दोलनों के प्रति जो अलग-अलग रुख अपनाया वह क्या एक अभिन्न समाजवादी दृष्टिकोण से उत्पन्न नहीं होता।**
>
> "जैसाकि सुविदित है, ज़ारशाही की शक्ति तथा प्रभाव के खिलाफ--अथवा कहा जा सकता है, उसकी सर्वशक्तिमत्ता तथा प्रभुत्वपूर्ण प्रतिक्रियावादी प्रभाव के खिलाफ--**यूरोपीय जनवाद के संघर्ष में उस जनवाद**

के हितार्थ मार्क्स पोलैण्ड की स्वतंत्रता का पक्ष लेते थे। यह दृष्टिकोण कितना सही था, यह 1849 में अत्यन्त स्पष्ट तथा व्यावहारिक रूप से प्रमाणित हो गया, जब रूस की भूदास सेना ने हंगरी के राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन को तथा क्रान्तिकारी-जनवादी विद्रोह को कुचल डाला। उस समय से लेकर मार्क्स की मृत्यु तक और बाद में भी, 1890 तक जब इस बात का ख़तरा पैदा हो गया था कि फ्रांस के साथ संघबद्ध होकर ज़ारशाही **साम्राज्यवादी** जर्मनी के खिलाफ **नहीं**, बल्कि राष्ट्रीय रूप से स्वतंत्र जर्मनी के खिलाफ प्रतिक्रियावादी युद्ध चलायेगी, एंगेल्स ने सर्वप्रथम तथा सर्वोपरि ज़ारशाही के खिलाफ संघर्ष का समर्थन किया। **इसी कारण से और एकमात्र इसी कारण से मार्क्स और एंगेल्स ने चेकों तथा दक्षिणी स्लाव लोगों के राष्ट्रीय आन्दोलन का विरोध किया।** 1848 और 1849 में मार्क्स और एंगेल्स ने जो लिखा उसका महज़ हवाला हर आदमी को जो मार्क्सवाद को एक ओर हटाने के लिए मार्क्सवाद में दिलचस्पी नहीं रखता, यह दिखा देगा कि उस समय मार्क्स और एंगेल्स ने यूरोप में "रूसी चौकियों का काम देने वाली" "समग्र प्रतिक्रियावादी राष्ट्र" तथा "क्रान्तिकारी राष्ट्र", अर्थात जर्मनों, पोलों और मैग्यारों के बीच एक स्पष्ट तथा निश्चित प्रकार का **अन्तर स्थापित किया था।** यह एक वास्तविकता है, और यह वास्तविकता **उस समय अकाट्य** सच्चाई के साथ निर्देशित की गयी थी: 1848 में क्रान्तिकारी राष्ट्रों ने, जिनका प्रमुख शत्रु ज़ारशाही था, आज़ादी की लड़ाई लड़ी जबकि चेक, वगैरा वास्तव में प्रतिक्रियावादी जनगण अथवा ज़ारशाही की चौकी थे।

"यह ठोस मिसाल, जिसका **ठोस** विश्लेषण करना जरूरी है, हमें क्या बताता है, यदि कोई मार्क्सवाद के प्रति वफादार रहना चाहता है? केवल यह: (1) कि यूरोप में कतिपय बड़े और बहुत बड़े राष्ट्रों की मुक्ति के हित छोटे राष्ट्रों के मुक्ति आन्दोलन के हितों से ऊपर हैं; (2) कि जनवाद की मांग पर अलग-अलग नहीं, बल्कि यूरोप के--आज कहा जाना चाहिए कि विश्व के--पैमाने पर विचार करना आवश्यक है।

"इससे अधिक कुछ नहीं। इस प्राथमिक समाजवादी सिद्धान्त का जिसे पोलिश साथी भूल जाते हैं, मगर जिसके प्रति मार्क्स **हमेशा** वफादार रहे, लेशमात्र खण्डन नहीं किया गया है कि दूसरे राष्ट्रों का उत्पीड़न करने वाला कोई भी राष्ट्र आजाद नहीं हो सकता। **उस काल में जब ज़ारशाही का प्रभाव अन्तरराष्ट्रीय राजनीति पर हावी था, मार्क्स के सम्मुख जो ठोस परिस्थिति थी, वह अगर दोबारा उत्पन्न हो, उदाहरण के लिए इस रूप में उत्पन्न हो कि कतिपय राष्ट्र समाजवादी क्रान्ति आरम्भ करें (जैसे कि 1848 में यूरोप में बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति आरंभ की गयी थी), जब कि अन्य राष्ट्र बुर्जुआ प्रतिक्रियावाद के मुख्य स्तम्भ का काम दें--तो हमें भी इस दूसरी श्रेणी के राष्ट्रों के खिलाफ क्रान्तिकारी युद्ध के पक्ष में, उन्हें "कुचल देने" के पक्ष में, उनकी सभी चौकियों को नष्ट कर देने के पक्ष में होना होगा, चाहे उन राष्ट्रों के बीच कैसे भी लघु राष्ट्रीय आन्दोलन क्यों न उभरे हों। फलत: मार्क्स की कार्यनीति के किन्हीं भी उदाहरणों को ठुकराना तो रहा दूर--उन्हें ठुकराने का अर्थ होगा कथनी में मार्क्सवाद को मानना तथा करनी में उसे तिलांजजि दे देना--हमारे लिए आवश्यक है कि हम उनका ठोस विश्लेषण करें और भविष्य के लिए उनसे अमूल्य सबक हासिल करें।** आत्मनिर्णय समेत जनवाद की विभिन्न मांगें निरपेक्ष नहीं हैं, वरन वे आम जनवादी (अब आम समाजवादी) **विश्व** आन्दोलन का एक **छोटा-सा ही भाग** है। ऐसी विशेष, ठोस परिस्थितियां हो सकती हैं, जब एक भाग समष्टि का प्रतिवाद करे; यदि ऐसा है, तो उस भाग का परित्याग करना होगा। यह सम्भव है कि किसी एक देश में गणतंत्रीय आन्दोलन अन्य देशों के पुरोहितवादी अर्थवा वित्तीय-राजतंत्रीय षड्यंत्रों का साधन-मात्र हो; यदि ऐसा है, तो हमें हरगिज़ इस विशेष और मूर्त आन्दोलन का समर्थन

नहीं करना चाहिए। परन्तु इस आधार पर अन्तरराष्ट्रीय सामाजिक-जनवाद के कार्यक्रम से गणतंत्र के नारे को ही निकाल देना हास्यास्पद होगा।" (लेनिन, **आत्मनिर्णय सम्बन्धी बहस के परिणाम**)

पोलैंड के 'रेस्टोरेशन' और आज़ादी को लेकर भी मार्क्स और एंगेल्स का मत था कि उस वक़्त यह न सिर्फ पोलैंड में समाजवादी आन्दोलन की दृष्टि से ज़रूरी है बल्कि यूरोप में भी भावी क्रान्ति को वेग प्रदान करने के लिहाज़ से आवश्यक था। देखें 7 फरवरी, 1882 को काउत्स्की को लिखे पत्र में एंगेल्स क्या लिखते हैं:

"1848 की क्रान्ति के असली कार्यभारों में एक था -- और असली, क्रान्ति के भ्रामक कार्यभार नहीं, हमेशा ही क्रान्ति के द्वारा ही सुलझाए जाते हैं -- केन्द्रीय यूरोप की दबाई गयी और बिखरी हुई राष्ट्रीयताओं का संघटन, बशर्ते कि वे व्यावहारिक होते और विशेष तौर पर यदि वे स्वतंत्रता के लिए परिपक्व हो चुके होते। यह कार्यभार क्रान्ति को मृत्युदण्ड देने वालों द्वारा, यानी नेपोलियन, कावूर और बिस्मार्क द्वारा उस समय की परिस्थितियों के अनुसार, इटली, हंगरी और जर्मनी के लिए पूरा किया गया। इसके बाद बचे आयरलैण्ड और पोलैण्ड। हम आयरलैण्ड को अभी चर्चा के बाहर छोड़ सकते हैं क्योंकि वह यूरोपीय महाद्वीप की स्थिति को बहुत ही अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करता है। **लेकिन पोलैण्ड महाद्वीप के केन्द्र में स्थित है और इसके विभाजन को कायम रखना ही वह बंधन है जो कि (बड़ी शक्तियों के) पवित्र गठबन्धन को बार-बार जोड़े रखता है। इसलिए हमारी पोलैण्ड में काफी दिलचस्पी है...**

"जब तक पोलैण्ड विभाजित और अधीन है, इसलिए, न तो कोई मजबूत समाजवादी पार्टी उस देश में विकसित हो सकती है, न ही जर्मनी आदि में सर्वहारा पार्टियों के बीच प्रवासी पोल लोगों के साथ कोई असली अन्तरराष्ट्रीय अन्तर्क्रिया विकसित हो सकती है। हर पोलिश किसान या मज़दूर जो आम निराशा से जागता है और साझे हितों में हिस्सेदारी करता है, उसका सबसे पहले सामना राष्ट्रीय अधीनस्थता से होता है। हर स्वस्थ और मुक्त विकास के लिए इस स्थिति को हटाना बुनियादी शर्त है। पोलिश समाजवादी जो अपने देश की आजादी को अपने कार्यक्रम के शीर्ष पर नहीं रखते हैं, वे मुझे उन जर्मन समाजवादियों जैसे दिखते हैं जो कि सबसे पहले और सबसे अहम तौर पर समाजवादी कानून, प्रेस की आजादी, व संघ व सभा की आजादी को आगे नहीं रखते। लड़ने के लिए सबसे पहले आपको खड़े होने के लिए एक जमीन चाहिए, हवा, प्रकाश और स्थान चाहिए। नहीं तो सब निठल्ली बकवास है।"

लेकिन बीसवी सदी आते-आते यह स्थिति बदल जाती है और पोलैंड की आज़ादी का सवाल अपनी क्रान्तिकारी अहमियत खो देता है। **बावजूद इसके पोलिश राष्ट्रवादियों द्वारा एक अलग दौर में प्रस्तुत किये गए मार्क्स के विचारों का हवाला अपनी अवस्थिति सही साबित करने के लिए दिया जाता है, जैसा कि सुखविन्दर भी करने की कोशिश कर रहे हैं। लेनिन ने इसी को मार्क्सवाद के शब्दों का अनुसरण करना कहा, स्पिरिट का नहीं।** इस विषय में लेनिन लिखते हैं-

"मार्क्स का यह दृष्टिकोण उन्नीसवीं शताब्दी के पांचवे, छठें और सातवें दशकों या तीसरी चौथाई के लिए तो पूरी तरह सही था परन्तु बीसवीं शताब्दी में वह सही नहीं रह गया है। अधिकांश स्लाव देशों में यहां तक कि रूस में भी जो एक सबसे पिछड़ा हुआ स्लाव देश है, स्वतंत्र जनवादी आन्दोलन, यहां तक कि स्वतंत्र सर्वहारा आन्दोलन भी आरंभ हो गये हैं। अभिजात पोलैण्ड का लोप हो चुका है और उसका स्थान पूंजीवादी पोलैण्ड ने ले लिया है। ऐसी परिस्थितियों में पोलैण्ड का अपना **असाधारण** क्रान्तिकारी महत्व खो देना अनिवार्य ही था।

"मार्क्स का जो दृष्टिकोण एक **दूसरे ही युग** के लिए था, 1896 में उसे हमेशा के लिए एक "ब्रह्मवाक्य" बना देने की पी.एस.पी. (पोलिश समाजवादी पार्टी, आजकल की 'फ्राकि') की कोशिश मार्क्सवादी **शब्दों** को मार्क्सवादी **भावना** के विरुद्ध इस्तेमाल करने की कोशिश थी। इसलिए जब पोलैण्ड के सामाजिक-जनवादियों ने पोलैण्ड के निम्न-पूंजीपति वर्ग के उग्र राष्ट्रवाद का विरोध किया और राष्ट्रीय प्रश्न को पोलैण्ड के मज़दूरों के लिए गौण महत्व का प्रश्न बताया, जब उन्होंने पोलैण्ड में पहली बार एक शुद्धत: सर्वहारा पार्टी की स्थापना की और इस अत्यन्त महवत्वपूर्ण सिद्धान्त की घोषणा की कि अपने वर्ग-संघर्ष में पोलैण्ड तथा रूस के मज़दूरों को घनिष्ठतम एकता कायम रखनी चाहिए, तो उन्होंने बिल्कुल ठीक ही किया।" (लेनिन, **राष्ट्रों का आत्मनिर्णय का अधिकार**)

लुब्बेलुबाब यह कि कौमों की मुक्ति और एकीकरण ये तमाम प्रश्न अन्ततोगत्वा सर्वहारा क्रांति और अंतरराष्ट्रीय सर्वहारा वर्ग के हितों के अधीनस्थ होते हैं। मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन के विचार तो इस विषय में ऐसा ही कहते हैं। लेकिन सुखविन्दर पंजाब के एकीकरण के विषय में सकारात्मक तौर पर कोई ठोस तर्कसंगत बात तो कहते नहीं हैं, उल्टे हम जैसे "वर्ग-अपचयनवाद" के शिकार लोगों को यह कहकर फटकार लगाते हैं कि 'देखो! तुमने मुझे राष्ट्रीय शॉविनिस्ट कहा, मार्क्स और एंगेल्स को भी उनके आलोचकों ने ऐसा कहा था!' **यह किस प्रकार का मज़ाकिया तर्क है? यह बिल्कुल सम्भव है कि हम आपके अन्धराष्ट्रवाद के बारे में बिल्कुल सही कह रहे हों, और मार्क्स व एंगेल्स को अन्धराष्ट्रवादी कहने वाले गलत हों।** यह तो बहस का कोई अर्थपूर्ण तरीका नहीं हुआ! आप सवालों के जवाब देने की बजाय ना जाने क्या सब सुनाने लग गए।

लेकिन अब चूंकि आप पंजाब के एकीकरण के लिए मचल गये हैं तो कायदे से आपको पाकिस्तानी पंजाब और हिन्दुस्तानी पंजाब के एकीकरण का एक ठोस कार्यक्रम पेश करना चाहिए था, एक ठोस कार्यदिशा, रणनीति और कार्यनीति प्रस्तुत करनी चाहिए थी क्योंकि आपके अनुसार यह पंजाब के "असमाधित राष्ट्रीय प्रश्न" के समाधान के केन्द्रीय कार्यभारों में से एक है। क्योंकि एक मार्क्सवादी यह नहीं कहता है "कि काश समाजवाद आ जाए...तो इससे किसे दिक्कत होगी?" वह समाजवाद के लिए काम करता है। तो आपको भी यह नहीं कहना चाहिए कि "पंजाब का एकीकरण हो जाये, तो इससे किसे दिक्कत हो सकती है?" आपको सीधे इस एकीकरण के लिए काम करना चाहिए, उसके लिए एक ठोस कार्यक्रम देना चाहिए। लेकिन आप ऐसा कुछ नहीं करते हैं। तो फिर क्यों न माना जाए कि यह और कुछ नहीं बहस से पलायन की तरकीबें हैं, जनाब! और क्यों न माना जाय कि आप यह लुकमा केवल पंजाबी कौमवाद के जज्बात को ललकारने के लिए उछाल रहे हैं!

अब सुखविन्दर खुद तो अपने विचारों से कोई ठोस कार्यभार निकाल नहीं रहे हैं, इसलिए हम ही उनके विचारों के अनुसार कुछ ठोस कार्यभार निकालने का प्रयास करते हैं। **उनके अनुसार, पंजाब (और बंगाल पर भी यही कार्यदिशा लागू होनी चाहिए, बंगलादेश के विशेष सन्दर्भ में) के एकीकरण व राष्ट्रीय मुक्ति के लिए (क्योंकि दोनों कार्यभार सुखविन्दर के अनुसार सीधे समाजवादी क्रान्ति से पूरे होंगे!) सुखविन्दर को एक 'यूनाईटेड कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ ग्रेटर पंजाब' का गठन करना चाहिए। उसके बाद, उन्हें भारत और पाकिस्तान दोनों के ही हुक्मरानों के खिलाफ राष्ट्रीय मुक्ति का आन्दोलन शुरू करना चाहिए (जो कि सुखविन्दर के अनुसार, सीधे समाजवादी क्रान्ति के रूप में समाप्त होगा!) जिसका मकसद समूचे ऐतिहासिक पंजाब की मुक्ति, एकीकरण और वहां समाजवाद की स्थापना के काम को एक साथ ही कर डालेगा। जैसा कि उन्होंने 'ललकार' की पोस्ट में कहा भी था, जिसे हमने ऊपर उद्धृत किया है, उन्हें वियतनाम के एकीकरण से प्रेरणा लेनी चाहिए और पंजाब का हो ची मिन्ह बनने का प्रयास शुरू कर देना चाहिए! यही काम बंगाल के सुखविन्दरों को भी करना चाहिए!**

लेकिन सुखविन्दर खुद ही अपनी मूर्खतापूर्ण लाइन के आधार पर दिये जाने वाले ठोस कार्यक्रम की हास्यास्पदता से वाकिफ हैं। इसलिए वह कोई ठोस कार्यक्रम नहीं देते हैं कि पंजाब का एकीकरण होगा कैसे! बस उस पर लोगों के कौमी जज्बात को हवा देने की कोशिश करते हैं, पंजाब के पुराने नक्शे को देखकर देवदास बन जाते हैं और आंसू बहा-बहाकर काफी कीचड़ कर डालते हैं! यहां हमने और कुछ नहीं किया, बस उनकी ही एकीकरण की लाइन के आधार पर एक ठोस कार्यक्रम प्रस्तावित किया है। अब अगर सुखविन्दर ईमानदार हैं, अपनी बात से पलटते नहीं, बात बदलते नहीं, तो उन्हें पूरे जोशो-खरोश से इस कार्यक्रम पर अमल में जुट जाना चाहिए!

हम यहाँ एक बार फिर स्पष्ट कर दें कि हम पंजाब ही नहीं, बल्कि पूरे भारतीय उपमहाद्वीप के एकीकरण के समर्थक हैं। हम पूँजीवाद और साम्राज्यवाद द्वारा खींची गयी राष्ट्रों की नकली सीमाओं के अन्ततः ख़ात्मे के हिमायती हैं। लेकिन हम जानते हैं कि यह तभी सम्भव है जब पूरे भारतीय उपमहाद्वीप की मेहनतकश जनता उठ खड़ी होगी और पूँजीवाद-साम्राज्यवाद को समाजवादी क्रांतियों के ज़रिये अपने-अपने देशों से उखाड़ फेंकेगी। केवल तभी तमाम राष्ट्रीयताओं के साझे समाजवादी संघ की स्थापना सम्भव है। **जब तक भारतीय उपमहाद्वीप के दो प्रमुख पूंजीवादी देशों, भारत और/या पाकिस्तान में, और उसमें भी विशेष तौर पर भारत में समाजवादी क्रान्ति नहीं होती, तब तक 1947 के जख्म न तो पंजाब के लिए भरेंगे, न बंगाल के लिए, और न ही गुजरात और राजस्थान के लिए।** कश्मीर के साथ जो हुआ वह भी 1948 में उसका बंटना था लेकिन उसका मामला कुछ अलग है, और एक अलग विश्लेषण की मांग करता है। **इसलिए भारत में समाजवादी क्रान्ति के अलावा विभाजन को रद्द करने का कोई भी सपना, और वह भी सिर्फ पंजाब और/या बंगाल के लिए न सिर्फ कौमवादी है, बल्कि मूर्खतापूर्ण हद तक अव्यावहारिक है। ऐसे लोग कौमवादी विचलन की दुनिया में भी दोन किहोते से ज्यादा हैसियत नहीं रखते हैं!**

7. 'संघवाद' के बारे में सुखविन्दर के बहके-बहके से विचार

संघीय ढांचे (federation) के विषय में मार्क्सवादी-लेनिनवादी अवस्थिति एकदम स्पष्ट है। मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन व स्तालिन सुसंगत जनवाद पर आधारित जनवादी केन्द्रीयता (democratic centralism) के हिमायती थे। **वे संघवाद के विरोधी थे।** लेकिन सुखविन्दर न जाने क्यों इस अवस्थिति को गड्डमड्ड करने का प्रयास कर रहे हैं। 'संघवाद' के साथ उनकी बढती हुई पींगे इस बार 'प्रतिबद्ध' के सम्पादकीय में भी नज़र आई हैं।

रूस में क्रांति के बाद कुछ समय के लिए, जिसे कि संक्रमणकालीन अवधि कहा गया था, रूस के तमाम भूतपूर्व दमित राष्ट्रों के सम्बन्ध में संघीय ढांचे की नीति को अपनाया गया था। क्रान्ति के बाद 1917 से 1922 तक समाजवादी रूस को रूसी सोवियत संघात्मक समाजवादी गणराज्य (Russian Soviet Federative Socialist Republic; RSFSR) कहा गया जिसे 1922 में बदलकर सोवियत समाजवादी गणराज्यों का यूनियन (Union of Soviet Socialist Republics; USSR) कर दिया गया। **ज़ाहिर है कि संघात्मक ढांचे की यह नीति एक छोटे कालखंड के लिए अपनायी गयी थी, और यह महज़ एक नीति थी कोई सैद्धांतिक परिवर्तन नहीं, ताकि यूनियन के गठन को सुदृढ़ किया जा सके और दमित राष्ट्रों के जनसमुदायों का भरोसा अर्जित किया जा सके।**

सोवियत संघ के बनने के तत्काल बाद भी संघीयता के तत्व सोवियत संघ के ढांचे में बचे हुए थे, लेकिन उसमें अब **एकीकृत यूनियन व केन्द्रीयता का तत्व** प्रधान बन गया था, जो कि समय के साथ बढ़ता गया। **लेकिन जो भी हो, संघ का निर्माण मार्क्सवादियों-लेनिनवादियों का सकारात्मक प्रस्ताव (**positive proposal**) कभी नहीं होता**

है, चाहें उन्हें स्वयं भी ठोस परिस्थितियों द्वारा उपस्थित ऐतिहासिक सीमाओं के चलते कुछ समय के लिए संघीय ढांचे को अपनाना पड़ा हो, क्योंकि मार्क्सवादियों का सकारात्मक प्रस्ताव चाहे कुछ भी हो, जब कई गणराज्य एक साथ आते हैं, तो उनके राज्य का संगठनात्मक सिद्धान्त क्या होगा यह जनवादी रूप से तय होता है न कि कम्युनिस्टों की इच्छाओं से।

इसके अलावा, पूंजीवाद के मातहत संघ और समाजवाद के मातहत संघ में बुनियादी अन्तर है, जिस पर हम आगे आएंगे और जिसे सुखविन्दर समझ ही नहीं पाते हैं। लेकिन पहले संघवाद के बारे में मार्क्स, एंगेल्स व लेनिन के विचारों को देख लेते हैं।

आइये देखें कि मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन के इस प्रश्न पर क्या विचार थे ताकि भ्रम की कोई गुंजाइश न रहे।

मार्क्स की संघवाद और केन्द्रीयतावाद के बारे में अवस्थिति को लेनिन अपनी रचना, 'राज्य और क्रांति' में यूं बयान करते हैं:

> "क्रान्तिकारी ढंग से सोचना और क्रान्ति के बारे में विचार करना अवसरवादी (बर्नस्टीन) इस हद तक भूल गया है कि "संघवाद" को वह मार्क्स के मत्थे मढ़ता है और उन्हें अराजकतावाद के संस्थापक प्रूधों के साथ मिला देता है।
>
> "प्रूधों और बाकुनिन, दोनों के साथ ठीक संघवाद के ही प्रश्न पर मार्क्स का मतभेद था (सर्वहारा अधिनायकत्व की तो बात ही क्या)। अराजकतावाद के टुटपुंजिया विचारों से ही उसूली तौर से संघवाद पैदा होता है। **मार्क्स केन्द्रीयतावादी थे।** अभी-अभी उद्धृत किये गए उनके कथनों में केन्द्रीयतावाद से वह ज़रा भी नहीं डिगते। जिनके दिमाग़ में राज्य में टुटपुंजिया "अंधविश्वास" भरे हैं, केवल उन्ही लोगों को बुर्जुआ राजकीय मशीनरी के खात्मे में केन्द्रीयतावाद का खात्मा नज़र आ सकता है।"

संघवाद और जनवादी केन्द्रीयता के विषय में एंगेल्स के विचारों को लेनिन, 'राज्य और क्रांति' में इस प्रकार अभिव्यक्त करते हैं:

> "सर्वहारा वर्ग और सर्वहारा क्रान्ति की दृष्टि से मार्क्स की तरह एंगेल्स भी जनवादी केन्द्रीयतावाद पर, एकीकृत और अविभाज्य जनतंत्र पर जोर देते थे। संघीय जनतंत्र को या तो वह अपवाद और विकास के मार्ग में बाधा समझते थे, या राजतंत्र से केन्द्रीकृत जनतंत्र की ओर संक्रमण, कुछ विशेष परिस्थितियों में "आगे की ओर कदम" मानते थे। और उन विशेष परिस्थितियों में वह राष्ट्रों के प्रश्न को पहले रखते थे।
>
> "छोटे-छोटे राज्यों की प्रतिक्रियावादी प्रकृति और कुछ ठोस परिस्थितियों में राष्ट्रों के प्रश्न द्वारा उसे छिपाने की प्रवृत्ति की निर्मम आलोचना करते हुए मार्क्स की तरह ही एंगेल्स ने भी राष्ट्रों के प्रश्न से कतराने की कभी लेशमात्र इच्छा तक नहीं दिखाई, ऐसी इच्छा, जिसके दोषी बहुधा हॉलैण्ड और पोलैण्ड के वे मार्क्सवादी हैं, जो "अपने" लघु राज्यों के संकीर्ण-कूपमण्डूकतापूर्ण राष्ट्रवाद के विरुद्ध घोर कानूनी संघर्ष को अपना प्रस्थान-बिन्दु बनाते हैं।
>
> "इंग्लैण्ड के सम्बन्ध में भी जहां लगता है कि भौगोलिक परिस्थितियों, एक भाषा और कई शताब्दियों के इतिहास ने उसके विभिन्न छोटे भागों में राष्ट्रों के प्रश्न को "खत्म" कर दिया--उस देश के सम्बन्ध में भी एंगेल्स ने इस स्पष्ट बात को ध्यान में रखा कि वहां राष्ट्रों की समस्या अभी तक हल नहीं हुई है और **इसलिए उन्होंने कहा कि वहां संघीय जनतंत्र की स्थापना "आगे की ओर कदम" होगी। साफ है कि यहां संघीय जनतंत्र**

की कमियों की आलोचना छोड़ देने या एक एकताबद्ध और केन्द्रीकृत जनवादी जनतंत्र के पक्ष में अपने अत्यन्त शक्तिशाली प्रचार और संघर्ष को ढीला करने की कोशिश का कहीं नाम-निशान तक नहीं है।"

केन्द्रीयतावाद और संघवाद के प्रश्न पर मार्क्सवादी अवस्थिति को लेनिन 1913 में लिखे अपने लेख "क्रिटिकल रिमार्क्स ऑन नेशनल क्वेश्चन" में भी रेखांकित करते हैं। लेनिन लिखते हैं-

"**मार्क्सवादी निश्चित तौर पर संघ और विकेन्द्रीकरण के खिलाफ हैं, जिसका सरल सा कारण यह है कि पूंजीवाद को विकास के लिए सबसे बड़े और सबसे केन्द्रीकृत राज्यों की आवश्यकता होती है।** अन्य स्थितियां समान हों, तो वर्ग सचेत सर्वहारा हमेशा बड़े राज्यों का पक्ष लेगा। यह हमेशा मध्ययुगीन विशिष्टतावाद के खिलाफ लड़ेगा और हमेशा बड़े क्षेत्रों के संभव आर्थिक मिश्रण का स्वागत करेगा, जिसमें बुर्जुआजी के खिलाफ सर्वहारा वर्ग का संघर्ष एक व्यापक आधार पर विकसित हो सकता है।

"**पूंजीवाद द्वारा उत्पादक शक्तियों का व्यापक और तीव्र विकास बड़े, राजनीतिक रूप से सुगठित व एकताबद्ध क्षेत्रों की मांग करता है, क्योंकि केवल यहीं पर बुर्जुआ वर्ग--अपने अवश्यंभावी विपरीत ध्रुव, सर्वहारा वर्ग के साथ--सभी पुराने, मध्ययुगीन, जातिगत, संकीर्ण, तुच्छ-राष्ट्रीय, धार्मिक और अन्य बाधाओं को साफ कर सकता है।**

"**लेकिन, जहां तक विभिन्न राष्ट्रों द्वारा एक राज्य बनाने का सवाल है, मार्क्सवादी किसी भी सूरत में कभी भी संघीय सिद्धान्त पर या विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्त पर उसे बनाने की वकालत नहीं करेंगे। महान केन्द्रीकृत राज्य मध्ययुगीन विसंगठन से पूरी दुनिया की भावी समाजवादी एकता की ओर एक जबर्दस्त ऐतिहासिक कदम है, और केवल ऐसे राज्य के जरिये ही (जो पूंजीवाद से अविभाज्य रूप से जुड़ा है) समाजवाद की ओर कोई रास्ता जाता है।**"

लेनिन यहां स्पष्ट कर देते हैं कि विशेष तौर पर पूंजीवाद के अन्तर्गत संघीय ढांचे की मांग अनैतिहासिक और प्रतिक्रियावादी है क्योंकि यह पूंजीवाद के विकास को अवरुद्ध करती है और सर्वहारा वर्ग का वर्ग संघर्ष भी पूंजीवादी विकास के साथ तीव्रतम और उन्नततर रूप ग्रहण करता है। साथ ही लेनिन यह भी बताते हैं कि यह केन्द्रीयता सुसंगत जनवाद के साथ एक जनवादी केन्द्रीयता के उसूलों पर बनी होनी चाहिए। लेनिन लिखते हैं-

"लेकिन यह भूलना अक्षम्य होगा कि केन्द्रीयतावाद की वकालत करते हुए हम सिर्फ और सिर्फ जनवादी केन्द्रीयतावाद की वकालत करते हैं। इस सवाल पर आम तौर पर सभी फिलिस्टाइन और विशेष तौर पर राष्ट्रवादी फिलिस्टाइन (जिनमें दिवंगत द्रागोमानोव भी शामिल हैं), पूरे मसले को इस कदर भ्रमित कर बैठते हैं कि हमें बार-बार इसे स्पष्ट करने में वक्त खर्च करने के लिए बाध्य होना पड़ता है।"

1913 में एस.जी. शाहुम्यान को लिखे पत्र में लेनिन संघवाद के बारे में मार्क्सवादी अवस्थिति स्पष्ट करते हुए लिखते हैं-

"आप स्वायत्तता के खिलाफ हैं। आप केवल क्षेत्रीय स्वशासन के पक्ष में हैं। मैं पूरी तरह से असहमत हूं। एंगेल्स की उस व्याख्या को याद कीजिये कि केन्द्रीकरण स्थानीय "आजादियों" को जरा भी खारिज नहीं करता है। पोलैण्ड को स्वायत्ता क्यों मिले और कॉकेशस, दक्षिण, और उराल को क्यों न मिले? क्या केन्द्रीय संसद स्वायत्ता की सीमाएं नहीं तय करेगी? **हम निश्चित तौर पर जनवादी केन्द्रीयतावाद के पक्ष में हैं। हम संघ के खिलाफ हैं। हम जैकोबिंस का जिरोंदिंस के विरोध में समर्थन करते हैं।** लेकिन रूस में सभी क्षेत्रों में

स्वायत्ता से डरना--यह एकदम मज़ाकिया है। यह प्रतिक्रियावादी है। मुझे एक उदाहरण दीजिये जिसमें स्वायत्ता नुकसानदेह है। आप नहीं दे सकते। लेकिन रूस में (और प्रशिया में भी) यह संकीर्ण व्याख्या--केवल स्थानीय स्वशासन--पुलिस राज्य के हाथों में खेलने जैसा है।

"आत्मनिर्णय के अधिकार में केवल अलग होने का ही अधिकार नहीं है। इसका एक संघीय असोसियेशन में शामिल होने, स्वायत्तता का अधिकार भी निहित है" आप कहते हैं। मैं पूरी तरह से असहमत हूं। इसमें संघ बनाने का अधिकार नहीं शामिल है। संघ का अर्थ होता है समान का असोसियेशन, एक असोसियेशन जो कि साझी सहमति की मांग करता है। एक पक्ष यह मांग कैसे कर सकता है कि दूसरा पक्ष उससे सहमत हो? यह बेतुकी बात है। हम सिद्धान्तत: संघ के खिलाफ हैं, यह आर्थिक संबंधों को कमज़ोर करता है और एक एकीकृत राज्य के लिए अनुपयुक्त है। आप अलग होना चाहते हैं? ठीक है, आप शैतान के पास जा सकते हैं, यदि आप आर्थिक संबंध तोड़ना ही चाहते हैं, या फिर, अगर दमन और "सहअस्तित्व" का घर्षण आर्थिक संबंधों को बाधित करता हो या बरबाद करता हो तो भी आप ऐसा कर सकते हैं। आप अलग नहीं होना चाहते? उस सूरत में, माफ कीजिये, हमारे लिए फैसला न करें; यह न सोचें कि आपके पास संघ बनाने का अधिकार है।

"स्वायत्तता का अधिकार?" फिर से गलत। हम हर अंग के लिए स्वायत्तता के पक्ष में है; हम अलग होने के अधिकार (सबके अलग होने के नहीं) पक्ष में है। एक जनवादी राज्य को संगठित करने के लिए हमारी योजना है स्वायत्तता। अलग होना कोई ऐसी चीज कतई नहीं जिसकी हम योजना बनाते हैं। लेकिन हम पूरी तरह अलग होने के अधिकार के पक्ष में हैं जिसकी वजह है महान-रूसी राष्ट्रवाद, जिसने राष्ट्रीय सहअस्तित्व के विचार को इतना कलंकित कर दिया है कि कभी कभी मुक्त रूप से अलग होने के बाद ही करीबी संबंध स्थापित किये जा सकते हैं!"

1919 में बोल्शेविक पार्टी की आठवीं कांग्रेस में राष्ट्रीय प्रश्न के सम्बन्ध में निम्नलिखित कार्यक्रम अपनाया गया, जिसमें स्पष्ट तौर पर यह बताया गया है कि सोवियत संघ के अंतर्गत तमाम राष्ट्रों की मुकम्मल एकता के लिए **एक संक्रमणकालीन अवधि के लिए संघीय ढांचे की नीति को अपनाया जा रहा है ताकि दमित राष्ट्रों की सर्वहारा और अर्द्ध-सर्वहारा आबादी के साथ मिलकर भूस्वामी और बुर्जुआ वर्ग को उखाड़ फेंकने के लिए संयुक्त क्रांतिकारी संघर्ष संगठित किया जा सके** और दमित राष्ट्रों की सर्वहारा आबादी का विश्वास जीता जा सके जो कि सभी राष्ट्रों की बराबरी सुनिश्चित करने के लिए आवश्यक है।

"राष्ट्रीय प्रश्न पर सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी निम्न प्रस्थापनाओं से निर्देशित होगी:

"1. हमारी नीति की धुरी है विभिन्न राष्ट्रीयताओं के सर्वहाराओं और अर्द्धसर्वहाराओं कोसाथ लाना ताकि भूस्वामियों और बुर्जुआ वर्ग को एक संयुक्त क्रान्तिकारी संघर्ष के जरिये उखाड़ कर फेंका जा सके।

"2. दमित राष्ट्रों के मेहनतकश जनसमुदायों द्वारा उन राज्यों के सर्वहारा वर्गों के प्रति महसूस किये जाने वाले अविश्वास पर विजय पाने के लिए जो कि इन राष्ट्रों को दबाते थे, यह जरूरी है कि किसी भी राष्ट्रीय समूह को मिलने वाले विशेषाधिकारों को समाप्त कर दिया जाय, सभी राष्ट्रीयताओं के लिए अधिकारों की पूर्ण समानता स्थापित की जाय, और उपनिवेशों व निर्भर राष्ट्रों के लिए अलग होने के अधिकार को मान्यता दी जाय।

"3. इसी लक्ष्य को निगाह में रखते हुए पार्टी पूर्ण एकता की ओर एक संक्रमणात्मक कदम के तौर पर, सोवियत रूप के अनुसार राज्यों के संघ का प्रस्ताव रखती है।"

लेनिन इसी बात को जून 1920 में कोमिन्टर्न की दूसरी कांग्रेस में प्रस्तुत 'राष्ट्रीय और औपनिवेशिक प्रश्नों पर मसौदा थीसिस' में भी रेखांकित करते हैं-

"परिणामत: इस वक्त कोई भी अपने को भिन्न-भिन्न राष्ट्रों की श्रमिक जनता के बीच एकता की कोरी मान्यता या घोषणा तक ही सीमित नहीं रख सकता। एक ऐसी नीति का अनुसरण करना जरूरी है, जिससे सोवियत रूस के साथ राष्ट्रों और उपनिवेशों के सभी स्वतन्त्रता आन्दोलनों का घनिष्ठतम सहबंध सुलभ हो सके। प्रत्येक देश के सर्वहाराओं में कम्युनिस्ट आन्दोलन, पिछड़े हुए राष्ट्रों में अथवा पिछड़े हुए देशों में मज़दूरों और किसानों के बुर्जुआ जनवादी स्वतंत्रता-आन्दोलन के विकास-स्तरों के अनुसार ही इस सहबंध के रूप निर्धारित किये जाएंगे।

"**विभिन्न राष्ट्रों की श्रमिक जनता में पूर्ण एकता लाने के लिए फेडरेशन एक संक्रमणकालीन व्यवस्था है।** फेडरेशन का औचित्य व्यावहारिक रूप में एक तो रूसी सोवियत संघात्मक समाजवादी जनंतत्र और अन्य सोवियत जनतंत्रों के आपसी संबंधों से प्रदर्शित हो चुका है (अतीत में हंगरी, फिनलैण्ड और लात्विया के साथ और आजकल अजरबैजान और यूक्रेन के साथ), और दूसरे, रूसी सोवियत संघात्मक समाजवादी जनतंत्र के अन्दर उन राष्ट्रों के साथ संबंधों में भी, जिनके पास पहले न तो राज्य की व्यवस्था थी और न स्वायत्त शासन ही (उदारहरणार्थ, बश्कीर और तातार स्वायत्त जनतंत्र, जिनकी स्थापना रूसी सोवियत संघात्मक समाजवादी जनतंत्र के अन्दर 1919 और 1920 में हुई)।

"इस संबंध में कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल का कार्य यह है कि वह इन नये फेडरेशनों को, जो सोवियत पद्धति और सोवियत आन्दोलन के आधार पर पनप रहे हैं, विकसित करे, उनका अध्ययन करे और अनुभवों द्वारा उन्हें परखे। **यह मानने के साथ-साथ कि फेडरेशन पूर्ण एकता का एक संक्रमणकालीन रूप है, यह आवश्यक है कि अधिक से अधिक घनिष्ठ संघीय एकता के लिए प्रयत्न किया जाय** और इस बात को ध्यान में रखा जाय कि (1) सोवियत जनतंत्र जो दुनिया भर की साम्राज्यवादी शक्तियों से--ये शक्तियां सैनिक दृष्टि से अत्यधिक सशक्त हैं--घिरे हुए हैं, बिना घनिष्ठतम सहबंध के जीवित नहीं रह सकते; (2) सोवियत जनतंत्रों के बीच घनिष्ठ आर्थिक सहबंध की आवश्यकता है, क्योंकि बिना इसके साम्राज्यवाद द्वारा विनष्ट की गयी उत्पादक शक्तियों को पुन: जीवित करना और श्रमिक जनता के कल्याण को सुनिश्चित करना असंभव है; (3) एक सामान्य योजना के अनुसार तथा समस्त राष्ट्रों के सर्वहारा द्वारा नियंत्रित एक विश्वव्यापी अर्थव्यवस्था का निर्माण करने की प्रवृत्ति प्रकट हो गयी है। पूंजीवाद के अधीन यह प्रवृत्ति पहले से ही स्पष्ट हो चुकी है। अब निश्चय ही समाजवाद के अधीन इसका विकास करना और उसे पूर्णता तक ले जाना चाहिए।"

आगे बढ़ते हैं।

क्या 1924 में संघवाद के बारे में स्तालिन ने मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धान्त को बदल दिया था?

सुखविन्दर बिना कहे ऐसी तस्वीर पेश करना चाहते हैं कि स्तालिन ने 1924 में संघवाद के बारे में अपने विचार बदल लिये थे। आइये देखते हैं कि सुखविन्दर के इस दावे में कुछ दम है, या उनकी समझ में ही नहीं आया है कि स्तालिन क्या कह रहे हैं।

हम जानते हैं कि सुखविन्दर न सिर्फ गलत कार्यदिशा पेश करने में बौद्धिक बेईमानी का परिचय देते हैं, बल्कि कई जगह वह सच में नहीं समझ पाते हैं कि जो उद्धरण उन्होंने पेश किया है, उसमें कहा क्या गया है। जल्द ही हम सुखविन्दर के एक अन्य व्याख्यान की लिखित आलोचना पेश करेंगे जो उन्होंने पंजाब के एक बुद्धिजीवी जगरूप की कुछ प्रस्थापनाओं पर दिया था। यह व्याख्यान सुनकर आप समझ जाएंगे कि जिस रुझान का नेतृत्व सुखविन्दर कर रहे हैं, उन्हें हमने अपढ़ "मार्क्सवादी" क्यों कहा था।

खैर, अभी देखते हैं कि सुखविन्दर ने स्तालिन को किस प्रकार संघवादी बनाया। सुखविन्दर जानबूझकर स्तालिन के 1917 के लेख 'संघवाद के विरुद्ध' में 1924 में उनके द्वारा लगाये गये एक फुटनोट के आधार पर ऐसा दिखलाने का प्रयास कर रहे हैं कि मानो मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धांत में संघवाद और केन्द्रीयतावाद को लेकर अवस्थिति बदल गयी हो। **जबकि उस फुटनोट में भी स्तालिन यही कह रहे हैं की यह एक संक्रमणकालीन नीति है और इसके लिए वही कारण गिना रहे हैं जो ऊपर लेनिन ने बताये थे।** सुखविन्दर एक संक्रमणकालीन दौर में अपनाई गयी नीति को मार्क्सवाद-लेनिनवाद में सैद्धांतिक बदलाव के रूप में प्रस्तुत करना चाह रहे हैं जबकि ऐसा कोई बदलाव सिद्धांत में किया ही नहीं गया था और न ही आज किया जा सकता है। आइये देखते हैं कि स्तालिन ने 1924 के फुटनोट में वास्तव में क्या कहा है:

> "इस प्रकार पार्टी ने **फेडरेशन के नकार से "विभिन्न राष्ट्रों की मेहनतकश अवाम की पूर्ण एकता के लिए एक संक्रमणशील रूप" के रूप में फेडरेशन की मान्यता की यात्रा** तय की, जिसे कि कोमिण्टर्न की दूसरी कांग्रेस ने मान्यता भी दी।
>
> "हमारी पार्टी के विचारों में इस उद्भव के तीन कारण बताये जा सकते हैं।
>
> "पहला, यह तथ्य कि अक्तूबर क्रान्ति के समय रूस की कई राष्ट्रीयताएं वास्तव में एक-दूसरे से *पूर्ण विलगाव व पूर्ण अलगाव* की स्थिति में थीं, और *इस दृष्टि से, फेडरेशन इन राष्ट्रीयताओं में मेहनतकश अवाम के विभाजन से उनके करीबी यूनियन, उनके मिश्रण की ओर एक अगला कदम था।*
>
> "दूसरा, यह तथ्य कि फेडरेशन के ***जिन रूपों को*** सोवियत विकास ने निर्दिष्ट किया, वे किसी भी रूप में रूस की राष्ट्रीयताओं के बीच करीबी आर्थिक एकता के साथ कोई अन्तरविरोध नहीं रखते थे, जैसा कि पहले लगता था, और इस लक्ष्य को काटते नहीं थे, जैसा कि व्यवहार में आगे प्रदर्शित हुआ।
>
> "तीसरा, यह तथ्य की राष्ट्रों के मिश्रण में राष्ट्रीय आन्दोलन पहले यानी युद्ध के पहले या अक्तूबर क्रान्ति से पहले के दौर में, *जितना हमें लगता था, उससे कहीं ज्यादा वजनदार कारक सिद्ध हुए और राष्ट्रों के मिश्रण की यह प्रक्रिया कहीं ज्यादा जटिल रूप में सामने आयी।*" (स्तालिन, **संघवाद के विरुद्ध**, *फुटनोट*, *ज़ोर हमारा*)

जैसा कि आप देख सकते हैं स्तालिन स्पष्ट तौर पर कह रहे हैं कि **कम्युनिस्टों के लिए हर सूरत में सकारात्मक प्रस्ताव यूनियन होता है, फेडरेशन नहीं, जिसे कि स्थितियों द्वारा उपस्थित सीमाओं के कारण एक संक्रमणशील कदम के तौर पर अपनाया जा सकता है**, यानी राष्ट्रों के पूर्ण विलगाव की तुलना में उपलब्ध एक बेहतर विकल्प, लेकिन यह मार्क्सवादियों का सिद्धान्त नहीं होता।

दूसरी बात, जो कि स्तालिन इस फुटनोट में कह रहे हैं वह यह है कि पूंजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत संघ की मांग करना और समाजवाद आने के बाद एक संक्रमणशील अवस्था के रूप में तमाम कौमों की आपसी सहमति से संघीय ढांचे का बनना, अलग चीजें हैं और सोवियत समाजवादी अनुभव ने दिखलाया है कि ऐसी

सूरत में संघ के कुछ विशिष्ट रूप पैदा हो सकते हैं जो निश्चित स्थितियों में समाजवाद के उसूलों के खिलाफ *नहीं भी* जा सकता है। आज भी सोवियत संघ के अध्येताओं में लगभग-लगभग इस बात को लेकर आम सहमति है कि 1930 के दशक से ही संघीयता का तत्व सोवियत संघ में लुप्तप्राय हो चुका था, हालांकि क्षेत्रीय स्वायत्ता तमाम क्षेत्रों को मिली हुई थी। **लेकिन हम सभी जानते हैं कि संघीयता और क्षेत्रीय स्वायत्तता एक चीज़ नहीं है, बल्कि क्षेत्रीय स्वायत्तता यूनियन के लेनिनवादी जनवादी केन्द्रीयता के सिद्धान्त का अविभाज्य अंग है। जो भी हो, इसका पूंजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत संघ की मांग उठाने से दूर-दूर तक कोई रिश्ता नहीं है, जैसा कि सुखविन्दर कर रहे हैं।** लेनिन ने पूंजीवाद के मातहत संघ की मांग को प्रतिक्रियावादी बताया था क्योंकि संघीय ढांचा पूंजीवादी विकास को अवरुद्ध करता है और विभिन्न कौमों के सर्वहारा वर्ग के बीच भी पार्थक्य पैदा करता है। यही कारण है कि संघीय ढांचा आम तौर पर सर्वहारा वर्ग के वर्ग संघर्ष को उन्नततर धरातलों पर विकसित करने के रास्ते में एक बड़ी बाधा है और इसी वजह से पूंजीवादी व्यवस्था के मातहत संघ की मांग सीधे-सीधे प्रतिक्रियावादी मांग है।

और तीसरा कारण स्पष्ट तौर पर स्तालिन की इस मान्यता को दिखला रहा है कि राष्ट्रीय आन्दोलनों और राष्ट्रवाद की जनता में पकड़ को पहले कम करके आंका गया था। यह राष्ट्रवादी भावना सोवियत संघ बनने के बाद भी लगातार समाजवादी नीतियों के साथ एक घर्षण पैदा करती रहती थी। इस रूप में कम्युनिस्टों के आकलन और इच्छा के विपरीत राष्ट्रवादी भावना वस्तुगत तौर पर अपेक्षा से अधिक उत्तरजीवी सिद्ध हुई। लेकिन स्तालिन के लिए यह इतिहास में अनिवार्यता के तत्व को निर्दिष्ट कर रहा था, न कि स्वतंत्रता या चयन के तत्व को। इसे मार्क्सवादी सिद्धान्त बना देना किसी बौद्धिक जोकर की ही करामात हो सकती है।

समाजवादी व्यवस्था के मातहत भी संघीय ढांचा कोई कम्युनिस्ट प्रस्ताव नहीं है। यदि किसी बहुराष्ट्रीय देश में समाजवादी क्रान्ति हो, तो वहां के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी अपनी तरफ से संघ बनाने का प्रस्ताव नहीं रखेंगे, बल्कि अपनी तरफ से **वे समेकित केन्द्रीकृत ढांचे वाली ऐसी राज्यसत्ता के निर्माण की वकालत करेंगे, जो कि जनवादी केन्द्रीयता पर आधारित हो; एक ऐसी व्यवस्था जिसमें कि शुद्धत: स्थानीय मसलों पर क्षेत्रीय स्वायत्तता, सभी कौमों व भाषाओं की बराबरी, और सुसंगत जनवाद के साथ एक केन्द्रीकृत राज्यसत्ता हो।** इसके बाद, ऐसा समाजवादी देश सभी कौमों की आपसी रज़ामन्दी से कौन-सा ढांचा अपनाता है, यह पूर्ण जनवादी तरीके से ही तय होगा। **ऐसे में, कम्युनिस्ट एक संक्रमणशील अवस्था के तौर पर संघीय ढांचे को स्वीकार कर सकते हैं, हालांकि वे अपना लक्ष्य लेनिन द्वारा बताये गये जनवादी केन्द्रीयता के ढांचे को ही रखते हैं और उसी के लिए काम करते हैं।** और साथ ही समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत संघीयता का स्वरूप भी वह नहीं होता, जो कि एक पूंजीवादी व्यवस्था के तहत होता है।

इसलिए 1924 में लिखे गये फुटनोट के अनुसार, स्तालिन संघवादी नहीं हो गये थे। अगर सुखविन्दर को ऐसा लगता है, तो उन्हें फुटनोट को और उस लेख को दोबारा पढ़ लेना चाहिए। **एक संक्रमणशील अवस्था को मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धान्त घोषित करके सुखविन्दर एक बार फिर से अपने ही द्वारा पेश सन्दर्भों व उद्धरणों को समझ पाने में अपनी अक्षमता का परिचय दे रहे हैं। यह वैसा ही कहना हुआ कि नेप** (New Economic Policy) **की नीति जो सोवियत संघ ने** 1921 **में एक छोटे दौर के लिए अपनाई थी, जिसमें कुछ समय के लिए निजी पूँजी और छोटे मालिकाने को कुछ छूटें दी गयी थीं, मार्क्सवादियों-लेनिनवादियों का और समाजवाद का कोई आम सिद्धांत है।**

यह सुखविन्दर भी जानते हैं; लेकिन संघवाद के प्रति अपनी आसक्ति (जो कि उनके भीतर कौमवाद के कीड़े के कारण ही पैदा हुई है) के कारण वह यह नया सिद्धांत-प्रतिपादन कर रहे हैं, जो सर्वथा मार्क्सवाद-लेनिनवाद के विरुद्ध है।

8. राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के अधिकार का प्रश्न और सुखविन्दर की इस विषय में स्पष्ट समझदारी का अभाव

ऐसा नहीं है कि सुखविन्दर उपरोक्त प्रश्न को अपने लेख में उठाते नहीं है, लेकिन वे इसका कोई सुस्पष्ट जवाब नहीं देते हैं। पूँजीवाद के तहत दमित राष्ट्रों के आत्मनिर्णय का अधिकार *मिलना* संभव है कि नहीं वह इस बात को दमित राष्ट्रों के इस अधिकार के संघर्ष *को उठाने से* गड्डमड्ड कर देते हैं। **इस प्रश्न पर अपनी सकारात्मक अवस्थिति वह एक बार भी नहीं रखते हैं, बस ढेरों उद्धरण देने लगते हैं; हालांकि इस लेख में उन्होंने हर सवाल पर यही रुख अपनाया है।**

जनाब, ये उद्धरण तो तमाम साथी मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन, स्तालिन व माओ की रचनाओं से पढ़ ही लेते, बस उन्हें प्रासंगिक रचनाओं का नाम बताने की आवश्यकता थी। **आपने छह महीने में उद्धरणों के कम्पाईलेशन का क्लर्की काम ही करना था? जहां तक अपनी कार्यदिशा प्रस्तुत करने, अपनी समझदारी प्रस्तुत करने का सवाल है, तो वहां आपका डिब्बा गोल है।** जबकि आपके लिए तो यह प्रश्न एकदम जीवंत-ज्वलंत है क्योंकि आपके अनुसार पंजाब में राष्ट्रीय प्रश्न का समाधान होना बाकी है! यही बात तो वह पूरे लेख में कहते रहे हैं, लेकिन लेख में इस प्रश्न पर एक साफ़ नजरिया बिलकुल अनुपस्थित है। एक स्थान पर वह इस प्रश्न का यह समाधान प्रस्तावित करते हैं-

> "आख़िर राष्ट्रीय प्रश्न का समाधान क्या है? इस प्रश्न का लेनिन यह जवाब देते हैं,
>
> "वर्ग सचेत मज़दूर बुर्जुआजी को उत्तर देगा--राष्ट्रीय समस्या (जिस हद तक यह आम तौर पर पूंजीवादी विश्व, यानी मुनाफे, झगड़े और शोषण की दुनिया में हल हो सकती है) का एक ही समाधान है, और वह है सुसंगत जनवाद।" " (सुखविन्दर, 'राष्ट्रीय प्रश्न और मार्क्सवाद', प्रतिबद्ध-33)

यह बात, यानी कि सुसंगत और पूर्ण जनवाद की बात तो *आम तौर पर* पूँजीवाद के भीतर एक देश के अन्दर सभी राष्ट्रों और अल्पसंख्यक राष्ट्रीयताओं की बराबरी पर लागू होती ही है, लेकिन जैसा कि हमने अन्यत्र भी कहा था, जहां तक *राष्ट्रीय दमन* का सवाल है, राष्ट्रीय प्रश्न के समाधान का केवल एक ही रास्ता है: राष्ट्रीय आत्मनिर्णय का अधिकार। और राषट्रीय आत्मनिर्णय के अधिकार का एक ही अर्थ है: राजनीतिक आत्मनिर्णय, यानी अलग होने का अधिकार। इस अधिकार पर अमल करते हुए यदि कई राष्ट्र मिलकर कोई संघ बनाना चाहें, यूनियन बनाना चाहें, राष्ट्रीय स्वायत्तता की व्यवस्था चाहें, यह उनकी मर्जी है। **कम्युनिस्टों का पहला काम है कि वे बिना किसी शर्त राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के अधिकार का समर्थन करें, चाहें वे उन राष्ट्रों को दमित मानते हों या नहीं। लेकिन दमित राष्ट्रों के कम्युनिस्ट तो खास तौर पर यही मांग उठाएंगे और न सिर्फ यह मांग उठाएंगे बल्कि उस राष्ट्र के अलग होने का समर्थन भी करेंगे। यहाँ एक बार पुनः स्पष्ट कर दें कि *अलग होने के अधिकार का समर्थन* करना और *अलग होने का समर्थन* करना दो अलग चीज़ें हैं।** हम अलग होने के अधिकार का समर्थन करते हुए, अलग होने के विरोध में जनता के बीच प्रचार कर सकते हैं। इन दोनों के बीच अंतर को हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं।

साथ ही, यदि किसी राष्ट्र के अलग होने का समर्थन करने से सर्वहारा वर्ग को नुकसान पहुंचाने वाले किसी साम्राज्यवादी युद्ध की सम्भावना न हो, बल्कि राष्ट्रीय मुक्ति युद्ध की सम्भावना हो, तो कम्युनिस्ट एक दमित कौम के अलग होने के न सिर्फ अधिकार का समर्थन करेंगे, बल्कि उसके अलग होने का भी समर्थन करेंगे।

इसलिए यदि पंजाब दमित राष्ट्र है, जोकि सुखविन्दर मानते हैं कि वह है, तो न सिर्फ उनको उसके आत्मनिर्णय के अधिकार का समर्थन करना चाहिए, बल्कि उन्हें उसके अलग होने का भी समर्थन करना चाहिए, क्योंकि आज राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय दोनों ही परिस्थितियों पर निगाह डालें, तो इससे सर्वहारा वर्ग का कोई नुकसान नहीं है और न ही इसके कारण कोई साम्राज्यवादी युद्ध ही छिड़ने वाला है। इसलिए जिस प्रश्न पर सबसे स्पष्ट सुसंगत दृष्टिकोण की ज़रुरत थी, उस पर सुखविन्दर ने सिवाय उद्धरणबाज़ी के, गोलमोल करने और लीपापोती करने के कुछ किया ही नहीं है।

फिर एक अन्य स्थान पर लेख में सुखविन्दर पूछते हैं, "क्या पूँजीवादी साम्राज्यवादी व्यवस्था के तहत राष्ट्रों का आत्मनिर्णय संभव है?" उसके बाद वह खुद ही यह जवाब देते हैं,

> "वर्ग अपचयनवादी मार्क्सवादी इसका नहीं में उत्तर देते हैं। उनका कहना है कि राष्ट्रीय प्रश्न तो समाजवाद में ही हल होंगे, इसलिए राष्ट्रीय दमन के विरुद्ध लड़ रहे राष्ट्रों को अपने संघर्ष रोक देने चाहिए। अब उन्हें राष्ट्रीय आज़ादी के लिए संघर्ष को त्यागकर 'शिक्षा, रोज़गार' जैसे आम मुद्दों पर संघर्ष करने चाहिए। भारत में वे दमित राष्ट्रों को यह डर भी दिखाते हैं कि दमनकारी हुकूमती फ़ौजी ताक़त उनके संघर्ष को सफल नहीं होने देंगे। उनका कहना है कि भारत में राष्ट्रीय दमन के विरुद्ध संघर्ष भारत की समाजवादी क्रान्ति को हानि पहुँचायेंगे।!!! *उन्होंने राष्ट्रवाद को सड़ी हुई लाश का नाम दिया है।* वे दमित राष्ट्रों के राष्ट्रीय दमन विरोधी संघर्षों में कोई प्रगतिशील अंश नहीं देखते।" (सुखविन्दर, 'राष्ट्रीय प्रश्न और मार्क्सवाद', प्रतिबद्ध-33, *ज़ोर हमारा*)

देखिये कि एक ही पैरा में इंसान कितने झूठ और मूर्खतापूर्ण बातें एक साथ ही बोल सकता है। पहली बात तो यह है कि सुखविन्दर को यह बताना चाहिए (सन्दर्भ और प्रमाण समेत) कि जिन वर्ग अपचयनवादियों की वह बात कर रहे हैं, उन्होंने दमित राष्ट्रों को अपना संघर्ष रोकने के लिए कहां कहा है? यदि कोई पंजाब को दमित राष्ट्र नहीं मानता तो वह आम तौर पर राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों का विरोधी कैसे हो गया? न तो हमने कश्मीर की अवाम को, न उत्तर-पूर्व की अवाम को, न फिलिस्तीन की अवाम को और न किसी और कौम को जोकि दमित है, कभी ऐसा कहा है। बल्कि हम उनके संघर्षों का पुरजोर समर्थन करते हैं और दमन के विरूद्ध उनके लड़ने के जज्बे का क्रान्तिकारी सम्मान करते हैं। अच्छा, अब समझे! आप पंजाब की बात कर रहे हैं? लेकिन अव्वलन तो ऐसा कोई संघर्ष वहाँ है नहीं और उससे भी ज्यादा ज़रूरी यह कि ऐसा कोई संघर्ष इसलिए नहीं है क्योंकि उसकी भौतिक ज़मीन ही मौजूद नहीं है। अब जो है ही नहीं, उसका समर्थन कैसे करें, लेखक महोदय? देखें लेनिन क्या लिखते हैं:

> **"(आत्मनिर्णय का) हमारा कार्यक्रम केवल उन मामलों पर लागू होता है, जहाँ (अलग होने के लिए) ऐसा एक आन्दोलन अस्तित्वमान है।"** (लेनिन, 'राष्ट्रों के आत्मनिर्णय का अधिकार')

दूसरी बात जिस व्यक्ति को 'राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों' और 'राष्ट्रवाद' के बीच लेनिन द्वारा बताया गया बुनियादी अन्तर भी नहीं पता है, क्या वह किसी भी रूप में किसी संगठन को राजनीतिक नेतृत्व दे सकता है? जी हां, महोदय। कम्युनिस्ट हर प्रकार के राष्ट्रवाद के विरोधी होते हैं और उसके बावजूद राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों का समर्थन करते हैं क्योंकि वे राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों को भी सर्वहारा राजनीतिक कार्यदिशा पर संगठित करने के

हामी होते हैं, न कि राष्ट्रवादी कार्यदिशा पर। राष्ट्रवाद एक बुर्जुआ विचारधारा है जिसके हर रूप में हम विरोध करते हैं, हालांकि हम किसी राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष में बुर्जुआ राष्ट्रवादी शक्तियों से भी विशिष्ट स्थितियों में रणकौशलात्मक मोर्चा बना सकते हैं। देखें लेनिन इसके बारे में क्या कहते हैं:

> "सारे उदार बुर्जुआ राष्ट्रवाद का--केवल महान रूसी राष्ट्रवाद का नहीं (यह सबसे बुरा है क्योंकि यह बेहद हिंस्र चरित्र का है और पुरेश्केविचों से संबंध रखता है) बल्कि पोलिश, यहूदी, यूक्रेनियन, जॉर्जियन और हर प्रकार के राष्ट्रवाद का ऐसा ही चरित्र होता है।" (लेनिन, **क्रिटिकल रिमार्क्स ऑ दि नेशनल क्वेश्चन**, **कलेक्टेड वर्क्स**, **खण्ड-20**, **अंग्रेजी संस्करण**, **पृ 21)**

आगे देखें लेनिन क्या कहते हैं:

> "बुर्जुआ राष्ट्रवाद और सर्वहारा अन्तरराष्ट्रीयतावाद--ये कभी न मिल सकने वाले दो शत्रुतापूर्ण नारे हैं जो समूची पूंजीवादी दुनिया में दो महान वर्ग शिविरों से जुड़े हुए हैं, और राष्ट्रीय प्रश्न पर दो नीतियों (नहीं, दो विश्व दृष्टिकोणों) को अभिव्यक्त करते हैं।" (वही, पृ. 26)

कोई सन्देह न रहे इसलिए लेनिन इसे बिल्कुल स्पष्ट कर देते हैं कि राष्ट्रवाद और मार्क्सवाद में कोई मेल नहीं हो सकता है, हालांकि मार्क्सवादी ही राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन को सबसे सुसंगत ढंग से मुकाम पर पहुंचा सकते हैं:

> "**मार्क्सवाद का राष्ट्रवाद से कोई मेल नहीं हो सकता है, चाहे वह राष्ट्रवाद "सबसे न्यायपूर्ण", "शुद्धतम", सबसे परिष्कृत और सभ्य किस्म का हो। हर रूप के राष्ट्रवाद की जगह मार्क्सवाद अन्तरराष्ट्रीयतावाद को, सभी राष्ट्रों के एक उच्चतर एकता में मिश्रण को आगे रखता है**, एक ऐसी एकता जो हमारी आंखों के सामने रेलवे लाइनों के हर मील के साथ बढ़ रही है जिनका निर्माण हो रहा है, हर अन्तरराष्ट्रीय ट्रस्ट और हर मज़दूर संगठन के साथ बढ़ रहा है जो निर्मित हो रहे हैं...
>
> "राष्ट्रीयता का सिद्धान्त बुर्जुआ समाज में ऐतिहासिक तौर पर अवश्यंभावी है और, इस समाज पर समुचित विचार करते हुए, **मार्क्सवादी लोग राष्ट्रीय आन्दोलन की ऐतिहासिक वैधता को पूरी तरह से मान्यता देते हैं। लेकिन इस मान्यता को राष्ट्रवाद के लिए एक क्षमा याचना बन जाने से रोकने के लिए, इसे इन आन्दोलनों में सख्ती से उन चीजों तक सीमित रखा जाना चाहिए जो कि प्रगतिशील हैं, ताकि इस मान्यता को सर्वहारा चेतना को कुन्द करने वाली बुर्जुआ विचारधारा (राष्ट्रवाद - लेखिका) की ओर न ले जाया जा सके।**" (वही, पृ 36)

इसी प्रकार इस प्रश्न पर माओ का दृष्टिकोण देखें:

> "इस प्रश्न को हल करने की कुंजी है हान अन्धराष्ट्रवाद को दूर करना। **साथ ही जहाँ कहीं अल्पसंख्यक राष्ट्रीयताओं में स्थानीय-राष्ट्रीय अन्धराष्ट्रवाद (local-nationality chauvinism) मौजूद हो, वहाँ उसे दूर करने के प्रयास भी किये जाने चाहिए। विभिन्न जातियों की एकता के लिए हान अन्धराष्ट्रवाद और स्थानीय-राष्ट्रीय अन्धराष्ट्रवाद, दोनों ही हानिकर होते हैं। यह जनता के बीच का एक अन्तरविरोध है जिसे हल किया जाना चाहिए।**" (माओ, **जनता के बीच के अन्तरविरोधों को सही ढंग से हल करने के बारे में**)

सर्वहारा राष्ट्रवाद जैसी कोई चीज़ नहीं होती और सर्वहारा वर्ग राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों में भी अपने अन्तरराष्ट्रीयतावाद के साथ हिस्सेदारी करता है और सम्भव हो तो नेतृत्व देता है। **जी हां, राष्ट्रवाद एक बुर्जुआ विचारधारा है, चाहे वह**

दमनकारी राष्ट्र के बुर्जुआ वर्ग की हो या दमित राष्ट्र के दमित बुर्जुआ वर्ग की। दमित राष्ट्र के बुर्जुआ वर्ग के राष्ट्रवादी आन्दोलन के साथ सर्वहारा वर्ग अपनी राजनीतिक स्वतंत्रता (यानी अपने अन्तरराष्ट्रीयतावाद को कायम रखते हुए) बरकरार रखते हुए साम्राज्यवाद के खिलाफ रणकौशलात्मक मोर्चा बना सकता है, लेकिन वह राष्ट्रवाद का समर्थन नहीं करता। **इसलिए जी हां, सर्वहारा दृष्टिकोण से राष्ट्रवाद एक सड़ी हुई लाश ही है, लेकिन राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन नहीं।**

लेकिन यह सब तो मार्क्सवाद-लेनिनवाद का 'क ख ग' है जिसे हम शुरुआती दौर में ही पढ़ते हैं। **जिस व्यक्ति को इतनी-सी बात नहीं पता है, यदि हम उसे अनपढ़ "मार्क्सवादी" कहते हैं, तो क्या ग़लत कहते हैं**? आखिरी बात यह कि स्वयं लेनिन व स्तालिन ने ही बताया था कि पूंजीवादी-साम्राज्यवादी युग में राष्ट्रीय प्रश्न का सुसंगत समाधान सम्भव ही नहीं है। पोलैण्ड के बारे में उनका मूल्यांकन था कि रूस, ऑस्ट्रिया व जर्मनी में समाजवादी क्रान्ति के बिना आम तौर पर उसका एक स्वतंत्र राज्य के रूप में पैदा होने की बहुत कम गुंजाइश है, लेकिन उन्होंने इसके आधार पर न तो राष्ट्र के आत्मनिर्णय के अधिकार को छोड़ने के बात की थी और न ही राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष को रोकने की। यह उनका ऐतिहासिक मूल्यांकन था, राजनीतिक कार्यक्रम नहीं। लेकिन जो व्यक्ति खुद न तो कोई राजनीतिक कार्यक्रम पेश करता हो, न ही ऐतिहासिक मूल्यांकन करने लायक उसकी मार्क्सवादी समझदारी हो, उससे इस अन्तर को समझने की उम्मीद करना बेकार है। आगे बढ़ते हैं।

सुखविन्दर के त्रॉत्स्कीपंथ के गड्डे में पतन के तौर पर हमने देखा था कि समाजवादी क्रांति तक तो वह खुद राष्ट्रीय प्रश्न के समाधान को स्थगित कर रहे हैं! अब इसे राजनीतिक आलोचना कहा जाय या राजनीतिक मसखरापन! हमने तो ऐसा कभी कहा ही नहीं है! हम पंजाब को यदि दमित राष्ट्र नहीं मानते तो इसका यह अर्थ कैसे हो गया कि हम राष्ट्रीय मुक्ति की लड़ाई को समाजवादी क्रान्ति तक स्थगित रखना चाहते हैं? और यह लाइन तो सुखविन्दर दे रहे हैं कि सीधे समाजवादी क्रान्ति के साथ ही वह राष्ट्रीय प्रश्न का समाधान करेंगे, जैसा कि हम ऊपर दिखला चुके हैं! और अब हम यह भी देख रहे हैं कि इस प्रश्न पर दो-टूक बात करने से वही लगातार आनाकानी कर रहे हैं, कोई स्पष्ट अवस्थिति अपनाने से भाग रहे हैं।

इसके बाद सुखविन्दर बताते हैं कि,

> "लेनिन ने कहा था कि पूँजीवादी समाज में पूरी तरह जनवादी गणराज्यों के अन्दर ही एक ख़ास हद तक राष्ट्रीय अमन संभव है, इसका संदर्भ हम पहले दे चुके हैं। पूँजीवाद के तहत भाषाओं की बराबरी और राष्ट्रीय अमन के उदाहरण के तौर पर लेनिन अपनी रचनाओं में बार-बार सविट्ज़रलैंड की उदाहरण देते हैं। जो मार्क्सवादी भारत में, ख़ासकर "मुख्य भूमि" भारत में राष्ट्रीय दमन को रद्द करते हैं, क्या वे भारत को "पूरी तरह जनवादी गणराज्य" मानते हैं? क्या भारत वह सविट्ज़रलैंड है, जिसकी लेनिन अपनी रचनाओं में चर्चा करते हैं? हम जानते हैं कि भारत जैसे औपनिवेशिक देश, जहाँ 1947 के बाद जुंकर मार्ग के ज़रिये सामन्ती संबंधों का पूँजीवादी संबंधों में रूपांतरण हुआ था, में जनवाद बेहद लंगड़ा-लूला है। ऐसे देश में राष्ट्रीय दमन से इन्कार नहीं किया जा सकता।" (सुखविन्दर, 'राष्ट्रीय प्रश्न और मार्क्सवाद', प्रतिबद्ध-33)

यहाँ पर भी सुखविन्दर बस हवा में तीर चला रहे हैं! सबसे पहली बात यह कि भारत एक जनवादी गणराज्य ही है, इससे कुछ तय नहीं होता है कि पूँजीवादी विकास यहाँ किस रास्ते से हुआ है और उसकी वजह से जनवाद कितना लंगड़ा-लूला है। ज़ाहिरा तौर पर किसी जनवादी क्रांति के अभाव में रुग्ण, बीमार क़िस्म का आधा-अधूरा जनवाद ही यहाँ स्थापित

हुआ, लेकिन इस प्रक्रिया से भी यहाँ जनवादी गणराज्य ही अस्तित्व में आया। और सभी जनवादी गणराज्यों की तरह ही इसमें भी जनवाद, विशेषकर मजदूर वर्ग के लिए, अति सीमित और संकुचित ही है। देखें लेनिन 'राज्य और क्रांति' में जनवादी गणराज्यों, स्विट्ज़रलैंड समेत (जिससे सुखविन्दर काफी अभिभूत मालूम होते हैं!) के बारे में क्या लिखते हैं:

> "हम पूंजीवाद के मातहत सर्वहारा वर्ग के लिए सर्वश्रेष्ठ राज्य रूप के तौर पर एक जनवादी गणराज्य का समर्थन करते हैं। लेकिन हमें यह भूलने का कोई अधिकार नहीं है कि **सबसे जनवादी बुर्जुआ गणराज्य में भी जनता की नियति में उजरती गुलामी ही होती है।**"

इसी रचना में एक अन्य स्थान पर लेनिन लिखते हैं-

> "संसदीय व्यवस्था से निस्तार का रास्ता बेशक प्रतिनिधिमूलक संस्थाओं और चुनाव के सिद्धान्त को खत्म कर देना नहीं बल्कि प्रतिनिधिमूलक संस्थाओं को गपबाज़ी के अड्डों से बदलकर "कार्यशील" संस्थाएं बना देना है। "कम्यून संसदीय नहीं, बलिक एक कार्यशील संगठन था जो कार्यकारी और विधिकारी दोनों कार्य साथ-साथ करता था।"
>
> "संसदीय नहीं बल्कि कार्यशील संगठन"--आज के संसदबाजों और सामाजिक-जनवाद के संसदीय पालतू कुत्तों के मुंह पर यह भरपूर तमाचा ! अमेरिका से लेकर स्विटजरलैंड तक, फ्रांस से इंग्लैण्ड, नॉर्वे, आदि तक चाहे किसी संसदीय देश को ले लीजिये--इन देशों में "राज्य" के असली काम की तामील पर्दे की ओट में की जाती है, और उसे महकमे, दफ्तर, और फौजी सदर-मुकाम करते हैं। संसद को "आम जनता" को बेवकूफ बनाने के विशेष उद्देश्य से बकवास करने के लिए छोड़ दिया जाता है।"

यह है सभी पूंजीवादी जनवादी गणराज्यों की हकीक़त।

लेनिन राष्ट्रीय अमन के मसले पर स्विट्ज़रलैंड को छोड़कर और किसी अन्य देश का नाम नहीं लेते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि पूंजीवादी जनवादी गणराज्यों के अंतर्गत राष्ट्रों की बराबरी एक मिथक ही रहती है, विशेषकर साम्राज्यवाद के दौर में जब दमनकारी राष्ट्रों के बुर्जुआ वर्ग के चरित्र का और ह्रास हो चुका होता है। इसलिए लेनिन एक अपवाद के तौर पर स्विट्ज़रलैंड का उदाहरण देते हैं और कहते हैं कि हमारा अप्रोच इस अपवाद से तय होना चाहिए। **बिल्कुल भारत स्विटजरलैण्ड नहीं है, लेकिन लेनिन के काल का जर्मनी, फ्रांस, इंग्लैण्ड, या अमेरिका भी स्विट्ज़रलैण्ड नहीं थे, तो क्या लेनिन का यह मानना था कि वे बुर्जुआ जनवादी गणराज्य नहीं थे**? इसे कहते हैं बुर्जुआ जनवादी गणराज्य के बारे में सबसे घटिया किस्म के बुर्जुआ विभ्रमों को पालना। और सुखविन्दर इस काम को बखूबी अंजाम देते हैं।

यह नहीं भूलना चाहिए कि बुर्जुआ जनवाद अपवादों को छोड़कर अधिक या कम मात्रा में अपूर्ण ही होता है। बुर्जुआ जनवाद के बारे में यह विभ्रम रखना कि वह वास्तविक अर्थों में सुसंगत जनवाद हो सकता है, एक बुर्जुआ जनवादी विभ्रम है, जैसा कि लेनिन ने बार-बार बताया था। दूसरी बात, आज भारत में फासीवादी शक्तियां सत्ता में हैं। उनके सत्ता में आने के साथ बुर्जुआ जनवादी अधिकार जिस हद तक भारत की आम मेहनतकश जनता को मिलते थे, वे भी बस कागज़ी ही रह गये हैं। लेकिन औपचारिक तौर पर बुर्जुआ जनवाद का खात्मा नहीं हुआ है। साथ ही, 21वीं सदी के फासीवादी उभार की विशिष्टता ही यही है कि संसदीय जनवाद को औपचारिक तौर पर हटाये बिना, फासीवाद अपने बुनियादी मकसद को मूलत: और मुख्यत: पूरा करता है। इस प्रक्रिया के अपने अन्तरविरोध होते हैं, जिसके विस्तार में हम यहां नहीं जा सकते हैं।

लेकिन जिस हद तक भी बुर्जुआ जनवादी अधिकार मौजूद होते हैं, उनके आधार पर सर्वहारा वर्ग अपने वर्ग संघर्ष को आगे बढ़ाता है, अधिक जनवादी अधिकारों के लिए संघर्ष करता है और समाजवादी क्रान्ति के संघर्ष को आगे बढ़ाता है। आज दिमित्रोव की थीसिस लागू नहीं हो सकती, जिसके अनुसार फासीवाद की पूर्ण विजय और सर्वहारा वर्ग की पूर्ण पराजय के बाद तात्कालिक लक्ष्य सर्वहारा समाजवादी क्रान्ति नहीं बल्कि बुर्जुआ जनवाद को पुनर्स्थापित करना है, जिसके लिए बुर्जुआ जनवादी शक्तियों से मोर्चा बनाना होगा। जिस हद तक भी बुर्जुआ जनवादी ताकतें आज मौजूद हैं, वे *एक वर्ग के तौर पर* फासीवाद-विरोधी संघर्ष में कोई केन्द्रीय भूमिका निभा पाने में अक्षम हैं। साथ ही सर्वहारा वर्ग के आन्दोलन का ध्वंस नहीं हुआ है, बल्कि सर्वहारा वर्ग का कोई आन्दोलन अभी है ही नहीं जिसका ध्वंस किया जा सके। बीसवीं सदी के नात्सी और फासीवादी उभार से स्थितियां गुणात्मक रूप से भिन्न हैं और इसलिए फासीवाद-विरोधी रणनीति का क्षितिज 'पॉप्युलर फ्रण्ट' की दिमित्रोव थीसिस नहीं हो सकती है, जिसके बारे में दिमित्रोव ने ही चेताया था कि यह फासीवाद-विरोध की कोई आम सार्वभौमिक रणनीति नहीं है। **बहरहाल, हम यहां इस चर्चा के विस्तार में नहीं जा सकते हैं, लेकिन इतना स्पष्ट है कि सुखविन्दर के साफ तौर पर बुर्जुआ जनवादी विभ्रम हैं: जनवाद हो तो स्विट्जरलैण्ड जैसा हो वरना मैं उसे जनवाद ही नहीं मानूंगा। यह तो वही बात हो गयी कि 'मूंछें हों तो नत्थूलाल जैसी हों, वरना न हों!' ऐसा मूर्खतापूर्ण तर्क भारत में नरोदवादी देते रहे हैं और सुखविन्दर भी ऐसे ही तर्क दे रहे हैं।**

बाकी तो सुखविन्दर तमाम बातें कह रहे हैं, जिनका आपस में ही अन्तरविरोध है, या उनको मिला दिया जाय तो उनका कोई अर्थ ही नहीं निकलता है। उनके दिमाग़ में काफी गड्ड-मड्ड हो गया है और यही वजह है कि वह 107 पेज में से 85 पेज में ऐसे उद्धरणों का ढेर लगाए बैठे हैं, जिन्हें वह खुद ही समझ नहीं पाते! जब आप अपने कौमवादी कट्टरपंथी भटकावों को मार्क्सवाद-लेनिनवाद के चोगे में पेश करने का करतब करने का प्रयास करते हैं, तो आप इसी प्रकार के अस्त-व्यस्त कूड़ेदान में जाकर गिरते हैं।

हमने ऊपर बताया था कि सुखविन्दर तथ्यों, इतिहास और सामान्य जानकारियों से भी अनभिज्ञ हैं। टुकड़ों-टुकड़ों में हमने इसकी कुछ मिसालें ऊपर दी हैं। लेकिन पाठक यह समझ पाएं कि इन महोदय को हमने अपढ़ "मार्क्सवादी" क्यों कहा था, इसके लिए यह देखना ज़रूरी है कि हमारे लेखक महोदय की आम ऐतिहासिक जानकारी व समझदारी भी कितनी दयनीय स्थिति में है।

9. हमने कौमवादी विचलनकारियों को अपढ़ "मार्क्सवादी" क्यों कहा था? कुछ मिसालें

अब निम्न मिसालों पर ग़ौर करें और खुद सोचें कि हमें इन कौमवादी विचलनकारियों को क्या नाम देना चाहिए था!

सुखविन्दर लेख के शुरुआत में ही बोलते हैं कि भारत "सैंकड़ों राष्ट्रीयताओं का घर है"। **ये सैंकड़ों राष्ट्रीयताएं कौन सी हैं, सुखविन्दर इसके बारे में कुछ नहीं बताते।** साथ ही, वह पूरे लेख में यह भी स्पष्ट नहीं करते हैं कि राष्ट्र और राष्ट्रीयताओं में कोई फर्क है या नहीं। सुखविन्दर के अनुसार ही इन सभी राष्ट्रीयताओं के सम्बन्ध में भी राष्ट्रीय प्रश्न असमाधित है। तो फिर इसका समाधान क्या है? क्या इन सैंकड़ों राष्ट्रीयताओं द्वारा सैंकड़ों राष्ट्र-राज्य बनाए जायेंगे क्योंकि आत्मनिर्णय के अधिकार के अनुसार तो अलग राष्ट्र-राज्य की मांग ही सही राजनीतिक मांग बनती है। जिन अल्पसंख्यक राष्ट्रीयताओं की कोई क्षेत्रीयता (territoriality) ही नहीं है, उनका क्या होगा? चूँकि सुखविन्दर राष्ट्र और

अल्पसंख्यक राष्ट्रीयताओं में कोई फर्क ही नहीं करते हैं, जैसा कि मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धांत में मौजूद है, इसलिए वह इस तरह के गड़बड़झाले में फँस जाते हैं। *लेकिन यदि सभी राष्ट्रों व सभी अल्पसंख्यक राष्ट्रीयताओं को भी मिला दिया जाय, तो भारत किसी भी तरीके से "सैंकड़ों" राष्ट्रों व राष्ट्रीयताओं का घर नहीं है।*

सुखविन्दर का भारतीय संविधान के प्रति बुर्जुआ जनवादी विभ्रम भी स्पष्ट तौर पर लेख के शुरू में ही नजर आ जाता है जब वह कहते हैं कि "संविधान में भारत को संघीय ढाँचा माना गया है लेकिन भारतीय शासकों का जोर हमेशा ऐकिक ढांचे की ओर रहता है"। वैसे तो खुद को क्रांतिकारी कम्युनिस्ट कहने वाले इस क़िस्म का लिबरल बुर्जुआ-जनवादी और सामजिक-जनवादी तर्क दे भी सकते हैं, यह सोचकर ही ताज्जुब होता है! **दूसरी बात, सुखविन्दर को किसने बता दिया कि संविधान भारत को संघीय देश मानता है**? **भारतीय संविधान अपने जन्म से ही *क्वासी-फ़ेडरल* *(quasi-federal)* यानी अर्द्ध-संघीय ढाँचे का हिमायती रहा है जिसका हमेशा से झुकाव केन्द्रीयता की तरफ रहा है।** जिस किसी ने भी संविधान निर्माण की प्रक्रिया का इतिहास पढ़ा होगा वह यह जानता है कि आज़ादी के तुरंत बाद भारत का नया शासक वर्ग एक सुदृढ़ केंद्रीकृत राज्यसत्ता ही चाहता था जिसका प्रतिबिम्बन संविधान और संविधान सभा की बहसों में स्पष्ट तौर पर मिलता है। इसलिए संविधान का अनुच्छेद 1 भारत को **राज्यों का संघ (union of states) कहता है न कि राज्यों का परिसंघ (federation of states)** क़रार देता है। इसलिए अगर आज फासीवादी मोदी सरकार या फिर इससे पहले की अन्य केंद्र सरकारें राज्यों के कार्यक्षेत्र में हस्तक्षेप करती रही हैं तो वह सर्वथा संविधान-सम्मत है क्योंकि भारतीय संविधान में केंद्र को यह भूमिका दी गयी है। साथ ही, केंद्र को आपातकाल की स्थिति के वक़्त तमाम विशेषाधिकार भी संविधान द्वारा प्राप्त हैं। असल में, सुखविन्दर पूरे लेख में ही संघवाद को लेकर काफी उत्साहित दिखते हैं और भारतीय केन्द्रीय शासकों द्वारा इसके खंडन को वह पंजाब समेत "मुख्यभूमि भारत" में राष्ट्रीय दमन का द्योतक भी मानते हैं। यही वजह है कि उन्होंने स्तालिन को भी संघवादी घोषित कर दिया था जैसा कि हमने ऊपर देखा। और साथ ही हमने यह भी देखा था कि पूँजीवाद के अंतर्गत संघवाद की मांग किस प्रकार एक प्रतिक्रियावादी मांग है जिसे सुखविन्दर अपने कौमवादी कीड़े के चलते उठाने से बाज़ नहीं आते। स्तालिन के 28 मार्च, 1917 के लेख 'संघवाद के विरुद्ध' के जिस फुटनोट का हवाला सुखविन्दर द्वारा दिया गया था यह साबित करने के लिए कि बोल्शेविक पार्टी की अवस्थिति संघीय ढांचे को लेकर बदल गयी थी, वह 1924 में लिखा गया गया है, जैसा कि 1920 में जैसा सुखविन्दर ने दावा किया है और उसमें स्तालिन ने ऐसा कुछ कहा भी नहीं है, जैसा कि हमने ऊपर दिखलाया है। यह तथ्य यह भी दिखलाता है कि इन महोदय में सीधी-सीधी बातों को भी पढ़कर समझने की क्षमता का घोर अभाव है।

सुखविन्दर डोगरी भाषा को पंजाबी की उपभाषा करार देते हैं, जिसका उल्लेख हमने ऊपर भी किया है। लेकिन वह यह बताना ज़रूरी नहीं समझते हैं कि उनकी इस धारणा का आधार क्या है? वह इसके समर्थन में एक तथ्य तक नहीं दे पाते हैं। यह दिखलाता है कि भाषा-उपभाषा-बोली के प्रश्न पर भी वह सैद्धांतिक और तथ्यात्मक सटीकता से ज्यादा अपनी कल्पना की हवाई-उड़ानों पर तवज्जो देते हैं। हिंदी भाषा को लेकर भी उन्होंने जो दावे ठोके हैं वे भी बेबुनियाद ही हैं। तथ्यों से सुखविन्दर की कोई नाराज़गी तो लगती है।

सुखविन्दर बिना किसी विश्लेषण के बताते हैं कि पंजाबी की 29 उप-भाषाएँ हैं। और उतने ही अविश्लेषणात्मक ढंग से यह भी बताते हैं कि "दिल्ली के शासकों" द्वारा तमाम भाषाओं को हिंदी की बोलियाँ करार देकर "मौत की सज़ा सुना दी गयी है"। जबकि वास्तविकता यह है कि भारत सरकार की जनगणना द्वारा तमाम ऐसी बोलियों को पंजाबी की उप-भाषा या बोली घोषित कर दिया गया है जो की असल में पंजाबी की बोलियाँ हैं ही नहीं, जैसे कि बागड़ी (जिसे भाषाशास्त्रियों द्वारा हरियाणवी, राजस्थानी और पंजाबी की सेतु बोली माना जाता है और जिसकी शाब्दिक/कोष-विषयक (lexical) निकटता सर्वाधिक हरियाणवी से है), बिलासपुरी या कहलुरी (जो पश्चिमी पहाड़ी भाषा परिवार से है), भटियाली (जो

कांगड़ी और डोगरी के समीप है) आदि। **लेकिन इस मामले में सुखविन्दर को "दिल्ली के शासकों" से कोई शिकायत नहीं है; यहाँ वह भारतीय शासकों की ऑर्केस्ट्रा पार्टी में शामिल होकर "सुर में सुर मिलाने" का काम लगन के साथ कर रहे हैं! साथ ही, पाकिस्तान के कब्जे वाले कश्मीर में पंजाबी थोपने का काम वहाँ कश्मीरी बोलने वाली छोटी सी आबादी पर किया जाता रहा है, सुखविन्दर इस पर भी एक लफ़्ज़ खर्च करना ज़रूरी नहीं समझते। उन्हें एक सच्चे पंजाबी बुण्डवादी की तरह तभी तकलीफ होती है जब कि पंजाबी भाषा के साथ अन्याय होता है। वैसे तो उन्हें बोलना इस पर भी चाहिए कि हिन्दीभाषी क्षेत्रों में ही अंग्रेजी को स्कूलों में थोपा जा रहा है।** लेकिन इस पर भी वह चुप ही रहते हैं। इसी को हमने सुखविन्दर का पंजाबी विस्तारवादी कट्टरपंथी बुण्डवादी नज़रिया कहा था। अब प्रवृत्तियों को नाम तो देना ही पड़ता है, हालांकि यह सुखविन्दर को "ठप्पेबाज़ी" लगता है!

सुखविन्दर ऑस्ट्रिया-हंगरी से लेकर चेक गणराज्य तक के अलग-अलग राष्ट्र-राज्यों में बनने की प्रक्रिया को वहाँ के राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष की देन समझते हैं, जबकि यूरोपीय इतिहास का कोई भी विद्यार्थी यह बता देगा कि ये राष्ट्र-राज्य किसी कौमी आज़ादी की लड़ाई का परिणाम नहीं थे बल्कि अलग-अलग दौरों में अंतरराष्ट्रीय साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा और समीकरणों के नतीजे थे। हमने इनकी चर्चा विस्तारपूर्वक ऊपर की है। लेकिन इतना तय है कि इतिहास के मामले में भी सुखविन्दर का डिब्बा गोल है!

सुखविन्दर अपने लेख में बार-बार इस बात का ज़िक्र करते हैं कि आज भी पूरी दुनिया में राष्ट्रीय मुक्ति के लिए आवाजें उठ रही हैं, कैटालोनिया से लेकर स्कॉटलैंड और बेल्जियम में फ्लेमिश तक में यह संघर्ष तेज़ हो रहे हैं। लेकिन एक बार भी सुखविन्दर इन तमाम "राष्ट्रीय संघर्षों" की कोई आलोचनात्मक विवेचना प्रस्तुत करना ज़रूरी नहीं समझते मानो मार्क्सवादियों के लिए हर राष्ट्रीय संघर्ष जश्न मनाने की चीज़ हो! इन तमाम जगहों पर किन वर्ग शक्तियों द्वारा ये मांगें उठाई जा रही हैं, क्या मार्क्सवादी-लेनिनवादी नज़रिये से इन जगहों पर राष्ट्रीय दमन वाकई में मौजूद है या नहीं, इन सब पर कोई भी बात किये बिना, सुखविन्दर नए राष्ट्र-राज्यों के बनाए जाने के मांग उठने के जश्न में शरीक होकर नाचने ही लग जाते हैं! **इन राष्ट्रों के अलग होने के अधिकार का समर्थन करना और हर सूरत में उनके अलग होने का समर्थन करना दो सर्वथा अलग चीज़ें हैं, लेकिन यह बुनियादी मार्क्सवादी-लेनिनवादी शिक्षा सुखविन्दर समझ ही नहीं पाते हैं।** लेकिन इसमें ताज्जुब की कोई बात नहीं। भारत में "असमाधित राष्ट्रीय प्रश्न" पर सुखविन्दर ने जो समझदरी दिखलाई है, उससे स्पष्ट ही है कि उनका कौमवादी नज़रिया उनसे ऐसे कारनामे ही करवा सकता है।

उन्नीसवीं शताब्दी में जर्मनी के एकीकरण के ऐतिहासिक सन्दर्भ के विषय में भी सुखविन्दर पूरी तरह से अनभिज्ञ हैं। इसकी चर्चा हमने तफसील से ऊपर की है। किस तरह मार्क्स और एंगेल्स जर्मनी के एकीकरण को यूरोप में सामान्य जनवादी प्रक्रिया के साथ जोड़कर देखते थे और किस तरह जर्मनी का एकीकरण पूरे यूरोपीय महाद्वीप में पूंजीवादी और जनवादी विकास के साथ नाभिनालबद्ध था, और किस प्रकार से यह यूरोप में प्रतिक्रिया की शक्तियों के विपरीत एक अनिवार्यता था, सुखविन्दर इस पूरे ऐतिहासिक क्रम से ही अनजान मालूम पड़ते हैं। उन्हें तो हर ऐतिहासिक घटना के पीछे के कारक हर-हमेशा 'कौमी जज़्बात' ही नजर आते हैं। यही कारण हैं कि वह वर्ग विश्लेषण करना एकदम भूल ही गए हैं!

सुखविन्दर राष्ट्रीय दमन के विरुद्ध **राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष और राष्ट्रवाद में फर्क नहीं कर पाते हैं।** राष्ट्रवाद चाहे दमनकारी राष्ट्र का हो या फिर दमित राष्ट्र का, मार्क्सवादी-लेनिनवादी इसका विरोध ही करते हैं। **सुखविन्दर अपने लेख में यह दिखाने की कोशिश में लगे हुए हैं कि दमित राष्ट्र का राष्ट्रवाद प्रगतिशील होता है। यही कारण है कि इस राष्ट्रवाद के प्रति सुखविन्दर का दृष्टिकोण बिलकुल अनालोचनात्मक है और इसलिए वह इस निष्कर्ष पर**

पहुँचते हैं कि "मार्क्सवादियों को दमनकारी राष्ट्र और मज़लूम राष्ट्र के राष्ट्रवाद में फर्क" करना चाहिए। यह इसलिए भी है क्योंकि सुखविन्दर अपने पंजाबी कौमवाद के प्रति रियायत चाहते हैं। लेनिन ने स्पष्ट तौर पर कहा था कि मार्क्सवादियों के लिए राष्ट्रीय आन्दोलनों को मान्यता और समर्थन देने का मतलब यह नहीं है कि यह किसी भी तरह के राष्ट्रवाद के लिए पक्ष-पोषण (apologia) बन जाए, जैसा कि हम ऊपर दिखला चुके हैं। साथ ही लेनिन यह भी कहते हैं कि मार्क्सवादी दमन के विरुद्ध दमित राष्ट्रों के बुर्जुआ राष्ट्रवाद में जो सामान्य जनवादी अंतर्वस्तु होती है, उस अंतर्वस्तु को अपना समर्थन देते हैं, न कि उनके राष्ट्रवाद से निकलने वाले किसी विशेषाधिकार को। **सुखविन्दर को विचारधारात्मक व राजनीतिक स्तर और रणकौशलात्मक स्तर के अमूर्तनों/सामान्यीकरणों में कोई अन्तर नहीं समझ में आता है और राष्ट्रीय मुक्ति युद्धों के समर्थन के अंग के तौर पर बुर्जुआ वर्ग के राष्ट्रवाद के बाशर्त रणकौशलात्मक समर्थन को वह दमित राष्ट्रों के राष्ट्रवाद के समर्थन में तब्दील कर देते हैं।** लेकिन इतनी बुनियादी बात भी सुखविन्दर की समझ से बाहर है। यह भोण्डा और नंगा कौमवाद नहीं है तो और क्या है? साथ ही यह राजनीतिक अनपढ़पन नहीं है तो और क्या है?

पूंजीवादी जनवादी गणराज्यों के बारे में भी सुखविन्दर अपनी गलत और अनैतिहासिक समझदारी दिखला देते हैं जब वह भारत की तुलना स्विट्ज़रलैंड से करते हुए बेहद बचकाने ढंग से पूछते हैं कि "क्या भारत वह स्विट्ज़रलैंड है जिसकी लेनिन अपनी रचनाओं में चर्चा करते हैं?" हमने ऊपर भी बताया कि यह तर्क न सिर्फ भयंकर बुर्जुआ जनवादी विभ्रमों का शिकार है बल्कि तमाम देशों के ऐतिहासिक विकास-क्रम को भी समझने में अक्षम है।

सुखविन्दर एक जगह लिखते हैं कि बोल्शेविक पार्टी ने अपने कार्यक्रम में राष्ट्रों के आत्म-निर्णय संबधी मांग को 1903 में ही शामिल कर लिया था जब कि राष्ट्रीय मुक्ति के लिए कोई आन्दोलन उस तरह से रूसी सल्तनत के दमित राष्ट्रों में उस वक़्त नहीं चल रहा था और अभी रूस में राष्ट्रीय प्रश्न कोई जीवंत प्रश्न नहीं था। फिर वह लिखते हैं कि

> "आज मुख्यभूमि भारत (कश्मीर और उत्तर-पूर्व को छोड़कर) में भी कोई गंभीर राष्ट्रीय आबादी के आन्दोलन का वजूद नहीं है, इसका अर्थ यह नहीं कि हमारे पास राष्ट्रीय प्रश्न की समझ, कोई प्रोग्राम न हो जैसा कि कुछ वर्ग अपचयनवादी मार्क्सवादी दावा करते हैं।" (सुखविन्दर, 'राष्ट्रीय प्रश्न और मार्क्सवाद', प्रतिबद्ध-33)

इसके लिए सुखविन्दर स्तालिन का एक उद्धरण भी देते हैं जिसमें स्तालिन वास्तव में यह कह रहे हैं कि रूसी मार्क्सवादियों ने अपने कार्यक्रम में राष्ट्रीय प्रश्न से जुड़ी हुई मांग इसलिए रखी क्योंकि उनका कार्यक्रम केवल उस पर आधारित नहीं था जो वर्तमान में मौजूद है, बल्कि उसपर आधारित था *जो विकसित हो रहा था* और जो अंतरराष्ट्रीय संघर्षों की आम प्रणाली बनने वाला था। दूसरे शब्दों में कहें तो, राष्ट्रीय प्रश्न एक वास्तविकता थी जिसका राष्ट्रीय आन्दोलन की अनुपस्थिति के बिना भी अस्तित्व था। हम देख सकते हैं कि सुखविन्दर एक बार फिर तथ्यों को सर के बल खड़ा कर रहे हैं और स्तालिन से प्राधिकार लेने की ज़िद कर रहे हैं, जबकि स्तालिन ऐसा कुछ कह ही नहीं रहे हैं। आन्दोलन के होने या नहीं होने से राष्ट्रीय दमन या राष्ट्रीय प्रश्न के अस्तित्व का कोई लेना-देना ही नहीं हैं। आज "मुख्यभूमि भारत" में कोई राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन इसलिए नहीं है क्योंकि वहाँ कोई राष्ट्रीय दमन और इसलिए राष्ट्रीय प्रश्न मौजूद नहीं है। जिन अलग-अलग राष्ट्रों से मिलकर "मुख्यभूमि भारत" बना है आज उनकी बुर्जुआज़ी का कोई भी हिस्सा दमित नहीं है, उन सबकी सत्ता में हिस्सेदारी है और वे इस सम्मिश्रित (composite) भारतीय शासक वर्ग का अंग बन चुके हैं। दूसरी बात, कौमी भावनाओं को हवा देकर कई बार कई आन्दोलन खड़े भी कर दिए जाते हैं, लेकिन वह अपने आप में राष्ट्रीय प्रश्न की मौजूदगी का कोई कारण नहीं होते हैं। मार्क्सवादी-लेनिनवादी-माओवादी किसी भी दमित राष्ट्र के सम्बन्ध में मौजूद राष्ट्रीय प्रश्न को आन्दोलन होने या नहीं होने से नहीं आंकते हैं। **दूसरी बात जो सुखविन्दर**

नहीं समझ पा रहे हैं, वह यह है कि सैद्धान्तिक तौर पर राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के अधिकार को हर कम्युनिस्ट पार्टी को अपने कार्यक्रम में शामिल करना चाहिए और रूस में कौमी दमन के मौजूद होने के साथ-साथ यह भी एक अहम वजह थी जिसके कारण 1903 में ही रूस की पार्टी के कार्यक्रम में इसे शामिल किया गया। भारत में की मुख्यभूमि में यदि कोई कौमी दमन न हो तो भी इस धारा को पार्टी कार्यक्रम का हिस्सा होना ही चाहिए क्योंकि भारत स्वयं कश्मीर और उत्तर-पूर्व के राज्यों में एक औपनिवेशक शक्ति है और दुनिया में भी तमाम ऐसे राष्ट्र व राष्ट्रीयताएं हैं, जिनका कौमी दमन हो रहा है। **हमारे ऊपर यह आरोप लगाना कि चूंकि हम पंजाब को दमित राष्ट्र नहीं मानते हैं और इसलिए हम राष्ट्रों के आत्मनिर्णय को कम्युनिस्ट कार्यक्रम का हिस्सा बनाने के खिलाफ हैं, महज सुखविन्दर द्वारा कुत्साप्रचार का एक सस्ता प्रयास है। हमने ऐसा कुछ कहीं भी नहीं कहा है। हमने यह जरूर कहा है और फिर से कहते हैं कि यदि पंजाब दमित राष्ट्र है ही नहीं और इसीलिए, जब वहां कोई कौमी आज़ादी का आन्दोलन है ही नहीं, तो वहां कौमी जज्बातों को जगाना कम्युनिस्टों का काम नहीं है।** इसका यह अर्थ कोई जड़मस्तिष्क ही निकाल सकता है कि हम राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के अधिकार को नकारते हैं। **यहां तक कि हम पंजाब के भी आत्मनिर्णय के अधिकार को अस्वीकार नहीं करते हैं; लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि कि *हम* पंजाब में कौमी जज्बात और अलगाववाद जगाएं या उसके अलग होने का प्रचार करें।** अलग होने के अधिकार का निरपेक्ष रूप से समर्थन करना और अलग होने का समर्थन करना दो बिल्कुल भिन्न चीजें हैं, और जैसा कि हम ऊपर दिखला चुके हैं, सुखविन्दर को इनके बीच का अन्तर ही नहीं पता है। इसीलिए वे इस प्रकार की बेतुकी बातें कर रहे हैं।

बहुराष्ट्रीय देश में सर्वहारा पार्टी के ढांचे पर बात करते हुए सुखविन्दर अन्तरविरोधी बात करते हैं। एक ओर तो वह कहते हैं कि पार्टी के संघीय सिद्धान्त का लेनिन ने विरोध किया था तो वहीं दूसरी ओर कहते हैं कि "एक बहुराष्ट्रीय देश में एकमात्र पार्टी की बोल्शेविक अवधारणा कोई निरपेक्ष नियम नहीं था।" **इसका क्या मतलब है**? दूसरी बात, रूस में पोलैण्ड व लिथुआनिया की सामाजिक-जनवादी पार्टी, लात्विया की सामाजिक-जनवादी पार्टी के अलावा बोल्शेविक पार्टी का एक केन्द्रीकृत ढांचा मौजूद था। पोलैण्ड, लिथुआनिया व लात्विया ऐतिहासिक तौर पर रूस का हिस्सा नहीं रहे थे। पोलैण्ड का एक हिस्सा रूसी साम्राज्य द्वारा अट्ठारहवीं सदी में अधिग्रहीत किया गया था जिसके अंग के तौर पर ही लिथुआनिया भी रूसी साम्राज्य में शामिल हुआ था क्योंकि वह 'कॉमनवेल्थ ऑफ पोलैण्ड एण्ड लिथुआनिया' का हिस्सा था। व लात्विया भी कभी भी ऐतिहासिक तौर पर रूस का अंग नहीं था, बल्कि अट्ठारहवीं सदी में रूसी साम्राज्य का अंग बना था और उसके बाद प्रथम विश्वयुद्ध के बाद अलग भी हो गया था। लिथुआनिया के साथ भी ऐसा ही हुआ था। लात्विया और लिथुआनिया सोवियत संघ में शामिल भी द्वितीय विश्वयुद्ध में जर्मनी की पराजय के बाद हुए थे। दूसरी बात यह है कि यहां पर सामाजिक-जनवादी आन्दोलन का इतिहास पूरी तरह से रूसी सामाजिक जनवादी आन्दोलन का व्युत्पन्न नहीं था। पोलैण्ड में इसकी स्वायत्त प्रकृति का एक कारण पोलैण्ड के दो अन्य हिस्सों का जर्मनी और ऑस्ट्रिया-हंगरी के कब्ज़े में होना भी था। इन तीन मामलों को छोड़कर बोल्शेविक पार्टी पूर्णत: केवल एक पार्टी के अस्तित्व के पक्ष में ही थी और ***यह नियम निरपेक्ष ही था***, जो बात सुखविन्दर नहीं समझ पाए हैं। इसके अलावा, कई गणराज्यों में कुछ और ग्रुप/पार्टी थे, जो कि बोल्शेविक पार्टी में शामिल नहीं हुए। लेकिन यह वस्तुगत घटना क्रम है, न कि बोल्शेविक पार्टी का सैद्धान्तिक प्रस्ताव। ऐसी ही एक पार्टी यूक्रेन में बनी थी जिसका नाम था यूक्रेनियन सोशल डेमोक्रैटिक लेबर पार्टी थी, जिसके बारे में लेनिन का यह कहना था कि यह पार्टी "निम्नतम कोटि के मूर्खतापूर्ण और प्रतिक्रियावादी राष्ट्रवाद की नुमाइन्दगी करते थे।" इसके अलावा, मेंशेविक संगठन भी थे। लेकिन इन विभिन्न संगठनों की मौजूदगी बोल्शेविक पार्टी का सांगठनिक सिद्धान्त नहीं था। यहां संगठन के प्रश्न पर भी सुखविन्दर का बुण्डवाद उनकी झोली से गिर गया है, हालांकि हम इस पर विस्तार से तब ही लिखेंगे जब उनकी इस प्रश्न पर लाइन खुलकर सामने आ जायेगी। लेकिन इतना

तय है कि लेनिन का यह कहना बिल्कुल दुरुस्त था कि जो राजनीतिक प्रश्नों पर बुण्डवादी अवस्थिति अपनाएगा, वह देर-सबेर संगठन के प्रश्नों पर भी बुण्डवादी अवस्थिति ही अपनाएगा।

सुखविन्दर बहुमुखी 'प्रतिभा' के धनी है। 'राष्ट्रीय प्रश्न और मार्क्सवाद' पर उनका लेख इसका सजीव उदाहरण है। उनकी इसी प्रकार की एक प्रतिभा गैर-मार्क्सवादियों को मार्क्सवादी बना देना है! **अपने उपरोक्त लेख में सुखविन्दर अंग्रेजी इतिहासकार ई.एच.कार को "प्रसिद्ध मार्क्सवादी इतिहासकार" घोषित कर देते हैं!** सुखविन्दर ने शायद सोचा होगा कि चूंकि कार ने बोल्शेविक क्रान्ति और सोवियत समाजवादी प्रयोग पर किताबें लिखी हैं, तो वह अनिवार्यतः मार्क्सवादी ही होंगे। इससे पता चलता है कि सुखविन्दर ने कार का इतिहास लेखन भी ढंग से नहीं पढ़ा है, अगर पढ़ा होता तो वह इस तरह की टिप्पणी करने से ज़रूर बचते। बस उन्होंने कार की पुस्तक 'बोल्शेविक क्रान्ति 1917-1923' के पहले भाग की अनुक्रमाणिका देखकर राष्ट्रीय प्रश्न और राष्ट्रीयताओं के सवाल से जुड़े हिस्से को 'कॉपी-पेस्ट' करके अपने लेख में चस्पां कर दिया है। **बताते चलें कि कार मार्क्सवादी इतिहासकार नहीं हैं, वह इतिहास लेखन की उस ब्रिटिश लिबरल परम्परा से आते हैं, जिसका स्पष्ट झुकाव अनुभववाद की तरफ है, हालांकि कार स्वयं कभी अपने आपको अनुभववादी नहीं मानते थे। वास्तव में वह सोवियत संघ और वामपंथ के प्रति हमदर्दी रखते थे। लेकिन विचारधारात्मक तौर पर वह मार्क्सवाद के खिलाफ थे। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद वे एक शान्तिवादी के तौर पर समाजवाद से सहानुभूति रखते थे और मानते थे कि यूरोप में समाजवाद युद्ध को रोकने के लिए जरूरी है। वह सोवियत संघ से अच्छे संबंधों की वकालत करते थे और एक वाम झुकाव रखने वाले इतिहासकारों के समूह से सम्पर्क रखते थे जिसमें हेरॉल्ड लास्की, एजेपी टेलर और आइज़क डॉइचर जैसे इतिहासकार शामिल थे। लेकिन विचारधारात्मक तौर पर वह कभी मार्क्सवादी नहीं बने। ई. एच. कार के विचारधारात्मक झुकाव को समझने के लिए उनकी पुस्तक 'इतिहास क्या है?' का अध्ययन करना चाहिए और साथ ही जोनाथन हस्लम द्वारा लिखी कार की जीवनी 'दि वाइसेस ऑफ इण्टेग्रिटी: ई.एच. कार' पढ़ सकते हैं।**

लेकिन सुखविन्दर को इन तथ्यों से कोई विशेष सरोकार नहीं है। जब वह स्तालिन व लेनिन को संघवादी, मार्क्स व एंगेल्स को राष्ट्रवादी बना सकते हैं, तो ई. एच. कार को "प्रसिद्ध मार्क्सवादी इतिहासकार" बनाना कौन-सी बड़ी बात है?

10. अन्त में...

जैसा कि पाठक देख सकते हैं, राष्ट्रीय प्रश्न और मार्क्सवाद पर मौलिक चिन्तन करने के नाम पर सुखविन्दर ने बुण्डवाद, राष्ट्रीय कट्टरतापंथ और त्रॉत्स्कीपंथ के पुराने भटकावों को ही ज्यादा भ्रमित और विकृत रूप में पेश किया है! साथ ही, उन्होंने हमारे द्वारा दिये गये अनपढ़ "मार्क्सवादी" के विशेषण को भी पूर्ण वैधीकरण प्रदान कर दिया है।

उनका यह लेख न सिर्फ सिद्धान्त के क्षेत्र में भयंकर अज्ञान को दिखलाता है, बल्कि इतिहास के क्षेत्र में भी उतने ही भयंकर अज्ञान को प्रदर्शित करता है। राष्ट्रवाद, बुण्डवाद और त्रॉत्स्कीपंथ का यह भ्रमित और अज्ञानतापूर्ण मिश्रण कम्युनिस्ट आन्दोलन के तमाम जेनुइन कार्यकर्ताओं को भी भ्रमित करता है और इसीलिए हमने विस्तार से इसकी आलोचना की आवश्यकता महसूस की। बहुत-से पहलुओं पर और भी विस्तार से लिखने की आवश्यकता है, जिसे हम पंजाब के राष्ट्रीय प्रश्न और भारत में राष्ट्रीय प्रश्न पर लिखते हुए उठाएंगे। साथ ही, इतिहास के भी कई मसलों पर हमने यहां उतनी ही बात रखी है, जितनी कि 'ललकार-प्रतिबद्ध' ग्रुप द्वारा पेश बुण्डवादी, राष्ट्रवादी व त्रॉत्स्कीपंथी कार्यदिशा के खण्डन के

लिए अनिवार्य थी। लेकिन राष्ट्रीय प्रश्न को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में समझने के लिए वे मुद्दे भी दिलचस्प हैं और उन पर भी हम भविष्य में लिखेंगे।

फिलहाल, हम 'ललकार-प्रतिबद्ध' ग्रुप द्वारा भारत में राष्ट्रीय प्रश्न व पंजाब के राष्ट्रीय प्रश्न पर निबन्धों का इन्तज़ार भी कर रहे हैं, जिसमें हम इस समूची कार्यदिशा के कार्यान्वयन के दिलचस्प नतीजों को देखना चाहते हैं। उन पर हम तभी विस्तार से अपनी बात रखेंगे।

हम उम्मीद करते हैं कि इस लिखित आदान-प्रदान के बाद, 'ललकार-प्रतिबद्ध' ग्रुप कार्यकर्ताओं की शिरकत तक सीमित किसी आन्तरिक गोष्ठी में रूबरू बहस या पूर्ण रूप से सार्वजनिक बहस के लिए भी हमारे प्रस्ताव को स्वीकार करेगा। क्योंकि सवाल यहां इरादों पर शक़ का नहीं है, बल्कि विचारधारात्मक-राजनीतिक भटकाव का है। ऐसी किसी भी बहस से सभी ईमानदार कार्यकर्ता साथियों को साफ-नज़र होने में मदद ही मिलेगी।